इकाई-1

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

संरचना

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 जीवन परिचय

1.4 प्लेटो की रचनाएँ

1.5 न्याय सिद्धान्त

प्रस्तावना

1.6 प्लेटो की न्याय की अवधारणा से अभिप्राय

1.7 न्याय संबंधी विभिन्न सिद्धान्त

1.7.1 न्याय का परम्परावादी सिद्धान्त

1.7.2 न्याय का उग्र सिद्धान्त

थ्रेसीमेकस के सिद्धान्त का खण्डन

1.7.3 न्याय का यथार्थवादी सिद्धान्त

1.7.3.1 कैलीक्लीज

1.7.3.2 ग्लौकोन

सिद्धान्त का खण्डन

1.8 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की व्याख्या

1.8.1 सामाजिक न्याय

1.8.2 व्यक्तिगत न्याय

1.9 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

1.9.1 नैतिक सिद्धान्त पर आधारित

1.9.2 न्याय आन्तरिक तथा समन्वयकारी तत्त्व है।

1.9.3 न्याय एवं आदर्श राज्य में घनिष्ठ संबंध

1.9.4 न्याय के सिद्धान्त में श्रम-विभाजन, अहस्तक्षेप व कार्य-विशिष्टीकरण के उपसिद्धान्त निहित है।

1.9.5 समष्टिवादी सिद्धान्त

1.9.6 दार्शनिक शासक वर्ग का प्रमुख स्थान

1.9.7 न्याय-सिद्धान्त के सहायक व अवितार्थ साधन

1.9.8 न्याय के दो प्रकार

1.9.9 राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

1.9.10 व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतन्त्रता में समन्वय

1.10 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचनाएँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.10.1 प्लेटो का न्याय, कानूनी नहीं
1.10.2 कर्त्तव्य की प्रधानता
1.10.3 निष्क्रिय तथा निश्चल
1.10.4 अत्यधिक एकीकरण की प्रवृत्ति
1.10.5 अत्यधिक पृथक्करण
1.10.6 सबको सुख नहीं
1.10.7 व्यक्ति राज्य के अधीन
1.10.8 अप्रजातान्त्रिक
1.10.9 प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त अनावश्यक
1.10.10 पारस्परिक अहस्तक्षेप
1.10.11 किसी निश्चित कार्य का आजीवन करते रहना गलत है
1.10.12 मानव प्रकृति विषम है
1.11 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का महत्त्व एवं सारांश
1.12 अभ्यास प्रश्नावली
1.13 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्लेटो के जीवन व तत्कालीन युनान की परिस्थितियों को जानते हुए प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को जानना है, जो मुख्यतया नैतिकता पर आधारित है, जो इस बात पर बल देता है कि मनुष्य यदि अपनी आत्मा के निहित गुण के अनुसार कार्य करता है तो समाज में न्याय की स्थापना की जा सकती है। इस अध्याय में आप निम्न विचारों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

- प्लेटो न्याय सिद्धान्त के माध्यम से आदर्श राज्य की स्थापना करना चाहता है,
- प्लेटो ने अपने न्याय संबंधी विचारों के प्रस्तुत करने से पूर्व उस समय प्रचलित न्याय सिद्धान्तों का खण्डन विभिन्न आधारों पर करता। उनके संबंध में भी विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे,
- न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन मानवीय आत्मा में निहित तीन गुणों के आधार पर किया है,
- इस अध्याय में प्लेटो के न्याय सिद्धानत को दोनों प्रकारों— सामाजिक न्याय व व्यक्तिगत न्याय के बारे में भी जानकारी मिलेगी।
- न्याय सिद्धान्त में प्लेटो श्रम विभाजन एवं कार्य विशिष्टीकरण पर विशेष बल देता है, उसे भी जान सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

ईसा पूर्व चौथी एवं पांचवी शताब्दी को न केवल प्राचीन यूनान के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है अपितु इस युग में जहां सिकन्दर जैसे महान् शासकों तथा पैरीक्लीज जैसे प्रजातान्त्रिक नेताओं का जन्म हुआ, वही दूसरी तरफ सुकरात, प्लेटो व अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकों का प्रादुभाव हुआ, जिन्होंने राजनीति को एक नवीन आधारप्रदान किया तथा उसके महत्त्व को प्रतिस्थापित करने का सफल प्रयास किया। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से उस समय यूनान 'राजनीति की प्रयोगशाला' था।

मानव-इतिहास के निर्माण में राजनीतिक विचारधारा का बहुत बड़ी भूमिका होती है। सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के पीछे राजनीतिक विचारकों का चिन्तक सक्रिय रहा है। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उठता है कि राजनीतिक चिन्तकों का इतिहास पूर्वी देशों के विचारकों से न होकर पश्चिमी देशों के विचारकों से ही क्यों होता है ?इसके संबंध में पश्चिम (यूनान) के विचारकों का मत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है कि राजनीतिक विचारधारा के लिए सम्पूर्ण विश्व उनका ऋणी है। लेकिन यह विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्राचीन भारतीय ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत व रामायण आदि में राजनीतिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है और राजनीतिक क्रिया कलापों को भी मानव विकास के महत्त्वपूर्ण सौपान के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन भारत सहित पूर्व के देशों में राजनीति धर्म के साथ विलीन हो गई और यूनानी विचारकों ने राजनीति को धर्मशास्त्र से पृथक कर स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर दिया।

पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों का इतिहास प्लेटो से ही प्रारम्भ होता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके पूर्व राजनीतिक चिन्तक हुए ही नहीं ?प्लेटो ही एक ऐसा राजनीतिक विचारक था जिसने पहली बार राजनीतिक दर्शन का तर्कसंगत रूप से प्रतिपादन किया। उसके विचारों की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उसका राजनीतिक चिन्तन मानव कल्याण का अमर अजर सन्देश लिए हुए है। उसका तर्क है कि ''राज्य व्यक्ति का विराट रूप है।'' प्लेटो के चिन्तन पर उसके गुरु सुकरात के दर्शन का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। सुकरात के विचारों को पूरा करने के लिए उसने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। इस संबंध मे **मैक्सी** ने लिखा है कि- ''सुकरात ने प्लेटो के रूप में फिर शरीर धारण किया प्लेटो ही सुकरात के साहित्य-दार्शनिक कार्यों को पूरा करने वाला था।''

प्लेटो के जीवन काल में यूनान नाजुक दौर से गुजर रहा था। उसने अपनी आंखों के सामने एथेन्स को स्पार्टा के समक्ष घुटने टेकते हुए देखा था तथा प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अकर्मण्य तथा अयोग्य शासकों के द्वारा उसके गुरु तथा उसकी नजर में विश्व के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को जहर पिलाते हुए देखा। इस घटना ने प्लेटो को झकझोर कर रख दिया और उसने यूनान के वैभव की पुनर्स्थापना करने तथा बुराईयों की दूर करने का निश्चय किया। इसके लिए उसने 'दार्शनिक राजा' के सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया और प्लेटो का सम्पूर्ण दर्शन इस सिद्धान्त के इर्द-गिर्द ही घूमता है।

1.3 प्लेटो का जीवन परिचय

प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक प्राचीन समृद्ध परिवारमें 427-428ई.पू. हुआ था। उनके पिता का नाम अरिस्तोन था। प्लेटो का वास्तविक नाम 'अरिस्तोक्लीज' था जो उनके शारीरिक शिक्षक द्वारा रखा गया था जिसका अर्थ होता है 'चौड़ा चपटा'।

प्लेटो सुकरात का सबसे प्रिय शिष्य था। जब प्लेटो के गुरु सुकरात को उसकी आंखों के सामने जहर दिया तब उसने आदर्श राज्य तथा दार्शनिक राजा का सिद्धान्त प्रतिपादित कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि केवल बुद्धिमान एवं दार्शनिक व्यक्ति को ही शासक बनना चाहिए। सुकरात की मृत्यु के 15 वर्ष बाद तक उसने अज्ञात जीवन बिताया। इस दौरान प्लेटो ने अपनी महान् कृति 'रिपब्लिक' की रचना की।

इसके पश्चात् प्लेटो ने अपनी कृति रिपब्लिक के विचारों को व्यवहारिक रूप से लागू करने का प्रयास किया। इसके लिए सर्वप्रथम वह सिसली गया और यहां की निरंकुश व्यवस्था से बहुत प्रभावित हुआ। प्लेटो ने सिसली के शासक को अपनी रिपब्लिक को समझाना प्रारम्भ किया, जिससे वहां का शासक बहुत प्रभावित हुआ लेकिन बाद में वहां का शासक उससे नाराज हो गया। तब प्लेटो को बंदी बनाकर स्पार्टा के राजदूत को बेच दिया जाता है। उसके मित्र उसे मुक्त करवाते हैं। इसके बाद एथेन्स में एथेन्स विद्या पीठ की स्थापना करता है जिसे विश्व का प्रथम विश्वविद्यालय कहा जाता है। इस प्रकार प्लेटो एक शिक्षक अपनी भूमिका का निर्वाह करने लगा। प्लेटो के जीवन का प्रमुख उद्देश्य मानवता का कल्याण तथा योग्य प्रशासकों को तैयार करना। प्लेटो 60 वर्ष की आयु में सिसली के राजा के पुनः आमन्त्रण पर वहां गया क्योंकि दार्शनिक राजा के सिद्धान्त को अपने जीवन में लागू होते हुए देखना चाहता था लेकिन उसे सफलता नहीं मिली है। तब उसने विवश होकर आदर्श राज्य के विचार को त्याग देना पड़ा। इस तरह वह कल्पना के पंख उतार कर यथार्थ की भूमि पर चलने को विवश हुआ। युवावस्था में आदर्श राज्य का सहारा लेने वाले प्लेटो को वृद्धावस्था में कानून का सहारा लेना पड़ा। प्लेटो ने अपने जीवन का अन्तिम समय लॉज को लिखने में व्यतीत किये। 81 वर्ष की अवस्था में प्लेटो की मृत्यु हो गयी।

1.4 प्लेटो की रचनाएँ

प्लेटो द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या 36 मानी जाती है। उनमें से प्रमुख ग्रंथ इस प्रकार है-

अपॉलॉजी, क्रोटो, यूथीफ्रो, प्रोटागोरस, रिपब्लिक, सोफिस्ट, स्टेसर्मेन, फेडो, मीनो, लॉज इत्यादि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.5 न्याय सिद्धान्त

न्याय सिद्धान्त दार्शनिक प्लेटो के राजनैतिक चिन्तक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के पीछे मूल उद्देश्य आदर्श राज्य की स्थापना करना था। इसका आभास इस तथ्य से होता है कि प्लेटो ने रिपब्लिक का वैकल्पिक नाम ही न्याय से संबंधित रखा। प्लेटो एक ऐसा आदर्श राज्य की बात करता है जिसमें सक्षम, स्थिर, व्यवस्थित और आत्म संयमी प्रशासन रहे अर्थात् पूर्वकालीन से नगर राज्यों की समस्या समाप्त हो। साथ ही प्लेटो अपने आदर्श राज्य को एक ऐसे न्याय सिद्धान्त पर आधारित करना चाहता था जो राज्य में एकता बनाये रखें, नागरिकों को घोर व्यक्तिवाद के प्रभाव से बचाएं, कार्य विशिष्टिकरण द्वारा अक्षमताओं को दूर करें तथा राज्य को स्थिरता प्रदान करें।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की उत्पत्ति अचानक नहीं हुई, बल्कि इसमें तत्कालीन परिस्थितियों तथा उनकी गहरी सोच का योगदान है। प्लेटो के अनुसार मानवीय आत्मा में तीन गुण पाये जाते हैं लेकिन इनमें से एक गुण की ही प्रधानता होती है। अत: व्यक्ति के गुण के अनुसार वर्ग तथा कार्य निर्धारित होना चाहिए, इसके अलावा एक वर्ग दूसरे वर्ग के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करें। जब व्यक्ति ऐसा करेगा तो उसमें विशिष्टिकरण की भावना को बल मिलेगा। यही भावना न्याय की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती है जो आदर्श राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करती है। प्लेटो के समय यूनान में न्याय के संबंध में अनेक अवधारणाएं प्रचलित थी जिन्हें वह स्वीकार नहीं करता था। **बार्कर** ने लिखा है कि ''चाहे वह सोफिस्ट वर्ग की धारणाओं का विरोध कर रहा हो या समाज की विद्यमान व्यवस्था में सुधार के लिए प्रयत्नशील हो न्याय प्लेटो के विचार का मूलाधार रहा है।'' **ईबन्स्टीन** के अनुसार ''प्लेटो के न्याय संबंधी विवेचना में उसके राजनीतिक दर्शन के समस्त तत्त्व शामिल है।'' **गैटेल** के अनुसार ''न्याय की धारणा प्लेटो के राजनीति दर्शन की पराकाष्ठा है।''

1.6 प्लेटो की न्याय की अवधारणा से अभिप्राय

प्लेटो के न्याय के सिद्धान्त को सही अर्थ में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम न्याय शब्द में निहित उसके अर्थ एवं आधुनिक युग में न्याय शब्द का सामान्यतया समझे जाने वाले अर्थ में अन्तर समझ ले। **एम. बी. फॉस्टर** के अनुसार ''न्याय शब्द ग्रीक शब्द डिकैयोसीन का अनुवाद है। इस शब्द का क्षेत्र अंग्रेजी के जस्टिस (Justice) न्याय शब्द से अधिक व्यापक है। हम 'न्याय' तथा अन्याय शब्द को मुख्यत: न्याय संबंधी या प्रबन्ध संबंधी कार्यों के सम्पादन में दृष्टिगोचर होन वाले गुण के रूप मे मानते हैं।'' लेकिन प्लेटो के लिए न्याय शब्द का लगभग वही अर्थ है जो हम नैतिकता शब्द से समझते हैं। यह वह अभिरूचि है जो मानव को अपनी इच्छा या तत्कालीन हित के अनुसार काम करने में इस विश्वास के अनुशासन से रोकती है कि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

वर्तमान काल में न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधी को दण्ड देना होता है। वहां प्लेटो के मतानुसार न्याय की अवधारणा को कानूनी अथवा वैधानिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसके सन्दर्भ में **बार्कर** ने लिखा है कि ''प्लेटो का न्याय एक कानूनी विषय नहीं है, न ही यह कानूनी अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की ब्राह्य योजना से सम्बन्धित है। यह कानूनी पक्ष के क्षेत्र में नहीं आता है अपितु उसका उसका संबंध 'सामाजिक नैतिकता' से है।''

1.7 न्याय संबंधी विभिन्न सिद्धान्त

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त तत्कालीन समाज में व्याप्त न्याय व्यवस्था से पूर्णत्या भिन्न है। प्लेटो ने प्रचलित न्याय व्यवस्थाओं की आलोचना करते हुए अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्लेटो के समय तीन प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित थे, जिन्हें परम्परावादी, उग्रवादी तथा यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता था। जिनका विवरण इस प्रकार है-

1.7.1 न्याय का परम्परावादी सिद्धान्त

न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त का **प्रतिपादक कैफालस** को माना जाता है। जो एथेन्स का विदेशी नागरिक था। इस सिद्धान्त का अर्थ है ''वचन तथा कर्म में सत्य का पालन तथा ईश्वर एवं मानव के प्रति अपना ऋण चुकाना ही न्याय है।'' कैफालस के बाद उसका पुत्र पोलीमार्कस इस सिद्धान्त की पुन: व्याख्या करता है और कहता है कि ''न्याय प्रत्येक मनुष्य की वह देने में है जो उसके

Bhagwan Mahavir Open University, Kota

लिए उचित है।'' न्याय के सन्दर्भ में 'उचित शब्द' का प्रयोग करके परम्परावादी विचारक न्याय को 'एक कला' तथा 'समता' मानते हैं। उनके अनुसार न्याय एक ऐसी कला है जो भलाई तथा बुराई करने की दो परस्पर विरोधी क्षमतायें रखती है। जहां न्याय मित्रों की भलाई कर वहां शत्रुओं को नुकसान पहुंचाने का सामर्थ्य भी उसमें है।

सिद्धान्त का खण्ड

प्लेटो ने अपनी कृति रिपब्लिक में इस सिद्धान्त का खण्डन निम्नलिखित तर्क देकर किया–

1. न्याय एक कला नहीं है क्योंकि कला के दो पक्ष होते हैं, नकारात्मक तथा सकारात्मक पक्ष। लेकिन न्याय तो सिर्फ अच्छाई और भलाई की दिशा में प्रवाहित होता है, बुरी दिशा में नहीं। उदाहरण के लिए चित्रकार एक चित्र को अच्छा भी बना सकता है तथा बुरा भी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह उसके सकारात्मक रूप का प्रतिपादन करता है या नकारात्मक दृष्टिकोण का। अगर इसे हम न्याय पर लागू करें तो यह बिल्कुल भी सही नहीं हैं क्योंकि स्वेच्छाचारी न्याय का पर्याय नहीं बन सकता। प्लेटो के अनुसार न्याय आत्मा व मन का एक गुण है।

2. यह कथन सरल है कि मित्रों के प्रति भलाई तथा शत्रुओं के प्रति बुराई करना न्याय है लेकिन मित्र तथा शत्रु की पहचान करना कठिन कार्य है। अनेक बार यह देखने में आता है कि मित्र ही शत्रु सिद्ध होता है तथा शत्रु भी शुभ चिन्तक हो सकता है। अत: शत्रु या मित्र के आधार पर न्याय की बात करना अमानवीय है। इससे समाज में अराजकता को बढ़ावा मिलेगा।

3. यदि मित्रों की भलाई करना न्याय का उद्देश्य मान लिया जाए तो शत्रु की बुराई करना उद्देश्य नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति की बुराई की जाती है उसका अध:पतन हो जाता है और उसकी स्थिति और बदत्तर हो जाती है।

4. प्लेटो के अनुसार परम्परावादियों की एक त्रुटी ये भी है कि उन्होंने न्याय को दो व्यक्तियों का संबंध मात्र माना है। साथ ही नग्न व्यक्तिवाद पर इस संबंध को आधारित किया है। ऐसा करना गलत है क्योंकि न्याय व्यक्तिगत जीवन की वस्तु नहीं है अपितु सामाजिक जीवन की वस्तु है। न्याय श्रेष्ठ सामाजिक जीवन कि विकास की बड़ी आवश्यकता है।

1.7.2 न्याय का उग्रवादी सिद्धान्त

न्याय के उग्रवादी सिद्धान्त का **प्रवर्तक थ्रेसीमेकस** को माना जाता है। उसके मतानुसार न्याय शक्तिशाली का हित है या 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' ही न्याय की परिभाषा है। सत्य के बल पर भी कुछ प्राप्त कर सके वह ही सत्य है। थ्रेसीमेकस तो यहां तक कहते हैं कि कानून बड़े राज्य बनाते है और वह व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक है और राज्य अपने स्वार्थों के लिए कानून बनाता है, यह उचित नहीं है। उनके अनुसर राज्य की आज्ञा पालन करना न्याय समझा जाए, तो अन्याय न्याय की अपेक्षा उत्तम है।

थ्रेसीमेकस के सिद्धान्त का खण्डन

प्लेटो ने थ्रेसीमेकस द्वारा प्रतिपादित न्याय के उग्रवादी सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि राज्य का मुख्य कार्य उन कार्यों को वरीयता के साथ करना जिनसे लोगों के हितों की पूर्ति हो ताकि समाज का विकास हो सके और प्रत्येक व्यक्ति को न्याय मिले व अपराधी को दण्ड मिल। इसके लिए राज्य कानूनों का निर्माण करता है। शासक दोष रहित नहीं होता है। वह सदैव कानून का निर्माण अपने स्वार्थ या हित में नहीं करता। कभी–कभी कानून से जनता को लाभ हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि तब न्याय हमेशा शक्तिशाली का हित नहीं हुआ। राज्य व सरकार अपने कार्य सिद्धि के लिए कोई कदम नहीं उठाते हैं। न्याय–अन्याय की अपेक्षा सदैव अच्छा होता है। क्योंकि जिस व्यक्ति को उचित न्याय नहीं मिलता है तो उसका अंद्यपतन होता जाता है, जिससे समाज में अव्यवस्था तथा अराजकता की स्थिति फैलती है।

1.7.3 न्याय का यथार्थवादी सिद्धान्त

न्याय के यथार्थवादी या व्यवहारवादी सिद्धान्त भी प्रचलित था। इस सिद्धान्त के साथ मुख्यत: **कैलीक्लीज** तथा **ग्लौकोन** का नाम जुड़ा हुआ है।

1.7.3.1 कैलीक्लीज :– कैलीक्लीज ने अपनी पुस्तक गोर्जियास में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह भी न्याय का स्रोत शक्ति को मानता है। वह मत्स्य–न्याय के सिद्धान्त का समर्थन करता है। थ्रेसीमेकस ने न्याय को शक्तिशाली का हित बताया किन्तु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कैलीक्लीज ने उसे दुर्बलों की आवश्यकता माना है। कैलीक्लीज प्रकृति को कानून से प्रबल मानता है, अत: वह कहता है कि मानव जो कुछ करना चाहे, उसके लिए वह स्वतंत्र है। वह निर्भयतापूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार कार्यों का संपादन कर सकता है।

1.7.3.2. ग्लौकोन :- ग्लौकोन अपने न्याय के सिद्धान्त के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहता है कि न्याय समझोते का परिणाम है। उसके अनुसार मानव प्रारम्भ से प्राकृतिक अवस्था में रहता था। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से दूसरे पर अन्याय करता है एवं स्वयं अन्याय का शिकार होता है। जब यह स्थिति असहनीय हो जाती है तो व्यक्ति इससे मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करता है। उसके अनुसार न्याय कमजोरों का हितसार है। उसका निर्माण परम्पराओं द्वारा होता है। जब आदि काल में कोई कानून नहीं थे और कमजोर शक्तिशाली के अत्याचार सहन करते थे। मानव ने इससे बचने के लिए तीन कदम उठाये-

1. अशक्तियों ने शक्तियों के साथ समझौता किया जिसमें यह तय किया कि वे न अन्याय करेंगे और न सहन करेंगे।
2. इन संविदा को लागू करने के लिए कुछ नियम व परम्पराएं स्थापित की, जो व्यक्ति के कार्यों का मापदण्ड बन गई।
3. समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने वास्तविक स्वार्थ को त्याग देगा तथा कानून के अनुसार कार्य करेगा।

इस प्रकार **ग्लौकोन ''न्याय को भय का शिशु कहता है।''**

सिद्धान्त का खण्डन :-

प्लेटो ने इस सिद्धान्त का भी जोरदार खण्डन करते हुए निम्नलिखित तर्क किये -

1. न्याय कृत्रिम एवं समझौते का परिणाम नहीं :- प्लेटो ग्लौकोन के सिद्धान्त का खण्डन करता है। वह कहता है कि ग्लौकोन ने न्याय को कृत्रिम तथा समझौते का फल बताया है। किन्तु न्याय न कृत्रिम और न समझौते का ही परिणाम है।

2. ऐतिहासिक सत्यता नहीं :- ग्लौकोन ने कहा है कि निर्बलों ने न्याय के लिए आपस में समझौता किया। वस्तुत: इस प्रकार के समझौते का कही भी उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है। समाजशास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव ने कभी भी इस प्रकार के समझौते नहीं किए। प्राचीन काल में भी किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था थी। यह व्यवस्था सम्भवतया सहयोग तथा सहमति की थी। मानव एक-दूसरे के अधिकारों को स्वीकृत करता था।

3. न्याय, बाह्य वस्तु नहीं है :- कैफालस, पोलीमार्कस, थेसीमेकस तथा ग्लौकोन ने न्याय को बाह्य वस्तु बताया है। वे न्याय को परम्परा एवं रूढि की उपज मानते हैं। किन्तु प्लेटो इसी आधार पर न्याय के सभी सिद्धान्तों का खण्डन करता है। उसके अनुसार, न्याय कोई बाह्य वस्तु नहीं है। वह एक आन्तरिक वस्तु है। उसकी उत्पत्ति अचानक किसी समझौते से नहीं हुई वह मानव के सतत चिन्तन का परिणाम है। न्याय मानव कीआत्मा की अच्छी अवस्था का प्रतिफल है, जो उसके स्वभाव में निहित है। प्लेटो ने तो सम्पूर्ण न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन आत्मा के आधार पर ही किया है।

1.8 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की व्याख्या

प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त को प्रतिपादित करने से पूर्व उस समय के प्रचलित न्याय के विभिन्न सिद्धान्त एवं धारणाओं का खण्डन किया तथा उन्हें समाज एवं व्यवस्था के लिए अपर्याप्त बताया। प्लेटो ने इन सिद्धान्तों के खण्डन में मुख्य बातें ये थी कि उस समय के विभिन्न विचारकों ने न्याय को बाह्य वस्तु बना कर दिया था, जिसमें आत्मा का कोई स्थान नहीं था। अत: प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु आत्मा को माना। प्लेटो का मत है कि ''न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक मांग है।'' ई.एम. फॉस्टर के शब्दों में जिसे हम नैतिकता कहते हैं वही प्लेटो के लिए न्याय है।

प्लेटो के अनुसार व्यक्ति की दृष्टि से न्याय का वास्तविक निवास-स्थान आत्मा है और राज्य उस मानव-आत्मा का विराट रूप है। अत: न्याय का निवास राज्य में भी होता है। न्याय के इन दो निवास स्थानों के अनुसार ही प्लेटो न्याय के दो प्रकार बताता है- व्यक्तिगत न्याय तथा सामाजिक न्याय। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का मूल आधार कार्य विशिष्टीकरण तथा अहस्तक्षेप का सिद्धान्त है।

भारतीय वर्ण व्यवस्था एवं प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय समाज दर्शन के अन्तर्गत समाज की व्यवस्था के सफल संचालन के लिए वर्ण व्यवस्था प्रारम्भ की गई थी,

Jan Kriya Bharati Institute (Deemed University) Lachhmangarh

जिसका मूल आधार कर्म होता था, जिसका उल्लेख मनु ने अपनी कृति 'मनुस्मृति' तथा कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में भी किया है। ठीक इसी प्रकार प्लेटो ने अपनी कृति 'रिपब्लिक' में न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो ने ये विचार भारतीय दर्शन से ही ग्रहण किये हैं।

वर्ण व्यवस्था	न्याय सिद्धान्त
ब्राह्मण शिक्षा	विवेक शिक्षा एवं प्रशासन
क्षेत्रीय प्रशासन एवं सुरक्ष	साहस, सुरक्षा
वेश्य व्यापार एवं उत्पादन	तृष्णा व्यापार, उत्पादन एवं सेवा
शुद्ध सेना	

1.8.1 सामाजिक न्याय

प्लेटो के अनुसार सामाजिक न्याय से तात्पर्य अपने लिए निर्देशित कर्त्तव्यों का यथोचित पालन तथा दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना है। यह आदर्श राज्य का मूलभूत सिद्धान्त है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुरूप एक ही कार्य करना चाहिए और अन्य व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो सामाजिक न्याय की व्यवस्था भंग हो जाती है तथा व्यक्ति में कार्य विशिष्टकरण की भावना का विकास नहीं हो सकता है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में तीन गुण पाये जाते हैं। 1. विवेक, 2. साहस, 3. तृष्णा। इन तीन गुणों के अनुसार समाज में तीन वर्गों का निर्माण होता है। विवेक प्रधान, साहस प्रधान तथा तृष्णा प्रधान वर्ग। प्लेटो ने तीनों वर्गों को अलग-अलग कार्य दिये। जिसके तहत विवके प्रधान वर्ग का कार्य प्रशासन चलाना, साहस प्रधान वर्ग का कार्य रक्षा एवं सैना संबंधी कार्य करना तथा तृष्णा प्रधान वर्ग का कार्य उत्पादन करना।

प्लेटो का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुणों की उपस्थिति तो होती है लेकिन प्रधानता एक तत्त्व की होती है जो उसकी प्रकृति का निर्धारण करती है।

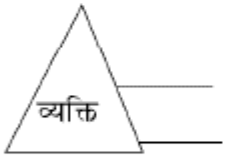

आत्मा का गुण	वर्ग	कार्य
विवेक	विवेक प्रधान वर्ग	प्रशासन चलाना
साहस	साहस प्रधान वर्ग	सुरक्षा करना
तृष्णा	तृष्णा प्रधान वर्ग	उत्पादन करना

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार न्याय वह है जिसमें प्रत्येक वर्ग अपने-अपने कार्यों को सम्पादित करता है और दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है। प्लेटो ने सभी के कार्यों को सुनिश्चित कर समाज के विभिन्न वर्ग निर्धारित किये। गुणों की उपलब्धि के साथ-साथ विवेक प्रधान तथा साहस प्रधान वर्ग को मिलाकर संरक्षण प्रधान बनाया और इस संरक्षक वर्ग में विवेक को अधिक प्राथमिकता दी। प्लेटो का मत है कि समाज में विभिन्न वर्ग निर्धारित करने का उद्देश्य समाज को तीन भागों में बांटना नहीं है अपितु समाज में न्याय की अवधारणा को बल प्रदान करना है। एक वर्ग के बिना दूसरे वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं है। प्लेटो के अनुसार संरक्षक और संरक्षण वर्ग में विवेक जन लोगों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि दार्शनिक राजा का निर्माण किया जा सके। उत्पादन वर्ग राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा साहस प्रधान वर्ग रक्षा करेगा। इस प्रकार प्लेटो ने उनगें श्रम विभाजन कर दिया है। प्लेटो का मत है कि व्यक्ति को अपने कार्य में उत्तमता या उत्कृष्टता अर्जित करनी चाहिए और यहीं पर प्लेटो जैविकीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। इस तरह से जो व्यवस्था होगी जिससे समाज उन्नति करेगा और सामन्जस्य बना रहेगा। इस प्रकार जो राज्य बनेगा उसमें चार गुण होंगे। 1. न्याय, 2. बुद्धिमता, 3. साहस, 4. आत्मनियन्त्रण। सेबाइन ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है- ''न्याय समाज को एकता प्रदान करने वाला सूत्र है। यह उन व्यक्तियों के बीच ताल-मेल स्थापित करने का साधन है, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी प्रकृति तथा प्रशिक्षण (शिक्षा) के अनुसार अपना कार्य (कर्त्तव्य) चुन लिया। यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार का सद्गुण है, क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यों को परम कल्याण की प्राप्ति होती है।'' क्वायर का कथन है कि ''प्रत्येक नागरिक को उसके अनुकूल भूमिका और कार्य देना ही न्याय है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.8.2 व्यक्तिगत न्याय

प्लेटो के अनुसार व्यक्तित्व न्याय का आधार भी वही है जो सामाजिक न्याय का है। मानव आत्मा की तीन प्रमुख प्रवृत्तियां होती है- विवेक, साहस तथा तृष्णा जब आत्मा के तृष्णा व साहस तत्व विवेक के नियन्त्रण एवं अनुशासन में कार्य करते हैं, तब व्यक्ति को न्यायी कहा जाता है। इस स्थिति में आत्मा के तीनों तत्त्व अपना-अपना कार्य करते हैं और उनमें परस्पर सहयोग, एकता, सामन्जस्यएवं सन्तुलन पाया जाता है। मानव आत्मा की ऐसी अवस्था प्राप्त करने पर ही व्यक्ति न्यायी कहलाता है और ऐसे न्यायी व्यक्ति को ही आत्म-संतोष, प्रसन्नता व सुख प्राप्त होता है। ऐसा न्यायी व्यक्ति अपनी आत्मा की प्रधान प्रवृत्ति (तत्त्व) के अनुसार ही अपने कार्य (सामाजिक दायित्व) को चुनता है और उसे पूर्ण निष्ठा से करता है। व्यक्तिगत न्याय ही वह गुण हो जो व्यक्ति को सामाजिक बनाता है और उसे सुखी भी रखता है।

1.9 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त दर्शन पर आधारित है। इस सिद्धान्त के माध्यम से प्लेटो न केवल उस समय के प्रचलित न्याय सिद्धान्तों का खण्डन किया अपितु न्याय को आदर्श राज्य के निर्माण की प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वीकार किया। न्याय को आत्मा का गुण बताते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ताकि समाज का संगठित स्वरूप बनाया जा सके और प्रत्येक मानव को दायित्व बोध करवाया जा सके। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1.9.1 नैतिक सिद्धान्त पर आधारित

वर्तमान काल में न्याय को एक कानूनी अवधारणा के रूप में स्वीकारा जाता है, किन्तु प्लेटो ने न्याय को एक नैतिक अवधारणा के रूप में मान्यता दी है। फॉस्टर के अनुसार, ''प्लेटो के लिए न्याय का अर्थ वह है जिसे हम नैतिकता कहते हैं।'' प्लेटो ने उस समय यूनान में प्रचलित न्याय के सिद्धान्तों का विरोध इसी आधार पर किया था कि उनमें नैतिकता व सद्‌गुण का अभाव था। इसीलिए प्लेटो ने नैतिकता पर आधारित न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्लेटो के अनुसार ''नागरिकों में कर्त्तव्य-भावना ही राज्य का न्याय सिद्धान्त है।'' इस तरह से प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नैतिकता का दूसरा पर्याय है।

प्लेटो के न्यायसिद्धान्त की विशेषताएँ

- नैतिक सिद्धान्त पर आधारित
- न्याय आन्तरिक तथा समन्वयकारी तत्त्व
- न्याय एवं आदर्श मेघनिष्ठ संबंध
- न्याय के सिद्धान्त में कार्य विशिष्टीकरण का उपसिद्धान्त
- समष्टिवादी सिद्धान्त
- दार्शनिक शासक वर्ग का प्रमुख स्थान
- न्याय-सिद्धान्त में सहायक व अनिवार्य साधन
- न्याय के दो प्रकार
- राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या
- व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतन्त्रता में समन्वय

1.9.2 न्याय आन्तरिक तथा समन्वयकारी तत्त्व है

प्लेटो ने न्याय को मानव-आत्मा का ऐसा आन्तरिक तत्त्व माना है जो आत्मा के तीनों तत्त्वों (विवेक, सहास व तृष्णा) में उचित समन्वय स्थापित करता है। राज्य, मानव-आत्मा का ही मुख्य गुण है और यहां न्याय एक ऐसा आन्तरिक तत्त्व है जो राज्य के तीनों प्रमुख वर्गों के बीच उचित समन्वय स्थापित करता है। यद्यपि राज्य के इन तीनों वर्गों के कार्य एवं गुण परस्पर भिन्न है, किन्तु न्याय की अवधारणा इन वर्गों में परस्पर सहयोग एवं एकता स्थापित करती है।

1.9.3 न्याय एवं आदर्श राज्य में घनिष्ठ संबंध

प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य की स्थापना के लिए न्याय परम आवश्यक तत्त्व है। वेपर के अनुसार ''उचित नेतृत्व, उचित सुरक्षा एवं उचित पोषण आदर्श राज्य के अपरिहार्य तत्त्व है।'' आदर्श राज्य में नागरिकों के बीच शासन, सुरक्षा तथा उत्पादन की दृष्टि से ऐसा कठोर व सुनिश्चित श्रम-विभाजन आवश्यक है, जो राज्य को आत्म-निर्भरता, एकता व स्थायित्व प्रदान करे। यह कार्य केवल न्याय की स्थापना द्वारा ही किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.9.4 न्याय के सिद्धान्त में श्रम-विभाजन, अहस्तक्षेप व कार्य विशिष्टीकरण के उपसिद्धान्त निहित है

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का मूल आधार ये है कि प्रत्येक नागरिक केवल उस कार्य को ही करेगा जो उसकी आत्मा की प्रधान प्रवृत्ति (तत्त्व) के अनुरूप होगा। उसका मत है कि नागरिकों को उनकी आत्मा की प्रधान प्रवृत्ति के अनुसार शासन वर्ग, सैनिक वर्ग तथा उत्पादन वर्ग में विभाजित किया जाना चाहिए। इस प्रकार की कार्य-व्यवस्था को ही श्रमविभाजन अहस्तक्षेप का कार्य विशिष्टीकरण का उप-सिद्धान्त कहा जाता है। कार्ल मार्क्स के अनुसार, ''प्लेटो के गणराज्य में श्रम-विभाजन राज्य के गठन का मूलभूत तत्त्व है।'' श्रम-विभाजन का सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक नागरिक अपने-अपने वर्ग से संबंधित कार्यों तक ही स्वयं को सीमित रखेगा, अर्थात् अन्य वर्गों से संबंधित नागरिकों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यही अहस्तक्षेप का उप सिद्धान्त है।

यह सुनिश्चित है कि जब प्रत्येक नागरिक उपर्युक्त प्रकार से कार्य करेगा, तो वह अपने वर्ग से संबंधित कार्य को करने में विशेष योग्यता एवं क्षमता भी प्राप्त कर लेगा। वस्तुत: यही कार्य विशिष्टीकरण का उप सिद्धान्त है।

1.9.5 समष्टिवादी सिद्धान्त

लेटो का न्याय-सिद्धान्त व्यक्ति के स्थान पर समाज (राज्य) के महत्त्व को स्थापित करता है। अत: इसे प्रकृति से समष्टिवादी सिद्धान्त कहा जाता है। प्लेटो की न्याय-व्यवस्था में व्यक्ति का नहीं, अपितु उसके वर्ग का महत्त्व है। यद्यपि प्लेटो विभिन्न हितों वाले तीन वर्गों की स्थापना करता है, किन्तु वह न्याय-सिद्धान्त द्वारा इन वर्गों में ऐसा आन्तरिक ताल-मेल स्थापित करता है जिसके परिणाम स्वरूप राज्य में एकता स्थापित होती है, अनेकता नहीं। प्लेटो राज्य को एक सावयव अवयव (शरीर) मानता है। उसके मतानुसार ''राज्य व्यक्ति का विराट रूप है।'' इस स्थिति में व्यक्ति साधन बन जाता है और राज्य साध्य।

1.9.6 दार्शनिक शासक वर्ग का प्रमुख स्थान

प्लेटो की न्याय व्यवस्था में ऐसे शासक वर्ग का आधार भूत महत्त्व है, जो अपनी प्रकृति से ही दार्शनिक है। व्यवहार में राज्य में न्याय की स्थापना का काम यही दार्शनिक वर्ग करता है। प्लेटो का दार्शनिक शासक वर्ग विवेक एवं सद्‌गुण का मूर्तरूप है और इसलिए वह कानून के नियन्त्रण से मुक्त है। उसका प्रमुख कर्त्तव्य है सार्वजनिक हित में सैनिक वर्ग एवं उत्पादन वर्ग का पूर्ण नियन्त्रण करना है। दार्शनिक शासक वर्ग ही राज्य के विभिन्न वर्गों में तालमेल एवं संतुलन स्थापित करता है और राज्य को सावयव (शारीरिक) एकता प्रदान करता है। किन्तु प्लेटो का दार्शनिक शासक वर्ग न तो स्वेच्छाचारी हो सकता है और न अत्याचारी है। ग्राम्प्यान्सकी का प्लेटो की न्याय व्यवस्था के संबंध में कहना है कि ''राज्य दार्शनिकों के लिए नहीं होता, अपितु दार्शनिक राज्य के लिए होते हैं।''

1.9.7 न्याय-सिद्धान्त के सहायक व अनिवार्य साधन

प्लेटो ने राज्य में न्याय को लागू करने तथा उसे बनाये रखने के लिए दो सहायक एवं अनिवार्य साधनों का प्रतिपादन किया है- शिक्षा तथा साम्यवाद। प्लेटो का अभिमत है कि अन्याय का आधार अज्ञान होता है। अज्ञान एक मानसिक रोग है और इसका एकमात्र इलाज उचित शिक्षा है। शिक्षा ही व्यक्ति में सद्‌गुणों का विकास करके उसे न्यायी बनाता है और इससे राज्य में न्याय की स्थापना सम्भव होती है।

प्लेटो बताता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियां हो सकती है, जो शिक्षा (ज्ञान) द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था के पतन में सहायक हों। वह कहता है कि सैनिक वर्ग व शासक वर्ग धन व परिवार के मोह में उलझकर अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर सकते है। अत: वह राज्य में न्याय के स्थायित्व के लिए इन दोनों वर्गों के लिए सम्पत्ति व परिवार के साम्यवाद की प्रणाली को लागू करता है। इस प्रकार प्लेटो ने जहां न्याय की स्थापना के लिए शिक्षा को एक सकारात्मक साधन के रूप में स्वीकार है। वहां ही साम्यवाद को एक ऐसे नकारात्मक साधन के रूप में माना है, जो राज्य में न्याय के पतन को रोकने के लिए अनिवार्य साधन है।

1.9.8 न्याय के दो प्रकार

प्लेटो ने न्याय के दो प्रकार माने हैं- वैयक्तिक न्याय तथा सामाजिक न्याय। उसके मतानुसार मूलत: न्याय का निवास मानव-आत्मा में होता है और क्योंकि राज्य मानव आत्मा का ही बड़ा गुण है, अत: न्याय का निवास राज्य में भी होता है, जिसे प्लेटो सामाजिक न्याय कहता है। इन दोनों ही प्रकार के न्यायों में आधारभूत समानता है। जहां व्यक्तिक न्याय द्वारा आत्मा की तीनों प्रवृत्तियों में ताल-मेल व सन्तुलन स्थापित होता है तथा व्यक्तित्व में एकता स्थापित हेाती है, वहां ही सामाजिक न्याय द्वारा राज्य के तीनों वर्गों में ताल-मेल व सन्तुलन स्थापित होता है और राज्य को एकता प्राप्त होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.9.9 राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

प्लेटो अपने न्याय सिद्धान्त के माध्यम से राज्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उसका मत है कि राज्य अच्छा है या बुरा, इसे कैसे मापा जाए? इसके लिए व्यक्ति को जानना होगा। क्योंकि राज्य, व्यक्ति का विराट रूप है और वह व्यक्तियों से मिलकर बनता है। उनके जीवन स्तर, रहन-सहन, स्थिति तथा विचारों से यह ज्ञात किया जा सकता है कि राज्य कैसा है? अत: व्यक्ति का कर्त्तव्य बनता है कि राज्य को अच्छा बनाने के लिए अपने कार्यों को कुशलतापूर्वक सम्पादित करें।

1.9.10 व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतन्त्रता में समन्वय

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता, दोनों के बीच समन्वय स्थापित करता है। प्लेटो ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बनाए रखने का प्रयास किया है। जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुरूप एक कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है। इसी प्रकार उसने राज्य की सर्वोच्चता भी स्थापित कर दी गई है, जिसके अन्तर्गत उसने यह प्रतिपादित किया कि व्यक्ति को कार्य अपने हित के लिए नहीं बल्कि सामाजिक हित के लिए करना चाहिए और व्यक्ति को चाहिए कि वह निजी हित का सामाजिक हित के लिए परित्याग कर दे, क्योंकि सामाजिक हित में ही उसका हित सम्भव है।

1.10 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की अनेक विद्वानों द्वारा कटु आलोचना की गई हैं, जिनमें से निम्नलिखित है-

1.10.1 प्लेटो का न्याय कानूनी नहीं

आलोचकों का विचार है कि प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त कानूनी नहीं है। न्याय का स्पष्ट अवलोकन कानून के दर्पण में ही किया जा सकता है। बार्कर ने कहा है कि "प्लेटो का न्याय वस्तुत: न्याय नहीं है। वह केवल मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावना मात्र है, कोई ठोस कानून नहीं है।" प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त आत्मनिषेध तथा आत्मसंयम जैसे नैतिक सिद्धान्त पर आधारित है। यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दे तथा उनके हितों में संघर्ष उत्पन्न हो, तो वैसी स्थिति में प्लेटो का न्याय व्यर्थ सिद्ध होगा।

1.10.2 कर्त्तव्य की प्रधानता

प्लेटो का न्याय व्यक्ति के कर्त्तव्यों से ही संबद्ध है। वह व्यक्ति को केवल कर्त्तव्य का पाठ सिखाता है। प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा की गई। न्याय में कर्त्तव्य एंव अधिकार दोनों का विचार होना चाहिए। एक सफल राज्य में व्यक्ति के अधिकारों का होना आवश्यक है। अधिकारों के अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता और न ही राज्य एवं समाज की उन्नति सम्भव हो सकती है।

1.10.3 निष्क्रिय तथा निश्चल

प्लेटो के न्याय का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह निष्क्रिय तथा निश्चल है। वह प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित कार्यभार लेने के बाद उसकी उन्नति तथा विकास के सभी द्वार बन्द कर देता है। व्यक्ति निष्क्रिय तथा निश्चल हो जाता है। उसको चंचलता तथा विविधता का नाश हो जाता है। अत: यह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में अवरोध उपस्थित करता है।

1.10.4 राज्य में अत्यधिक एकीकरण

अरस्तू ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को अत्यधिक एकीकरण की दिशा में ले जाने वाला कहा है। व्यक्ति अपने एक कार्य में ही संलग्न रहेगा। वह राज्य हित का एक साधन मात्र हो जाएगा। वह अपनी आत्मा के केवल उस एक ही गुण का विकास कर सकता है, जो उसमें प्रबल हो। वह अपने अन्य दो गुणों का विकास नहीं कर सकता है। उन दो गुणों की आहूति देकर, राज्य में अत्यधिक एकीकरण का आदर्श उपस्थित किया गया है।

1.10.5 अत्यधिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति

अरस्तू का कहना था कि प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त में पृथक्करण की भावना पाता है। राज्य का प्रत्येक वर्ग अपने हित में लीन रहता है। वह अपने ही वर्ग के कल्याण की बात सोचता है। उसका कोई सामान्य उद्देश्य नहीं रहता। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में तीन वर्गों-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुख्यत: शासक, सैनिक व उत्पादक वर्ग को स्थान दिया है। तीनों वर्ग कार्य विभाजन के सिद्धान्त पर कार्य करते है। अत: उनका ध्यान वर्ग हित पर रहता है। इससे राज्य का समग्र विकास नहीं हो पाता है। इसके अलावा ऐसा भी आभास होता है कि प्लेटो न्याय सिद्धान्त की आड़ में समाज को तीन विपरीत धुव्रों में विभाजित कर देता है तो राज्य की एकता व अखण्डता के लिए शुभ संकेत नहीं कहा जा सकता है।

1.10.6 सबको सुख नहीं

जार्ज ग्रोटे का मत है कि प्लेटो के न्याय सिद्धान्त से सबको सुख प्राप्त नहीं होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सैनिक वर्ग तथा शासक वर्ग दोनों परिवार तथा सम्पत्ति से वंचित रहते है। परिवार तथा सम्पत्ति के अभाव में वे सुख का क्या अनुभव करेंगे ?उत्पादक वर्ग राजनीतिक क्षेत्र में भाग नहीं ले सकता। वह भी बहुत से सुखों से वंचित रहता है। इस तरह से सभी वर्गों के जीवन में एकाकीपन आ जाता है।

1.10.7 व्यक्ति राज्य के अधीन

प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति को राज्य के अधीन कर दिया गया है। किसी वर्ग के व्यक्ति को ईकाई के रूप में कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। तीनों वर्गों के व्यक्ति समाज या राज्य की जंजीरों से जकड़े हुए हैं। केवल सामाजिक आधार पर ही व्यक्ति के बारे में सोचा जाएगा। व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। राज्य अपनी मनमर्जी से व्यक्ति पर अपनी नीति थोपेगा। व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार कोई कदम नहीं उठा सकता। यह स्थिति व्यक्ति की गरिमा के विपरीत कही जा सकती है।

1.10.8 अप्रजातांत्रिक

जेनोफन ने प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त को अप्रजातांत्रिक बताया है। प्रो. जॉन बाउल ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। उत्पादक वर्ग शासन में भाग लेने से सदैव के लिए वंचित रहता है। सम्पूर्ण शक्ति दार्शनिक राजाओं में निवास करती है। शासक अपनी शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकता है तथा वह भ्रष्ट भी हो सकता है।

प्लेटो प्रजातंत्र के मूल आधारों- स्वतन्त्रता एवं समानता को अपनी न्याय सम्बन्धी अवधारणा में अस्वीकार करता है। वस्तुत: यह एक ऐसे राज्य की स्थापना करता है जो मूलत: अभिजाततन्त्रीय कुलीनतन्त्रीय है। इस अभिजाततंत्र का आधार धन या जन्म नहीं है, अपितु ज्ञान (आत्मा के गुण) है। ग्रात्सि यांस्की के अनुसार, ''उदात्तचेता और सर्वोत्तमों द्वारा शासित प्लेटो के आदर्श राज्य का ढांचा अप्रजातांत्रिक ढांचा है।''

1.10.9 प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त अनावश्यक

आलोचकों का मत है कि प्लेटो का न्याय सिद्धान्त बिल्कुल अनावश्यक है। राज्य तथा व्यक्ति दोनों में विवेक, साहस तथा आत्म संयम विद्यमान है। विवेक द्वारा व्यक्ति अपनी सीमा एवं मर्यादा को जान सकता है। वह सामाजिक तथा व्यक्तिगत हित में आत्मानुशासन कायम कर सकता है। प्लेटो कहीं न्याय की विवेक, साहस तथा आत्मसंयम का नियन्त्रण मानता है और कहीं न्याय पर विवेक के अनुशासन को उचित ठहराता है। अत: यह स्पष्ट नहीं होता कि न्याय तथा विवेक में से कौन संरक्षक और कौन संरक्षित है ?

1.10.10 पारस्परिक अहस्तक्षेप

प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त में पारस्परिक अहस्क्षेप का सिद्धान्त अपनाया गया है। कोई वर्ग किसी अन्य वर्ग के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा। आदर्श राज्य में विवेक का अधिकार दार्शनिक राजा में होता है जो सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग पर नियन्त्रण रखता है। दार्शनिक राजा विवेक के कारण दूसरे वर्गों से उच्च माना जाता है। अत: आदर्श राज्य में समानता तथा न्याय की भावना समाप्त हो जाती है। यह असमानता को बढ़ावा देता है।

1.10.11 कोई निश्चित कार्य आजीवन करते रहना गलत है

प्लेटो प्रत्येक व्यक्ति को उसके प्राकृतिक गुण के आधार पर उसे आजीवन किए निश्चित कार्य करने का आदेश देता है। वह कहता है कि इसी के द्वारा सामाजिक सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। विवेक, साहस तथा तृष्णा इन तीनों गुणों में से जिसमें जिसकी प्रधानता हो, वह उसे चुन ले और उसी के अधिकतम विकास की ओर सदैव प्रयत्नशील रहे। अर्थात् प्लेटो के आदर्श राज्य में एक मोची सदा मोची रहेगा, एक किसान सदा किसान रहेगा, एक शासक सदा शासक बना रहेगा। एक मोची किसान के कार्य की अतिरिक्त कार्य के रूप में नहीं कर सकता है। एक किसान भी अन्नोत्पादन के कार्य के सिवाय सेना में भर्ती नहीं हो सकता और न ही शासन में भाग ले सकता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.10.12 मानव प्रकृति विषम है

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त मानव की सरल प्रकृति पर आधारित है, जबकि मानव की प्रकृति विषम है। उसे विवेक, साहस या तृष्णा के निश्चित वर्गीकरण में बांधे रखना कठिन है। मानव कभी तृष्णा पर ध्यान देता है तो कभी विवेक पर। मानवीय प्रकृति समयानुसार परिवर्तित होती रहती है। वासना या प्रेम हेय दृष्टि से देखा जाता है। धन की आवश्यकता ने The Good Earth जैसे पुस्तकों की रचना करने की प्रेरणा दी। व्यक्ति एक व्यवसाय छोड़ दूसरा करता रहता है। वह धन का भी अर्जन करता है और साथ ही साथ शासन में भी भाग लेता है जैसा कि आधुनिक समय में मानव की स्थिति है। अत: व्यक्ति को आत्मा के गुण की लीक पर सदैव चलने का आदेश देना, मानव प्रकृति के विरूद्ध है।

1.10.13 आधुनिक युग के अनुरूप नहीं

निम्नलिखित कारणों से प्लेटो का न्याय सिद्धान्त आधुनिक युग के अनुरूप नहीं माना जाता है। इस संबंध में निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं –

1.10.13.1 आधुनिक युग में न्याय को एक कानूनी अवधारणा के रूप में स्वीकारा जाता है, किन्तु प्लेटो ने न्याय के कानूनी पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की है।

1.10.13.2 प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त में सम्पूर्ण राज्य की जनसंख्या को केवल तीन भागों में विभाजित किया गया है किन्तु आधुनिक राज्यों में समस्त जनसंख्या को मात्र तीन वर्गों में बांट कर शासन एवं न्याय की स्थापना संभव नहीं है। ऐसा होना व्यावहारिक भी नहीं है।

1.10.13.3 आधुनिक राज्यों का प्रमुख लक्षण सम्प्रभुता एवं संविधानवाद है। इनके आधार पर ही आधुनिक राज्य की न्यायपालिका न्याय का कार्य करती है, किन्तु प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में सम्प्रभुता का कार्य करती है किन्तु प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में सम्प्रभुता तथा संविधानवाद का उल्लेख तक नहीं किया गया हो।

1.11 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का महत्त्व एवं सारांश

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की व्यापक आलोचनाओं के बावजूद उसके महत्त्व को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। इसके महत्त्व को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है–

1. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नैतिकता के महत्त्व को प्रकट करता है। यह सिद्धान्त 'एक अच्छे व्यक्ति' तथा 'एक अच्छे नागरिक' में भेद नहीं करता है।

2. यह सिद्धान्त राज्य सावयवी एकता पर बल है और इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज के हितों में एकता स्थापित करता है।

3. यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज की समस्या का मूल कारण अज्ञान को मानता है और उसके निवारण हेतु एक सुव्यवस्थित शिक्षा का समर्थन करता है।

4. यह सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन में पतन का मुख्य कारण राजनीतिक सत्ता व आर्थिक सत्ता के एक ही हाथों में केन्द्रीकरण को मानता है और इस दृष्टि से इन दोनों सत्ताओं में पृथक्करण को मानता है और इस दृष्टि से इन दोनों सत्ताओं में पृथक्करण के लिए साम्यवाद की व्यवस्था को प्रस्तुत करता है।

5. प्लेटो ने अपने न्याय–सिद्धान्त के एक अभिन्न अंग के रूप में एक आदर्श राज्य–व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है। उसके बाद अनेक कल्पनावादी तथा आदर्शवादी विचारकों ने प्लेटो की इस आदर्श राज्य व्यवस्था से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है। उपुर्यक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनेक कमियों तथा आलोचनाओं के बावजूद प्लेटो का न्याय सिद्धान्त अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

1.12 अभ्यास अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. प्लेटोकालीन यूनान में प्रचलित विभिन्न न्याय सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।
2. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताओं की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

Jan Vishvh Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लघूत्तरात्मक प्रश्न :-

1. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. न्याय का परम्परावादी सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।
3. न्याय के यथार्थवादी सिद्धान्त का प्लेटो द्वारा किन आधारों पर खण्डन किया गया है ?
4. प्लेटो का सामाजिक न्याय क्या है ?
5. ''प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नैतिकता पर आधारित है।'' सिद्ध कीजिए।
6. जेनीफन ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना किन आधारों पर की है ?
7. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त आधुनिक युग के अनुरूप किस प्रकार नहीं है ?
8. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का महत्त्व बताइये।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :-

1. प्लेटो पर सर्वाधिक प्रभाव किस चिन्तक का पड़ा?
2. प्लेटो का जन्म कब और कहां हुआ ?
3. विश्व का प्रथम विश्वविद्यालय कहां स्थापित हुआ ?
4. प्लेटो की प्रमुख रचनाओं के नाम बताओं।
5. जीवन के अन्तिम समय में प्लेटो ने कौनसी कृति लिखी ?
6. प्लेटो के समय न्याय के कौन से सिद्धान्त प्रचलित थे ?
7. ''न्याय की अवधारणा प्लेटो के राजनीति दर्शन को पराकाष्ठा है।'' यह विचार किसने दिये ?
8. न्याय के परम्परावादी सिद्धान्त का मूल आधार क्या है ?
9. न्याय के उग्रवादी सिद्धान्त का मूल आधार क्या है ?
10. न्याय के यथार्थवादी सिद्धान्त का प्रतिपादक किसे माना जाता है ?
11. न्याय के उग्रवादी सिद्धान्त का प्रवर्तक किसे माना जाता है ?
12. ''न्याय भय का शिशु है।'' ये किसका मत है ?
13. ''राज्य मानव आत्मा का विराट रूप है।'' यह मत किसने दिया ?
14. प्लेटो द्वारा न्याय सिद्धान्त प्रतिपादन का मूल उद्देश्य क्या है ?
15. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कौनसे बुनियादी आधार पर टिका हुआ है ?
16. प्लेटो ने न्याय के कितने व कौनसे रूप बताए हैं ?
17. प्लेटो ने मानवीय आत्मा के कितने गुण बताए हैं ?
18. प्लेटो संरक्षण प्रधान वर्ग में किन्हें शामिल करता है ?
19. सामाजिक न्याय का अर्थ बताओ ?
20. व्यक्तिगत न्याय से आपका क्या आशय है ?

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चन्द्रदेव प्रसाद, ''महान् राजनीतिक विचारक प्लेटो'' भारती भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स, पटना
2. डॉ. प्रभुदत्त शर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर
3. के.एन.वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ भाग 3 (प्लेटो से बर्क तक) रस्तोगी पब्लिकेशंस, मेरठ''
4. के.एन.वर्मा, ''राजदर्शन भाग 1'' (प्लेटो से कन्सीलिय आंदोलन तक) रस्तोगी पब्लिकेशन्स मेरठ
5. डॉ. श्रीराम वर्मा, ''प्रमुख राजनीतिक विचारक'', कॉलेज बुक सेन्टर, जयपुर
6. बी.आर. पुरोहित, ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
7. अर्नेस्ट बार्कर, ''यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त'', हिन्दी, दिल्ली वि. वि. प्रकोष्ठ द्वारा अनुवाद
8. ओम प्रकाश गाबा, ''राजनीतिक विचारकों की रूपरेखा'', मयूर पेपर बॉक्स, नौएडा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 2

शिक्षा सिद्धान्त

संरचना

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 प्लेटो का शिक्षा - सिद्धान्त की मान्यताएं

- 2.3.1 शिक्षा का दार्शनिक आधार
- 2.3.2 शिक्षा द्वारा मानव-मस्तिष्क का विकास
  - 2.3.2.1 मानव मस्तिष्क सदैव सक्रिय रहता है।
  - 2.3.2.2 मानव मस्तिष्क को शिक्षा द्वारा राज्य व दर्शन का ज्ञान

2.4 शिक्षा के विभिन्न पक्ष तथा उद्देश्य

- 2.4.1 व्यक्तिगत पक्ष तथा उद्देश्य
- 2.4.2 सामाजिक पक्ष तथा उद्देश्य
- 2.4.3 राजनीतिक पक्ष तथा उद्देश्य
- 2.4.4 शिक्षा जीवन-पर्यन्त चलती है
- 2.4.5 सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक शिक्षा

2.5 प्लेटो का शैक्षणिक पाठ्यक्रम

- 2.5.1 शिक्षा का प्रथम स्तर
  - 2.5.1.1 नैतिक व धार्मिक शिक्षा
  - 2.5.1.2 व्यायाम व संगीत की शिक्षा
- 2.5.2 शिक्षा का द्वितीय स्तर
  - 2.5.2.1 20 से 30 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए
  - 2.5.2.2 30 से 35 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए
- 2.5.3 दार्शनिक शासन का व्यावहारिक प्रशिक्षण

2.6 शिक्षा सिद्धान्त की विशेषताएं एवं गुण

- 2.6.1 राज्य द्वारा नियन्त्रित एवं अनिवार्य शिक्षा
- 2.6.2 यूनानी शिक्षा व्यवस्था का विकास
- 2.6.3 व्यक्ति का सर्वांगीण विकास
- 2.6.4 मनोविज्ञान के अनुरूप शिक्षा
- 2.6.5 स्त्री-पुरुषों को समान शिक्षा
- 2.6.6 शिक्षा व्यावहारिक हो
- 2.6.7 शरीर एवं मन का विकास
- 2.6.8 शासक वर्ग का प्रशिक्षण
- 2.6.9 नैतिक विकास पर बल
- 2.6.10 जीवन भर चलने वाली शिक्षा-व्यवस्था

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.6.11 सत्य तथा ईश्वर का साक्षात्कार
2.7 प्लेटो की शिक्षा योजना की आलोचनाएं
2.7.1 अलोकतांत्रिक एवं एकांकी
2.7.2 साहित्य की उपेक्षा
2.7.3 कला व साहित्य पर अनुचित नियन्त्रण
2.7.4 शिक्षा का क्रमलम्बा व खर्चीला
2.7.5 शिक्षा योजना में विरोधाभास
2.7.6 स्त्री-पुरुषों की समान शिक्षा पर आपत्ति
2.7.7 तकनीकी शिक्षा का अभाव
2.7.8 डॉक्टर व वकीलों का बहिष्कार
2.7.9 सत्य के विकास का ज्ञान
2.7.10 व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास संभव नहीं
2.8 सारांश
2.9 अभ्यास प्रश्नावली
2.10 सन्दर्भ ग्रंथ

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्लेटो के शिक्षा संबंधी विचारों की विस्तृत जानकारी हासिल करना है। इस सिद्धान्त का मुख्य लक्ष्य दार्शनिक राजा का निर्माण करना है। इस अध्याय में आप निम्न विचारों को जान सकेंगे—

- प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की विभिन्न मान्यताएँ,
- शिक्षा के विभिन्न पक्ष, जो जीवन-पर्यन्त चलती है तथा शिक्षा सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक है,
- प्लेटो का शैक्षणिक पाठ्यक्रम जो, जब तक जारी रहता है, तब तक दार्शनिक राजा तैयार न हो जाए,
- एक ऐसी शिक्षा पद्धति की स्थापना करता है, जो राज्य के नियंत्रण में रहेगी,
- जिसका सरोकार व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से है,
- शिक्षा प्राप्त स्त्री-पुरुषों को समान अवसर देने की बात कही गई,
- शिक्षा सिद्धान्त का अध्ययन करने से ईश्वर तथा सत्य से साक्षात्कार किस प्रकार किया जा सकता है, उसकी भी जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

2.2 प्रस्तावना

प्लेटो ने अपना सम्पूर्ण चिन्तन एवं दर्शन आदर्श राज्य की स्थापना के उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर विकसित किया था। अत: उन्होंने जितने भी विचार या सिद्धान्त प्रतिपादित किये उनका निहित उद्देश्य भी यही था। इसी कड़ी में शिक्षा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया ताकि दार्शनिक राजा का निर्माण किया जा सके तथा आदर्श राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सके। प्रो. सेबाइन के शब्दों में, ''प्लेटो ने राजनेताओं के मार्ग से बाधाएं दूर करने के लिए साम्यवाद की चाहे कितना भी महत्त्व क्यों न दिया हो लेकिन उसका मुख्य जोर साम्यवाद पर नहीं, बल्कि शिक्षा पर है।''

शिक्षा वह साधन है जिसके आधार पर हम पशु व मानव में तुलना कर सकते हैं। शिक्षा वह दीप है जो व्यक्ति के जीवन को प्रकाशमान कर देता है तथा उसे अपने जीवन में शिखर पर पहुंचाने का कार्य करती है। शिक्षा नागरिकों में न्याय व अन्याय के प्रति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जागरूकता पैदा करती है। शिक्षा के द्वारा नागरिकों में सद्गुणों का विकास होता है। प्लेटो भी शिक्षा के माध्यम से दार्शनिक राजा का निर्माण करना चाहता है।

यदि रिपब्लिक में प्लेटो का मूल उद्देश्य 'न्याय' के सिद्धान्त की खोज करना है, तो शिक्षा उसकी प्राप्ति का मुख्य स्रोत एवं माध्यम है। जैसा कि प्लेटो ने लिखा है कि ''सामाजिक शिक्षा की सामाजिक न्याय का साधन है।'' रूसो के शब्दों में ''रिपब्लिक राजनीति पर लिखा गया ग्रन्थ नहीं है, अपितु शिक्षा पर लिखा गया ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जो इससे कभी नहीं लिखा गया।''

2.3 प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त की मान्यताएँ

प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति एवं समाज के उत्थान में सबसे बड़ी बाधा अज्ञानता है। प्लेटो के अनुसार अज्ञानता को समाप्त करने का एक मात्र उपाय ज्ञान अर्थात् शिक्षा है। प्लेटो का कहना है कि ''शिक्षा बौद्धिक रोग के लिए बौद्धिक उपचार है।'' प्रो. सेबाइन का मत है कि ''शिक्षा ऐसा सकारात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक एक सामन्जस्यपूर्ण राज्य का निर्माण करने के लिए मानव प्रकृति को सही दिशा में ढाल सकता है।''

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की मान्यताएं निम्नलिखित है-

2.3.1 शिक्षा का दार्शनिक आधार

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा की अवधारणा के दार्शनिक आधारों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है-

1. शिक्षा का उद्देश्य मात्र वस्तुगत जगत् का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, अपितु इसके मूल में निहित 'सत्' अर्थात् अन्य वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है। प्लेटो की इस मान्यता का आधार उसके गुरु सुकरात का यह विचार था कि- ''सद्गुण ही ज्ञान है।''

2. ज्ञान का स्रोत स्वयं मानव की आत्मा है- प्लेटो के अनुसार शिक्षा आत्मा में बाहरी रूप से ज्ञान का प्रवेश नहीं कराती है। मानव आत्मा के पास स्वयं का ज्ञान-नेत्र होता है, शिक्षा तो उस ज्ञाननेत्र का रूख प्रकाश की ओर आकर्षित करती है। शिक्षा ऐसा वातावरण बनाती है कि आत्मा का यह ज्ञान स्वत: ही प्रकट हो जाए। प्लेटो के अनुसार शिक्षा 'आत्म-नेत्र को प्रकाशोन्मुख' करती है।

2.3.2 शिक्षा द्वारा मानव-मस्तिष्क का विकास

प्लेटो शिक्षा को मानव-मस्तिष्क के विकास की सीढ़ी के रूप में देखता है। इसके संबंध प्लेटो की प्रमखु धारणाएँ निम्नलिखित प्रकार से है-

2.3.2.1 मानव मस्तिष्क सदैव सक्रिय रहता है :- शिक्षा का कार्य ऐसा स्वस्थ वातावरण बनाना है कि मानव-मस्तिष्क की सक्रियता सद्गुण की ओर आकर्षित हो और उनका पालन करें। वस्तुत: शिक्षा अन्तर्दृष्टि जागृत करके मानव-मस्तिष्क को इस प्रकार तैयार करती है कि वह प्रतिकूल वातावरण एवं परिस्थितियों में भी विवेकपूर्ण प्रतिक्रिया करें। प्लेटो का मत है कि ''यदि नागरिक भली-भांति शिक्षित किये जाते हैं तो वह अपनी समस्याओं का हल स्वयं ढूंग लेगें।''

2.3.2.2 मानव मस्तिष्क को शिक्षा द्वारा राज्य व दर्शन का ज्ञान :- प्लेटो बताता है कि विद्याओं के क्षेत्र में मानव-मस्तिष्क की सर्वोच्च खोज 'दर्शन' है तथा संस्था के क्षेत्र में इसकी सर्वोच्च देव 'राज्य' है। जब शिक्षा द्वारा मानव-मस्तिष्क को दर्शन तथा 'राज्य' संबंधी ज्ञान प्राप्त होता है तो उसके मस्तिष्क का पर्याप्त विकास भी होता है।

2.4 शिक्षा के विभिन्न पक्ष तथा उद्देश्य

शिक्षा व्यक्ति, समाज व राज्य से सम्बन्धित है, किन्तु सभी स्तरों पर शिक्षा का नैतिक उद्देश्य है सद्गुण की वृद्धि करना है। इस तथ्य पर निम्नलिखित रूप से प्रकाश डाला जा सकता है -

2.4.1 व्यक्ति पक्ष तथा उद्देश्य

शिक्षा सद्गुण में वृद्धि करती है और व्यक्ति को 'एक अच्छा व्यक्ति' बनने में सहायक बनती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.4.2 सामाजिक पक्ष व उद्देश्य

शिक्षा समाज के विभिन्न वर्गों में समन्वय स्थापित करती है और सामाजिक न्याय के उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता देती है। यह व्यक्ति को उसके आत्मा के गुण के अनुरूप कार्य करने को प्रेरित करती है। बार्कर के अनुसार ''प्लेटो ने शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में माना है जो समाज के विभिन्न वर्गों को सामाजिक-चेतना से बांधती है तथा उन्हें सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करने की भावना सिखाती है।''

2.4.3 राजनीतिक पक्ष व उद्देश्य

शिक्षा व्यक्ति एवं राज्य के हितों में समन्वय स्थापित करतो है। यह व्यक्ति को 'सद्व्यक्ति' बनाने के साथ ही 'सद् नागरिक' भी बनाती है। यह व्यक्तिगत नैतिकतातथा सार्वजनिक नैतिकता में एकता स्थापित करके राज्य की एकता व अखण्डता को मजबूत करती है। शिक्षा ही यह सिद्ध करती है कि दर्शन को राजनीति का पथ-निर्देशन करना चाहिए तथा शासन का कार्यदार्शनिक राजा को करना चाहिए।

2.4.4 शिक्षा जीवन-पर्यन्त चलती है

प्लेटो ने शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित माना है। शिक्षा का संबंध शरीर एवं आत्मा दोनों से ही है, अत: इसे जीवन के अन्त तक चलते रहना चाहिए किन्तु आयु के अनुसार शिक्षा के पाठ्यक्रम में अन्तर होना चाहिए। प्लेटो ने विभिन्न आयु वर्गों के अनुसार सम्पूर्ण शिक्षा के पाठ्यक्रम को वर्गीकृत किया है। यह एक अभिनव प्रयोग था।

2.4.5 सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक शिक्षा

शिक्षा के दो पक्ष है- सिद्धान्त व प्रयोग। प्लेटो ने इन दोनों प्रकार की शिक्षा पर बल दिया है। उसका मत है कि दो पक्षों के अभाव में शिक्षा से निहित उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती है। बार्कर के मतानुसार, ''सिद्धान्त तथा प्रयोग समान रूप से मानव-मस्तिष्क की उपज है, अत: मस्तिष्क को इन दोनों के सम्पर्क में अवश्य ही लाया जाना चाहिए।'' प्लेटो का तर्क है कि विद्यार्थी को पहले सैद्धान्तिक शिक्षा दी जानी चाहिए और उसके बाद प्रयोगात्मक शिक्षा उन्होंने अपनी शिक्षा योजना में दोनों पहलूओं के समन्वय पर बल दिया है।

2.5 प्लेटो का शैक्षणिक पाठ्यक्रम

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की शिक्षा की जो योजना तथा उसके स्तर एवं पाठ्यक्रम का जो विवरण प्रस्तुत किया है उस पर तत्कालीन स्पार्टा तथा एथेन्स के नगर राज्यों में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था का प्रभाव पड़ा है। उसने स्पार्टा से यह प्रेरणा ली कि शिक्षा में सैनिक शिक्षा को सम्मिलित किया जाना चाहिए, क्योंकि यह शरीर-बल तथा आत्मा-बल देती है। उसने एथेन्स की शिक्षा-पद्धति से यह प्रेरणा ली कि शिक्षा को विचार-शक्ति बढ़ाने वाला होना चाहिए। एथेन्स में शिक्षा मुख्यतया निजी हाथों में थी किन्तु स्पार्टा में शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण था। अत: प्लेटो ने स्पार्टा से प्रेरणा लेकर शिक्षा को राज्य द्वारा नियन्त्रण किया ताकि कोई भी नागरिक शिक्षा प्राप्ति से वंचित नहीं रह सके।

प्लेटो ने शिक्षा को जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया बताया है किन्तु स्पष्टत: उसने 6 वर्ष की आयु से 50 वर्ष तक की आयु से सम्बन्धित शिक्षा योजना का जो विवरण प्रस्तुत किया है, जो निम्नलिखित प्रकार से है-

2.5.1 शिक्षा का प्रथम स्तर

शिक्षा के प्रथम स्तर का संबंध 6 वर्ष की आयु से 20 वर्ष तक की आयु के विद्यार्थियों से। इसकी प्रमुख विशेषाताएं निम्न प्रकार है-

2.5.1.1 नैतिक व धार्मिक शिक्षा :- शिक्षा 6 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होगी और इसके पहले 6 वर्षों में विद्यार्थियों को नैतिक व धार्मिक शिक्षा दी जायेगी। इस आयु वर्ग में विद्यार्थी अनुकरण द्वारा सीखते हैं, अत: उनको देवी-देवताओं की ऐसी कथाएं बतायी जानी चाहिए जो प्रेम, सत्य, दया आदि सद्गुणों से युक्त हों।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.1.2 व्यायाम व संगीत की शिक्षा :- 12 से 18 आयु वर्ग में विद्यार्थियों को मुख्यत: व्यायाम व संगीत की शिक्षा दी जानी चाहिए। इससे उनमें क्रमश: आत्म-शक्ति का विकास होगा।

प्लेटो ने व्यायाम व संगीत की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। एक स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है। अत: व्यायाम की शिक्षा आत्म-बल की वृद्धि करती है। प्लेटो ने व्यायाम की शिक्षा में भोजन तथा चिकित्सा (औषधि) को सम्मिलित किया है।

प्लेटो ने संगीत की शिक्षा में गायन-विद्या के अलावा समस्त कलाओं, साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन की सम्मिलित किया है। उसने संगीत की शिक्षा में गणित, ज्यामिति तथा प्रारम्भिक विज्ञान को भी सम्मिलित किया है। संगीत विचार-शक्ति का विकास करता है।

व्यायाम तथा संगीत की शिक्षा शरीर एवं विचार-शक्ति में सन्तुलन स्थापित करके मानव व्यक्तित्व को पूर्णता देती है। इससे व्यक्ति का विवेक जागृत होता है।

2.5.1.3 सैनिक शिक्षा :- विद्यार्थियों को 18 से 20 वर्ष तक आयु में, अर्थात् 2 वर्ष सैनिक शिक्षा प्रदान की जाएगी। इससे उनमें साहस आत्म-नियन्त्रण तथा अनुशासन की प्रवृत्ति बढ़ेगी और वे राज्य की रक्षा में सहायक होंगे।

2.5.2 शिक्षा का द्वितीय स्तर

प्रथम स्तर की शिक्षा प्राप्ति के समय जब विद्यार्थी अपनी प्रतिभा का परिचय दे तो उन्हें ही केवल द्वितीय स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है और शेष को साहस वर्ग में स्थान देकर सेना संबंधी कार्य सौंप दिये जाते हैं। इस प्रकार द्वितीय स्तर की उच्च शिक्षा केवल कुछ ही विद्यार्थियों को प्रदान की जाती है। द्वितीय स्तर पर शिक्षा को पुन: दो उप-स्तरों में विभाजित होती है। एक 20 से 30 वर्ष की आयु वर्ग दूसरी 30 से 35 वर्ष की आयु तक।

2.5.2.1 20 से 30 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए शिक्ष :- 20 वर्ष की आयु के पश्चात् उच्च शिक्षा का दौर प्रारम्भ होता है। उच्च शिक्षा अपने प्रारम्भिक स्तर पर 10 वर्ष तक चलती है। इसके पाठ्यक्रम में गणित, अंक गणित, ज्यामिति (रेखा गणित) ज्योतिष तथा स्तर-विद्या को स्थान दिया गया है। स्तर-विद्या का संबंध 'अनेकता में एकता' से है। इस पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण करने में असमर्थ विद्यार्थी को सैनिक वर्ग में वापिस भेज दिया जाता है अथवा राज्य के सामान्य प्रशासनिक पद पर नियुक्ति किया जाता है।

2.5.2.2 30 से 35 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए शिक्षा :- 30 वर्ष की आयु में होने वाली परीक्षा को उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियों की अब 5 वर्ष की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसके पाठ्य क्रम में मुख्यत: दो विषय होते हैं- द्वन्द्ववाद तथा दर्शन।

प्लेटो के अनुसार 35 वर्ष की आयु में इस पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण करने के बाद ही 'दार्शनिक शासक' बनने की आशा की जाती है। उक्त पाठयक्रम को उत्तीर्ण करने के बाद ही आत्मा में सत्य के प्रति अनुराग व सद्गुण में आस्था होती है।

2.5.2.3 दार्शनिक शासक का व्यावहारिक प्रशिक्षण :- 35 वर्ष की आयु तक विद्यार्थियों को पूर्ण सैद्धान्तिक शिक्षा प्रदान की जाती है और अब उन्हें 35 वर्ष से 50 वर्ष की आयु तक व्यावहारिक ज्ञान व क्रियात्मक अनुभव प्रदान किया जाता है। वस्तुत: वह इस 15 वर्ष के व्यावहारिक प्रशिक्षण के समय राज्य की सेवा करके शासन की कला में योग्यता प्राप्त करता है।

इस प्रकार 50 वर्ष की आयु में सही अर्थ में दार्शनिक शासक के बनने की प्रक्रिया पूरी होती है तभी उसे 'दार्शनिक शासक वर्ग' में शामिल किया जाता है। अब वह राज्य का शासन संभालता है, भावी पीढ़ी की शिक्षा योजना का संचालन करता और अपने उत्तराधिकारी तैयार करता है। प्लेटो के अनुसार 50 वर्ष की आयु के बाद भी आत्म-साक्षात्कार तथा अन्तिम सत्य के अन्वेषण के रूप में शिक्षा चलती रहती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ दार्शनिक शासक अपने उत्तराधिकारियों के लिए राजनीति का क्षेत्र खाली करते जाते है और स्वयं अन्तिम सत्य के अन्वेषण मे लग जाते हैं।

2.6 शिक्षा-व्यवस्था की विशेषताएँ एवं गुण

प्लेटो की शिक्षा योजना की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया जा सकता है -

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lalitpur

2.6.1 राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य शिक्षा

प्लेटो शिक्षा के राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य स्वरूप पर बल देते हैं। उन्होंने यह विचार स्पार्टा से ग्रहण किया। प्लेटो का तर्क था कि शिक्षा का निजी या पारिवारिक हाथों में होने कारण सामाजिक सिद्धि की अपेक्षा व्यक्तिगत सिद्धि में सहायक होगा। सेबाइन के अनुसार प्लेटो ने रिपब्लिक में राज्य नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा की योजना प्रस्तुत की। उसकी यह योजना एथेन्स की शिक्षा प्रणाली से बहुत विकसित थी।

2.6.2 यूनानी शिक्षा-व्यवस्था का विकास

तत्कालीन यूनान में स्पार्टा तथा एथेन्स नामक नगर-राज्यों में दो भिन्न प्रकार की शिक्षा- पद्धतियां प्रचलित थी। प्लेटो ने इन दोनों के गुणों को मिलाकर अपनी नवीन शिक्षा-पद्धति प्रस्तुत की है। इस प्रकार उसने तत्कालीन यूनानी शिक्षा-पद्धति को पूर्णता प्रदान करने की कोशिश की है।

2.6.3 व्यक्ति का सर्वांगीण विकास

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-पद्धति में व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक तीनों ही पक्षों के पूर्ण विकास पर बल दिया है। उसकी शिक्षा-योजना व्यक्ति के प्रत्येक सद्‌गुण को विकसित करने का प्रयत्न करती है।

2.6.4 मनोविज्ञान के अनुरूप शिक्षा

प्लेटो की शिक्षा पद्धति मनोविज्ञान के अनुरूप मानी जाती है। इसमें मानव के आत्मा के गुण के आधार पर शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। प्लेटो का मत है कि शिक्षा से आत्मा के गुण को विकास करने में मदद मिलेगी। उसने विभिन्न आयु-वर्गों के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम तय किये हैं, जो मानव-मनोविज्ञान के अनुरूप ही है।

2.6.5 स्त्री-पुरुष के लिए समान शिक्षा

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में पुरुष के समान नारी को सम्मान पूर्ण स्थान दिया है। वह दोनों की योग्यता व क्षमता में कोई अन्तर नहीं करता था। वह दोनों के समान प्रशिक्षण पर बल देता है और दोनों को राज्य के कार्यों के लिए तैयार करना चाहता है। प्लेटो के राज्य में स्त्रियों के लिए भी राजपद के द्वार उसी प्रकार खुले हैं जिस प्रकार पुरुष के लिए। प्लेटो की शिक्षा प्रणाली का यह तत्त्व ग्रीक पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं सुधार था। प्लेटो ने अपने विचारों में यह माना है कि पुरुष के समान स्त्रियों की आत्मा में भी विवेक, साहस एवं तृष्णा के गुण पाये जाते हैं। उसी के अनुरूप स्त्रियों का वर्ग निर्धारण होता है।

2.6.6 शिक्षा व्यवहारिक है

प्लेटो की शिक्षा-योजना तत्कालीन यूनान की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यह नागरिकों को अपने सामाजिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों की पूर्ति के योग्य बनाती है। शिक्षा योजना सामाजिक न्याय की स्थापना करके सामाजिक वर्गों के बीच ताल-मेल स्थापित करती है और राज्य को एकता प्रदान करती है।

2.6.7 शरीर व मन का विकास

प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना के द्वारा शरीर व मन दोनों के विकास की ओर उचित ध्यान दिया है। शरीर के विकास के लिए व्यायाम और मन के विकास के लिए संगीत की शिक्षा को पाठ्यक्रम में शामिल किया। सेबाइन के शब्दों में प्लेटो की शिक्षा, व्यवस्था में पाठ्यक्रम दो भागों में बंटा हुआ था, शरीर को पुष्ट करने के लिए व्यायाम और मन को पुष्ट करने के लिए संगीत।

2.6.8 शासन वर्ग का प्रशिक्षण

प्लेटो ने शिक्षा-योजना इस आशा के साथ प्रस्तुत की है कि इसके द्वारा दार्शनिक शासक वर्ग का निर्माण सम्भव होगा। उसकी शिक्षा योजना ऐसे श्रेष्ठ शासकों को उत्पन्न करने की क्षमता रखती है जो व्यक्तिगत हित की तुलना में सार्वजनिक हित को महत्त्व दे तथा सुशासन की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.6.9 नैतिक विकास पर बल

प्लेटो की शिक्षा–योजना 'सद्गुण ही ज्ञान है' के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। वह शिक्षा द्वारा ऐसा वातावरण बनाना चाहता है जो नैतिक उत्थान में सहायक हो। इस दृष्टि से उसने कला व साहित्य के ऐसे अंशों को 9 विबन्धित किया जाना उचित माना है जो नैतिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं।

2.6.10 जीवन पर्यन्त चलने वाली शिक्षा–व्यवस्था

प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था का कार्यक्रम कुछ समय तक चलने वाला नहीं है अपितु उसने ज्ञान के अर्जन को जीवन–भर चलने वाली प्रक्रिया माना है। शिक्षा के बारे में उसका यह दृष्टिकोण अनुकरणीय है।

2.6..11 सत्य व ईश्वर का साक्षात्कार

प्लेटो की शिक्षा–व्यवस्था का आधार उसका प्रत्ययवादी दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार प्लेटो की शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है दृश्य जगत् से भिन्न एक 'अत्यन्त वास्तविकता' को प्रकट करना। इस प्रकार प्लेटो की शिक्षा व्यक्ति को सत्य एवं ईश्वर से साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर करती है।

2.7 प्लेटो की शिक्षा योजना की आलोचनाएं

प्लेटो की शिक्षा योजना की व्यापक आलोचनाऐं की गई है, जो निम्नलिखित प्रकार से है —

2.7.1 अलोकतान्त्रिक तथा एकांकी

प्लेटो की शिक्षा योजना पर यह आरोप यह लगाया जाता है कि यह अलोकतान्त्रिक एवं एकांकी व्यवस्था है। उसकी शिक्षा योजना सभी वर्गों के लिए नहीं थी। शिक्षा केवल संरक्षण प्रधान वर्ग अर्थात् विवेक व साहस प्रधान वर्ग तक ही सीमित थी। उत्पादक या तृष्णा प्रधान वर्ग को शिक्षा से वंचित रखा गया है। प्लेटो अपनी शिक्षा योजना में इस वर्ग के संबंध में शिक्षा का उल्लेख नहीं करता है। वैलूर ने लिखा है कि ''प्लेटो अभिजात वर्ग का व्यक्ति होने के कारण उत्पादकों से घृणा करता था।''

2.7.2 साहित्य की उपेक्षा

प्लेटो ने अपनी इस शिक्षा योजना में साहित्य को बहुत कम व गणित को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि साहित्य जीवन का दर्पण है जो मानव की कोमल भावनाओं को विकसित करके उसके दृष्टिकोण को व्यापक करता है। इस दृष्टि से गणित तथा दर्शन के साथ कला व साहित्य की शिक्षा पर भी समान रूप से बल दिया जाना चाहिए था।

2.7.3 कला व साहित्य पर अनुचित नियन्त्रण

प्लेटो ने अपने शिक्षा योजना में कला व साहित्य को राज्य के नियन्त्रण में लाने का प्रयास करता है, जो अनुचित व अव्यवहारिक है। स्वतन्त्रता तो कला व साहित्य के विकास का प्रथम सौपान है। जिसके अभाव में इनका विकास होना असम्भव है। ये स्थिति आगे चलकर राज्य के पतन का कारण बनती है। बार्कर के शब्दों में ''नैतिक उपदेश के पाश में जकड़ी हुई कला मानव हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती है और जो कला मर्म स्पर्श नहीं होती वह मानव के आचार में भी परिवर्तन नही ला सकती है।''

2.7.4 शिक्षा का क्रम लम्बा व खर्चीला

प्लेटो की शिक्षा योजना बहुत लम्बी व खर्चीली है। यह निश्चित आयु तक सीमित नहीं रहती है, वह तो जीवन पर्यन्त चलती रहती है। दार्शनिक शासक को 50 वर्ष तक केवल शिक्षा ही प्राप्त करनी चाहिए। लेकिन प्लेटो यह भूल जाता है कि एक विशेष अवस्था के पश्चात् केवल किताबी ज्ञान मानव मस्तिष्क को सन्तुष्ट रखने में असमर्थ हो जाता है। व्यवहार में, इस प्रकार की शिक्षा प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति नहीं वरन् धनी व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.7.5 शिक्षा-योजना में विरोधाभास

प्लेटो की शिक्षा योजना में एक ओर राज्य की सेवा को अन्तिम उद्देश्य माना गया है और दूसरी अन्तिम सत्य की खोज व इस साक्षात्कार को भी अन्तिम उद्देश्य माना गया है। इस प्रकार शिक्षा-योजना में व्यावहारिक दृष्टि से विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। बार्कर के अनुसार, ''प्लेटो के शिक्षा-सिद्धान्त में कार्य सम्बन्धी आदर्श तथा चिन्तन संबंधी आदर्श के बीच एक प्रकार की डगमगाहट पायी जाती है।''

2.7.6 स्त्री व पुरुष ही समान शिक्षा पर आपत्ति

प्लेटो ने स्त्री व पुरुष के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा-योजना का प्रतिपादन किया है। आलोचकों का मत है कि स्त्री व पुरुष में बौद्धिक समानता तो देखी जा सकती है, किन्तु उनके स्वभाव व भावनाओं में पर्याप्त भिन्नता भी देखी जा सकती है। इस भिन्नता के कारण स्त्री व पुरुष के लिए पूर्णत: एक ही प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण उचित नहीं है।

2.7.7 तकनीकी शिक्षा का अभाव

प्लेटो की शिक्षा योजना में तकनीकी शिक्षा का सर्वथा अभाव है। शिक्षा का एक आवश्यक अंग तकनीकी शिक्षा भी है। बिना तकनीकी शिक्षा के शिक्षा पद्धति का पाठ्यक्रम अपूर्ण है। इसकी उपेक्षा की गई है। आज के वैज्ञानिक युग में तकनीकी शिक्षा का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक शिक्षा-प्रणाली में इसे विशेष स्थान प्राप्त है। आज विश्व के अनेक देश तकनीकी शिक्षा की ओर अग्रसर है। तकनीकी शिक्षा, शिक्षा का अनिवार्य अंग बन गई है।

2.7.8 डॉक्टर एवं वकीलों का बहिष्कार

प्लेटो ने प्रारम्भिक शिक्षा-पद्धति में व्यायाम को पाठ्यक्रम में रखा है उसके अनुसार व्यायाम के तहत आहारशास्त्र तथा चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान कराया जाएगा। अत: समाज में डॉक्टर की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इसके साथ ही साथ समाज में वकीलों की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। अत: प्लेटो की आदर्श राज्य में डाक्टर एवं वकीलों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। आधुनिक युग में डॉक्टर एवं वकीलों की सेवा से मुक्ति पाना कठिन है। कानून की व्याख्या तथा समाज में न्याय बनाए रखने के लिए वकीलों की सेवा की आवश्यकता है। इस विषाक्त युग में डॉक्टर की महत्ता स्पष्ट है। वर्तमान में जनता डॉक्टरों पर भी बहुत आश्रित है।

2.7.9 सत् के विचार का ज्ञान

प्लेटो की शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य सत् के विचार का प्रदर्शन करना है। अर्थात् सत् के विचार का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिए। क्योंकि सत् का विचार ही सभी चीजों का कारण एवं ज्ञान का स्रोत है। सत् का विचार क्या है, इसकी स्पष्ट व्याख्या प्लेटो ने कहीं भी नहीं की है। अत: उसकी शिक्षा-पद्धति पर अन्धकार का एक गहरा परदा पड़ा हुआ है।

2.7.10 व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास नहीं

प्लेटो की शिक्षा योजना में व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास पर कोई बल नहीं दिया गया। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी कोई बल नहीं दिया गया। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास राज्य के हितों के लिए किया जाता है। अत: राज्य के हितों की बलिदेवी पर व्यक्ति को बलिदान कर दिया जाता है। व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्ति का विकास कर स्वतन्त्र जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। यह प्लेटो की शिक्षा प्रणाली का बहुत बड़ा दोष है।

2.8 सारांश

इस प्रकार प्लेटो की शिक्षा-पद्धति त्रुटीपूर्ण है। प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिए शिक्षा का चित्र खींचा है, किन्तु आदर्श राज्य स्वर्ग में ही सम्भव है। अत: उस दृष्टिकोण से विचार किया जाए, तो उसकी शिक्षा पद्धति आदर्श मात्र है। लेकिन, उसके कुछ आदर्शों के आधार पर हम वर्तमान शिक्षा-योजना में महान परिवर्तन ला सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.9 अभ्यास अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न :-

1. प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त की मान्यताएँ बताइये।
2. प्लेटो के शैक्षणिक पाठ्यक्रम पर प्रकाश डालिए।
3. प्लेटो की शिक्षा-योजना की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. ''प्लेटो की शिक्षा से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं हैं।'' इस कथन के आधार पर शिक्षा- योजना के दोषों का उल्लेख कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो की प्रारम्भिक शिक्षा पर प्रकाश डालिए।
2. प्लेटो की उच्च शिक्षा पर प्रकाश डालिए।
3. प्लेटो राज्य-नियन्त्रित शिक्षा का समर्थन क्यों करता है ?
4. ''रिपब्लिक राजनीति पर लिखा गया ग्रन्थ नहीं है अपितु शिक्षा पर लिखा गया ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जो इससे पहले कभी नहीं लिखा गया।'' रूसो के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. शिक्षा का सामाजिक पक्ष प्लेटो क्या बताता है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो ने शिक्षा-सिद्धान्त का उल्लेख किस कृति में करते हैं ?
2. शिक्षा-सिद्धान्त प्रतिपादित करने के पीछे प्लेटो का मूल उद्देश्य क्या था।
3. प्लेटो अपनी शिक्षा योजना को समाज के कौन से वर्ग पर लागू करना चाहता है ?
4. प्लेटो की शिक्षा योजना पर सर्वाधिक प्रभाव किस नगर राज्य का पड़ा।
5. वर्तमान परिवेश में प्लेटो की शिक्षा योजना की कौन सी विशेषता महत्त्वपूर्ण है।
6. प्लेटो की शिक्षा किस आयु में प्रारम्भ होती है ?

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. चन्द्रदेव प्रसाद, ''महान राजनीतिक विचारक प्लेटो'' भारती भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्श, पटना
2. डॉ. नागेश्वर प्रसाद, ''प्रतिनिधि राजनीति विचारक'' जयराज प्रकाशन, बरेली
3. डॉ. के.एन. वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएँ'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
4. डॉ. पी.डी. वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर
5. ओम प्रकाश गाबा, ''राजनीति-चिन्तन की रूपरेखा'' मयूर पेपर बेक्स, नोएडा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-3

सम्पत्ति एवं पत्नियों का साम्यवाद

संरचना

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 सम्पत्ति का साम्यवाद

- 3.3.1 सम्पत्ति के साम्यवाद के सिद्धान्त की व्याख्या
  - 3.3.1.1 दार्शनिक व्याख्या
  - 3.3.1.2 राजनीतिक व्याख्या
- 3.3.2 सम्पत्ति के साम्यवाद का उद्देश्य
  - 3.3.2.1 सामाजिक व्यवस्था को कायम करना
  - 3.3.2.2 राजनीतिक व्यवस्था कायम करना
  - 3.3.2.3 संरक्षण वर्ग को दायित्व का ज्ञान करवाना
- 3.3.3 सम्पत्ति के साम्यवाद का स्वरूप

3.4 परिवार या स्त्रियों का साम्यवाद

- 3.4.1 परिवार या पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क
  - 3.4.1.1 संरक्षक वर्ग को पारिवारिक मोह से मुक्त करवाना
  - 3.4.1.2 राज्य में एकता स्थापित करने हेतु
  - 3.4.1.3 महिलाओं की मुक्ति तथा समानाधिकार
  - 3.4.1.4 श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति
  - 3.4.1.5 विवाह संस्था में सुधार
- 3.4.2 पत्नियों के साम्यवाद की विशेषताएँ
  - 3.4.2.1 वैवाहिक संबंधों में अस्थिरता व राज्य का नियन्त्रण
  - 3.4.2.2 पारिवारिक संबंधों के स्थान पर सामाजिक भावना की उत्पत्ति
  - 3.4.2.3 पुरूषों व महिलाओं में समानता।
  - 3.4.2.4 सार्वजनिक पत्नियों एवं सार्वजनिक पत्नियों की योजना।
- 3.4.3 परिवार के साम्यवाद की आलोचनाएँ
  - 3.4.3.1 प्लेटो के आध्यात्मिक रोगी के लिए भौतिक उपचार खोजा है।
  - 3.4.3.2 प्लेटो के साम्यवाद में आत्म विरोधी तत्त्व है।
  - 3.4.3.3 प्लेटो ने इतिहास को उलट दिया है।
  - 3.4.3.4 प्लेटो ने समाज को दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों में बाँट दिया।
  - 3.4.3.5 पत्नी एवं परिवार के बारे में प्लेटो के विचार सही नहीं।
  - 3.4.3.6 जो चीजे सभी की हैं, वे किसी की नहीं होती।
  - 3.4.3.7 अपराधों में वृद्धि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.4.3.8 बिना सम्पत्ति के सुख नहीं।
3.4.3.9 प्लेटो का साम्यवाद अव्यावहारिक।
3.4.3.10 प्लेटो के साम्यवाद में व्यक्ति का बलिदान हो जाता है
3.4.3.11 प्लेटो का साम्यवाद सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दोनों ही रूपों में गलत है।
3.5 सारांश
3.6 अभ्यास प्रश्नावली
3.7 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

3.1 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य प्लेटो के साम्यवाद संबंधी विचारों को जानना है, जिसमें उसका मुख्य लक्ष्य संरक्षण प्रधान वर्ग की कंचन व कामिनी से दूर रखना ताकि वह अपने दायित्वों का निर्वहन भलीभाँति कर सके। इस अध्ययन के तत्पश्चात् आप जान सकेंगे—

- प्लेटो साम्यवाद के माध्यम से सश्रक्षक वर्ग को सम्पत्ति व परिवार से दूर रखता है। उसकी दृष्टि में ये वे साधन हैं जो मनुष्य को पथभ्रष्ट करते हैं,
- आप ये जान सकेंगे कि व्यक्तिगत सम्पत्ति किस प्रकार व्यक्ति में हीनता, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थ, लालच इत्यादि दुर्गुणों का विकास करती है,
- प्लेटो तीसरे वर्ग अर्थात् तृष्णा प्रधान वर्ग की सम्पत्ति रखने का अधिकार देता है लेकिन वह इस बात पर भी बल देता है कि सम्पत्ति का अत्यधिक संकलन या केन्द्रीयकरण नहीं होना चाहिए। इस तरह इस अध्याय के यह भी जानकारी मिलती है कि प्लेटो आर्थिक असमानता का कितना विरोधी था,
- इससे प्लेटो का यह विचार स्पष्ट होता है कि आदर्श राज्य के निर्माण की मुख्य शर्त साम्यवाद के सिद्धान्त का अमल करना है,
- प्लेटो ने साम्यवाद के सिद्धान्त में नारी गरिमा को पूरा सम्मान दिया है तथा पुरुषों के समान अवसर उपलब्ध करवाए हैं।

3.2 प्रस्तावना

प्लेटो का उद्देश्य था कि वह एक आदर्श समाज तथा राज्य की स्थापना करें। न्याय के सिद्धान्त पर आधारित जिस आदर्श राज्य की कल्पना प्लेटो ने की है उसको राजनैतिक स्वार्थों तथा आर्थिक लोभ के दूषित प्रभाव से बचाने की इच्छा भी उसमें काफी थी। इसीलिए उसके द्वारा शिक्षा की योजना प्रस्तुत की गई ताकि संरक्षक वर्ग (विवेक प्रधान तथा साहस प्रधान) नैतिकता की ओर अग्रसर हो सके। प्लेटो का यह तर्क था कि शिक्षा केवल संरक्षक वर्ग ही प्राप्त कर सकता है और शिक्षा से इनमें कर्त्तव्य परायणता, त्याग तथा सहयोग के गुण कायम होंगे। शिक्षा इस वर्ग में इसी भावना को भर देगी कि राज्य की एकता और सुदृढता को बनाये रखना व्यक्ति का एक मात्र धर्म बन जायेगा। प्लेटो को इस बात से सन्देह था कि कहीं यह शासन वर्ग विपरीत पर्यावरण में समाप्त न हो जाये। अत: इस समस्या से बचने के लिए 'साम्यवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ताकि संरक्षक वर्ग परिवार तथा सम्पति के आकर्षण में न फंसे और अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित तरह से कर सके। कंचन व कामिनी अर्थात् सम्पति व परिवार को प्लेटो संरक्षण वर्ग के लिए ऐसी दुर्गम चट्टान मानता है जिससे टकराकर उनके नैतिक जीवन के क्षत-विक्षत होने की पूर्ण आशंका थी। साम्यवाद के सिद्धान्त का उल्लेख रिपब्लिक में किया है।

यहां पर ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्लेटो के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद में बहुत अन्तर है जहाँ प्लेटो के साम्यवाद का आधार संरक्षक वर्ग को अपने कर्त्तव्य परायणता की ओर अग्रसर करता तथा एक आदर्श राज्य की स्थापना करना है। प्लेटो के साम्यवाद में सामाजिक क्रान्ति का संदेश मिलता है, पूंजीवाद और सम्पति की सभा को समाप्त करने का आदेश मिलता है। इस प्रकार प्लेटो के साम्यवाद के दो रूप है- 1. सम्पत्ति का साम्यवाद, 2. पत्नियों का साम्यवाद

Jai Narain Vyas University, Jodhpur (Deemed University) Jaipur Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नेटिलशिप के शब्दों में– ''प्लेटो का साम्यवाद शिक्षा द्वारा उत्पन्न की हुई विचार धारा को प्रभावशाली बनाने वाला तथा उसे नवजीवन एवं नवशक्ति प्रदान करने वाला अनुवरद् यंत्र है।''

3.3 सम्पत्ति का साम्यवाद

व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन प्लेटो के साम्यवाद का एक अभिन्न अंग है। प्लेटो का मत है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति से व्यक्ति में हीनता, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, स्वार्थी, लालच आदि दुर्गुणों का विकास होता है तो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों से विमुख होकर पथभ्रष्ट हो जाता है। अत: (प्लेटो अपने सम्पत्ति के साम्यवाद के द्वारा संरक्षक वर्ग को निजी सम्पत्ति का निषेध करता है। वह धन व सम्पत्ति को अनैतिक बतलाते हुऐ यह कहता है कि एक ही के हाथ में सम्पति तथा शासन दोनों नहीं होना चाहिए अगर ऐसा होता है तो शासक व सैनिक वर्ग में भीषण संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं। अत: सम्पत्ति को तथा शासन को अलग–अलग रखना ही श्रेष्ठकर होगा।)

प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति विषयक साम्यवाद का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि संरक्षक के वर्गों के पास न तो धन होगा, न ही घर होगा और वे सार्वजनिक गृहों में जाकर रहेंगे जहां पर उन्हें समस्त सुविधायें प्रदान कराई जायेगी तथा संरक्षक वर्ग को सामान्य भोजनालय में भोजन करना होगा। इस प्रकार संरक्षक वर्ग के नागरिक ऐसे व्यक्ति होंगे जो सोने चांदी से बिल्कुल मुक्त रहे ताकि वे निस्वार्थ, बिना लालसा से जन तथा राष्ट्रीय हित के लिए कार्य कर सके।

राज्य के तीसरे वर्ग–उत्पादक वर्ग को ही प्लेटो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया है। राज्य के अंगरूप में इस वर्ग का गुण तृष्णा है, अत: सम्पत्ति पैदा करने एवं संचय करने का अधिकार इसे दिया जा सकता है किन्तु प्लेटो इस वर्ग को अधिकार स्वच्छन्द रूप से नहीं देता है। यह वर्ग सम्पत्ति का उत्पादन राज्य के कठोर नियन्त्रण से करेगा। राज्य इस बात का ध्यान रखेगा कि कहीं उत्पादक वर्ग अधिक धन का संचय न करे लें, जिससे की उत्पादन वर्ग में कोई अधिक धनी व कोई अधिक निर्धन बन जाये। कतिपय हाथों में धन का बाहुल्य होना तथा बहुसख्यक लोगों का आर्थिक अभाव में पीड़ित होना। ये दोनों स्थितियां प्लेटो के आदर्श राज यके लिए अवांछनीय है। वह आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत आधार पर उत्पादन एवं राज्य नियन्त्रण का समर्थक है।

इसके अतिरिक्त प्लेटो ने इस बात पर भी बल दिया कि कहीं उत्पादन या धन का संचय अनुचित साधनों द्वारा तो नहीं किया जा रहा है। उसने ऊंची ब्याज दर अधिक मुनाफा रखकर किया गया सम्पत्ति का संचय अनुचित माना है। प्लेटो ने यह भी बताया है कि कृषि व्यक्तिगत आधार पर करनी चाहिए और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व होना चाहिए, भूमि तो प्रकृति की देन है अत: यह सभी को समान रूप से मिलनी चाहिए। सभी प्रकार की सम्पत्ति के उपयोग के बारे में प्लेटो ने यह विचार व्यक्त किया है कि यह उपयोग किसी भी तरह समाज के लिए हानिकारक सिद्ध नहीं होना चाहिए। समाज के सभी वर्गों के हित को ध्यान में रखकर सम्पत्ति की व्यवस्था करनी चाहिए। क्योंकि सम्पत्ति समाज द्वारा पैदा होती है।

3.3.1 सम्पत्ति के साम्यवाद के सिद्धान्त की व्याख्या

प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की व्याख्या हम दो आधारों से प्रस्तुत कर सकते हैं–

3.3.1.1 दार्शनिक व्याख्या :– प्लेटों के अनुसार उन प्रस्थितियों को दूर करना है जो आत्मा के विकास में बाधा डालती है। क्योंकि आत्मा का विकास परिस्थितियों के अनुसार होता है अगर वे अच्छी है तो अच्छी आत्मा का विकास सम्भव हो सकता है और वे बुरी है तो बुरी आत्मा का विकास होता है। साम्यवाद के द्वारा अवांछित तत्त्वों को निकालना है जिससे आत्मा का विकास सही तरीके से हो सके बार्कर प्लेटो के साम्यवाद का अर्थ आध्यात्मिक साधनों की क्रियाओं के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना तथा उनके कार्य क्षेत्रों का निर्माण करना है। प्लेटो का कहना है कि आदर्श राज्य का निर्माण आदर्श मन से तथा आदर्श मन का निर्माण सामाजिक वातावरण से होता है। यदि वातावरण में व्यक्ति की निम्न तृष्णा का विकास होता है तो व्यक्ति में तृष्णा व स्वार्थता की भावना आयेगी। इसे मन का विकास किया जाये जिससे तृष्णा का विकास नहीं हो सके। सम्पत्ति का संग्रह तृष्णा है जो आत्मा के विकास में बाधक है क्योंकि आर्थिक प्रलोभन व्यक्ति की सबसे बड़ी लालसा होती है। इसीलिए मन का उचित दिशा में विकास करने के लिए सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करना चाहिए ताकि उच्चज्ञान का विकास हो सके। प्लेटो के अनुसार आत्मा के तीन अंग है– विवेक, साहस तथा तृष्णा इन्ही के आधार पर प्लेटो तीन वर्गों का निर्माण करता है तथा विवेक प्रधान व साहस प्रधान वर्ग को संरक्षक बनाता है। उसका मत है कि इस प्रकार की व्यवस्था करना कि संरक्षक वर्ग से तृष्णा पूर्णरुपेण समाप्त हो जाये और यह कार्य साम्यवाद द्वार किया जायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3.1.2 राजनीतिक व्याख्या :–प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की राजनीतिक आधार पर भी व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है, जिसके अनुसार प्लेटो यह बतलाता है कि राजनीतिक व आर्थिक शक्ति का एक स्थान पर केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए क्योंकि अगर ऐसा होगा तो इससे भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, तृष्णा, प्रतिर्स्पधा, हीनता के भाव जागृत होंगे और संरक्षक वर्ग अपने कर्त्तव्यों से विमुक्त हो जायेगा। अत: प्लेटो कहता है कि आर्थिक व राजनीतिक शक्ति को पृथक–पृथक रखा जाना चाहिए। इसके लिए वह यह बतलाता है कि राजनैतिक शक्ति संरक्षक वर्ग के पास होनी चाहिए तथा आर्थिक शक्ति तृष्णा प्रधान (उत्पादक) वर्ग के पास रहनी चाहिए।

3.3.2 सम्पत्ति के साम्यवाद का उद्देश्य

प्लेटो के साम्यवाद के उद्देश्यों का निम्नलिखित रुप से उल्लेख किया जा सकता है –

3.3.2.1 सामाजिक व्यवस्था कायम करना– प्लेटो आत्मा के तीन अंग बताता है, विवेक, साहस तथा तृष्णा तथा इन्हीं के आधार पर वह वर्ग व्यवस्था की परिकल्पना करता है। प्लेटो का तर्क है कि विवेक प्रधान वर्ग का कार्य है कि वे प्रशासन का संचालन करें, साहस प्रधान वर्ग का कार्य है कि वह रक्षा सम्बन्धी कार्य करे तथा तृष्णा प्रधान वर्ग उत्पादन का कार्य करें। प्लेटो पहले दो वर्गों को संरक्षक वर्ग मानता है तथा उन्हें सम्पत्ति का अधिकार प्रदान करता है। वह इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था कायम करना चाहता है जिसमें किसी भी प्रकार की प्रतिस्पर्धा नहीं हो तथा समन्वय व सद्भावना की स्थथना हो।

3.3.2.2 राजनैतिक व्यवस्था कायम करना– एक इस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था स्थापित करना जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास हो सके और वह पूर्ण आदर्श बन सके तथा राज्य एक आदर्श राज्य बने। इसके लिए उपयुक्त वातावरण प्रदान करना चाहता है।

3.3.2.3 संरक्षण वर्ग को दायित्व का ज्ञान कराना– संरक्षण प्रधान वर्ग में त्याग, सहयोग व समन्वय की भावना का का विकास करना है।

3.3.3 सम्पत्ति के साम्यवाद का स्वरूप

प्लेटो ने व्यक्ति की आत्मा के तीन अंग बताये हैं– विवेक, साहस व तृष्णा प्लेटो ने इन्हीं के आधार पर तीन वर्गों की स्थापना की है तथा इनके पृथक–पृथक कार्य भी निर्धारित कर दिये हैं। प्लेटो यह बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा एक ही कार्य किया जाना चाहिए तथा उस व्यक्ति को अपने कार्य के प्रति पूर्णतया दक्षता तथा कुशलता प्राप्त कर लेने चाहिए। प्लेटो कहता है कि व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह सहयोग की भी बात करता है। प्लेटो को इस बात का सन्देह है कि यदि अभिभावक वर्ग के पास सम्पत्ति या परिवार होगा तो वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह सही तरह से नहीं कर पायेगा क्योंकि इससे उसके मन में अपना–पराया, तेरा मेरा, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, हीनता आदि के भाव विकसित हो जायेंगे जिससे समाज में अव्यवस्था, अराजकता, असंतोष का वातावरण कायम होगा तथा व्यक्ति में आध्यात्मिक गुणों का विकास नहीं होगा तो इसके परिणाम स्वरूप एक आदर्श राज्य तथा आदर्श समाज की स्थापना भी असम्भव होगी। अत: प्लेटो निजी सम्पत्ति के लिए अभिभावक को प्रतिबन्धित करता है और यह कहता है कि वे सार्वजनिक गृहों में रहे, सार्वजनिक भोजनालय में भोजन करे और यहीं पर रहे। आवश्यकता की पूर्ति का कार्य उत्पादक वर्ग (तृष्णा प्रधान वर्ग) करेगा। इस प्रकार प्रशासक वर्ग को रोटी, कपड़ा व मकान मिलेगा। यद्यपि यह वर्ग सोने व चांदी का वर्ग कहलाते थे पर उनको सोने चांदी को छूने पर पाबन्द कर दिया था। इस तरह एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिससे व्यक्ति में प्रलोभन नहीं आएंगे और बिना किसी लाभ के कार्य करते रहेगें।

प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :–

- प्लेटो का साम्यवाद प्राकृतिक नहीं, अपितु नैतिक है।
- सम्पत्ति का साम्यवाद सामान्य साम्यवाद नहीं, अपितु सीमित साम्यवाद है।
- प्लेटो का साम्यवाद एक तरफ सत्यवाद है, तो दूसरी तरफ कुलीनवाद है।

3.4 परिवार या स्त्रियों का साम्यवाद

प्लेटो ने अपने साम्यवाद सम्बन्धित विचारों में एक तरह निजी सम्पत्ति के उन्नमूलन की बात पर बल दिया है। ठीक इसी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार अपने स्त्रियों के साम्यवाद में वह परिवार उन्नमूलन की बात करता है। प्लेटो का विचार है कि पत्नी या परिवार तथा सम्पत्ति दोनों एक ही मूल के बीज हैं जो व्यक्ति में स्वार्थता तथा संग्रह की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं तथा व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य से दूर जाने को विवश करते हैं। अत: प्लेटो अपने साम्यवाद के सिद्धान्त से अभिभावक वर्ग (प्रशासक व रक्षक वर्ग) को निजी सम्पत्ति तथा परिवार तथा स्त्री से वंचित कर देता है।

प्लेटो विश्व के उन दार्शनिकों में से है जिन्होंने राजनीतिक जीवन में स्त्रियों को समुचित स्थान देने के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। प्लेटो ने इस बात पर विशेष बल देते हुए यह बतलाता है कि नारी में पुरुष के समान क्षमता है और वह अपने गुणों के आधार पर कोई भी कार्य कर सकती है अर्थात् नारी विवेक गुण के आधार प्रशासन का, साहस रक्षा का तथा तृष्णा उत्पादन का कार्य कर सकती है। इस तरह प्लेटो साम्यवाद के रूप में एक योजना प्रस्तुत की जो स्त्रियों को घर की चार दीवारियों के घुटनमय जीवन से बहार निकालकर राजनैतिक व सामाजिक जीवन की स्वच्छ हवा में श्वास लेते हैं। प्लेटो का यह विचार यूनान की समस्त नारी के लिए नहीं था यह तो केवल अभिभावक वर्गकी नारी तक सीमित था। इस तरह प्लेटो ने नारी को राजनैतिक में भाग लेने के लिए जो अधिकार दिया है, काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यह विचार 3000 वर्ष पूर्व दिया गया है जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

यह प्लेटो जैसे दार्शनिक का ही साहस हो सकता है कि परिवार जैसे व्यक्ति की मूलभूत संस्था पर वज्राघात कर सके और उसे नष्ट करने का सुझाव देकर उसके स्थान पर एक राज्य-परिवार की स्थापना करने की योजना प्रस्तुत कर सके।

प्लेटो की यह धारणा थी कि परिवार व व्यक्तिगत सम्पत्ति एक दूसरे से जुड़े हुए है। परिवार वह संस्था है जो व्यक्ति को सम्पत्ति उपार्जन के लिए बाह्य करती है। अपनी पत्नी, बच्चों तथा अन्य प्रियजनों के लिए सम्पत्ति जुटाने हेतु व्यक्ति को बाह्य ही नहीं होना पड़ता। बल्कि रक्षा करना उसको पवित्र व नैतिक प्रतीत होने लगता है। अपने परिवार के लिए अधिकाधिक सम्पत्ति जुटाने का प्रयत्न व कामना प्रत्येक व्यक्ति करता है। बार्कर के शब्दों में- ''संरक्षक वर्ग के पारिवारिक जीवन का उन्नमूलन करना प्लेटो को व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्नमूलन का एक अवश्यम्भावी उत्साहय प्रतित होता है। अत: यदि संरक्षक वर्ग का ध्यान सश्मपत्ति संचय वृत्ति से हटाना है तो यह आवश्यक है कि इस संचय वृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली परिवार संस्था का उन्नमूलन कर दिया जाये। ऐसा होने पर न बांस छिगा न बांसुरी बजेगी।''

बोसांके के शब्दों में- ''संरक्षण वर्ग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्नमूलन का उत्साहय मात्र है जो कि विचारों में एकता की आवश्यक शर्त है।''

3.4.1 परिवार या पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

प्लेटो ने अपने परिवार सम्बन्धी साम्यवाद की योजना के पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की है : -

3.4.1.1 संरक्षक वर्ग को पारिवारिक मोह से मुक्त करवाना :- प्लेटो अपने परिवार के साम्यवाद के आधार पर संरक्षक वर्ग को परिवार के मोह से मुक्त करवाने की बात कहता है और उसका तर्क है कि परिवार ही वह संस्था है जो व्यक्ति में संचय की प्रवृत्ति, अपना पराया, लोभ, लालच आदि दुर्गुणों का विकास करती है। अत: जब अभिभावक वर्ग को इस पारिवारिक मोह से मुक्त कर दिया जायेगा तो वह अपने कर्त्तव्यों का पालन भली भांति रुप से कर सकेगा।

3.4.1.2 राज्य में एकता स्थापित करने हेतु :- प्लेटो के अनुसार परिवार व्यक्ति में मेरे-तेरे की भावना को बढ़ावा देता है। जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति अपने तथा अपने परिवार के हितों की पूर्ति करने हेतु तथा सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। प्लेटो का यह कहना है कि राज्य की एकता के लिए पारस्परिक संघर्ष का अन्त होना आवश्यक है। इस प्रकार प्लेटो संरक्षक वर्ग के स्त्री-पुरुष को एक ही परिवार में परिणित करके राजनीतिक एकता की प्राप्ति चाहता है। प्लेटो के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए **बार्कर** ने लिखा है **'परिवार के उन्नमूलन का दिन राज्य की एकता के उद्घाटन का दिन होगा।'** व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता तथा दोनों के लिए न्याय का दिन होगा।

3.4.1.3 महिलाओं की मुक्ति तथा समानाधिकार :- प्लेटो अपने परिवार के साम्यवाद के माध्य से महिलाओं की तथा समानाधिकार की बात पर बल देता है। प्लेटो के समय एथेन्स में सार्वजनिक जीवन केवल पुरुषों तक ही सीमित था। महिलाओं का कार्य घर की चार दीवार में रहकर सन्तान उत्पन्न करना व उनका पालन-पोषण करता था। प्लेटो के अनुसार ''परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य की प्रतिभा का हनन होता है। पत्नि की मानसिक शक्ति चौके चूल्हे में बर्बाद हो जाती है। अत: प्लेटो नारी को अपने इस जीवन से निकालना चाहता था।'' इसके लिए प्लेटो ने नारी को पुरुषों के समान कार्य करने के लिए प्रेरित किया और बताया कि

Jan Vikas Bharati Institute (Deemed University), Aarrah

जिस प्रकार पुरुष्ज्ञ में विवेक, साहस व तृष्णा पायी जाती है ठीक इसी प्रकार नारी में भी यह समस्त गुण पाये जाते है। अत: नारी को भी अपने गुणों के अनुरूप कार्य करना चाहिए। इस तरह नारी को अक्षम मान बैठना तथा अन्य क्षेत्री में भेद बरतना प्लेटो को उचित प्रतित नहीं होता। प्लेटो यहां पर कुत्ता-कुत्ती का उदाहरण देते हुए यह कहता है कि जिस प्रकार कुत्ता घर की देखभाल अच्छी तरह से कर सकता है। उसी प्रकार कुत्ती भी यह कर सकती है। **प्रो. कासमैन**- ''उसके शासक वर्ग में ऐसी स्त्रियों की आवश्यकता थी जो पुरुषों के समान है।''

3.4.1.4 श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति :- प्लेटो का विचार है कि स्त्री पुरुषों का संसर्ग भी व्यक्तिगत इच्छाओं की तृप्ति के लिए नहीं वरन् राज्य के व्यापक हितों को दृष्टि में रखकर होना चाहिए। राज्य के हितों के लिए यह आवश्यक है कि आने वाली नस्ल श्रेष्ठ हो। इसके लिए वह कुछ उपाय बतलाता है। उचित आयु के सर्वोत्तम स्त्री पुरुषों को विवाह के सूत्र में बंधना चाहिए। प्लेटो का मत है कि राज्य को भी उसी सिद्धान्त को अमल में लाना चाहिए जिस पर की एक पशुपालक करता है अर्थात् एक श्रेष्ठ नर को उतनी मादाओं को एक श्रेष्ठ मादा की उतने नरों के साथ जोड़ दिया जाये जितने की वह सुगमता पूर्वक सम्भाल सके। इस प्रकार क्षणिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले बच्चों का पालन-पोषण राज्य अपने शिशु गृहों में करेगा। **बार्कर** के अनुसार प्लेटो के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा भली प्रकार से हो। अपितु उसका जन्म भी उचित रूप से हो और स्वस्थ पूर्वजों से होना चाहिए।

3.4.1.5 विवाह संस्था में सुधार :- प्लेटो विवाह संस्था में समुचित सुधार चाहता था। वह यह नहीं मानता था कि विवाह एक नैतिक या पवित्र बंधन है। उसके विवाह का सीधा साधा प्रयोजन यही होता है कि इसके माध्यम से सन्तान प्राप्त की जा सकती है। अत: इस संस्था में भी राज्य के हित को दृष्टि में रखकर संशोधन करना उसे उचित प्रतीत हुआ है। **कासमैन** ने विवाह संस्था की समाप्ति को स्त्रियों के लिए अधिकारों की प्राप्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम माना है।

3.4.2 पत्नियों के साम्यवाद की विशेषतायँ

प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद संबंधी अवधारणा की निम्नलिखित विशेषताएं सामने आती हैं :-

3.4.2.1 वैवाहिक सम्बन्धों में अस्थिरता व राज्य का नियन्त्रण :- प्लेटो विवाह को पवित्र बंधन नहीं मानता है। उसका मत है कि विवाह का उद्देश्य केवल संतान उत्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त प्लेटो यह भी बतलाता है कि यह वैवाहिक सम्बन्ध स्थिर नहीं होते हैं तथा यह तब तक बने रहते है कि जब तक संतान की उत्पत्ति हो जावे उसके बाद इसको तोड़ दिया जाता है। अगर ऐसा नहीं होता तो यह राज्य के हित में नहीं है क्योंकि फिर इससे परिवार नामक संस्था की शुरुआत होती, जिसके कारण शासक वर्ग अपने कर्त्तव्यों से विमुक्त हो जायेगा।

3.4.2.2 पारिवारिक सम्बन्धों के स्थान पर सामाजिक भावना की उत्पत्ति :- प्लेटो परिवार को एक आदर्श राज्य के निर्माण में बाधक मानता है उसका तर्क था कि परिवार, व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों से विमुक्त कर देता है। अत: इसके कारण प्लेटो पारिवारिक सम्बन्धों के स्थान पर सामाजिक भावना की बात पर बल देता है।

3.4.2.3 पुरुषों व महिलाओं में समानता :- प्लेटो अपने परिवार के साम्यवाद में पुरुषों तथा महिलाओं में समानता कायम करना चाहता है। उसका मत था कि नारी का कार्य क्षेत्र घर की चार दीवारी तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह बहुत व्यापक तथा विस्तृत है। नारी में भी पुरुष के समान विवेक, साहस व तृष्णा के गुण पाये जाते हैं। अत: उसके कारण नारी को भी अपने गुणों के अनुरूप कार्य करना चाहिए, अगर नारी गें विवेक प्रधानता है तो उसे पुरुषों के समान प्रशासनिक कार्यों गें भाग लेना चाहिए। इस प्रकार प्लेटो स्त्रियों के साम्यवाद का प्रावधान कर एक ओर तो स्त्रियों के लिए स्वतन्त्रता व स्वतन्त्र जीवन का अधिकार प्राप्त करना चाहता था और दूसरी ओर वह राज्य के आधे भाग (महिलाओं) की उपयोगी सेवाएं राज्य के लिए उपलब्ध करना चाहता था। प्लेटो का यह कहना था कि एक समाज में नारी व पुरुष की संख्या लगभग आधी होती है और जब समाज का एक आधा भाग उपेक्षा का जीवन जीयेगा तो वह समाज कभी विकास नहीं कर सकता है।

3.4.2.4 सार्वजनिक पत्तियों व सार्वजनकि पत्नियों की योजना :- प्लेटो अपने परिवार के साम्यवाद में सार्वजनिक पति तथा पत्नी की योजना प्रस्तुत करता है। उसकी यह धारणा है कि एक पति सबके लिए तथा एक पत्नी सबके लिए होना चाहिए इससे जो सन्तान उत्पन्न होती वह श्रेष्ठ व अच्छी होगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.4.3 परिवार के साम्यवाद की आलोचनाएं

प्लेटो के इस सिद्धान्त की आलोचना उसके प्रिय शिष्य अरस्तू तक ने की है, जो निम्नलिखित है–

3.4.3.1 प्लेटो ने आध्यात्मिक रोगी के लिए भौतिक उपचार खोजा है :– अरस्तू के अनुसार प्लेटो ने नैतिक जीवन की रूग्णता की दूर करने के लिए नैतिक उपचारों पर पूर्ण रूप से आस्था न रख, भौतिक जीवन की वस्तुओं का अवलम्बन लेकर नैतिक जीवन की क्रूर शल्यचिकित्सा करने का निर्मम एवं अनावश्यक प्रयत्न किया। अरस्तू की मान्यता है कि– ''नैतिक रुग्णता के लिए नैतिक औषधियाँ ही पर्याप्त है।''

3.4.3.2 प्लेटो के साम्यवाद में आत्म विरोधी तत्त्व है :– प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना इसी आधार पर भी की जाती है कि इसमें आत्म विरोधी तत्त्व कुछ अधिक ही है। जहां एक तरफ प्लेटो विवाह के सन्दर्भ में बात करता है। साथ ही उसको अस्थायी बताकर अस्वीकृत करता है।

3.4.3.3 प्लेटो ने इतिहास को उलट दिया है :– अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना करते हुए यह कहा है कि उसने इतिहास को उलट दिया है अथार्त् प्लेटो ने जिस परिवार रहित, अस्थाई विवाह, सार्वजनिक पति व पत्नी की बात कही है वह आदिम मानव समाज में पायी जाती थी, जब वह जंगल में रहता था, कंद मूल खाकर पेट भरता था तथा निवस्त्र व पशुतुल्य जीवन बीताता था।

3.4.3.4 प्लेटो ने समाज को दो प्रतिद्धन्धी गुटों में बांट दिया है :– प्लेटो के विचारों ने समाज को स्वतन्त्र तथा परतन्त्र, दो भाग में बांट दिया है क्यों कि उसके साम्यवाद का सिद्धान्त केवल अभिभावक वर्ग (विवेक प्रधान व साहस प्रधान) वर्ग तक सीमित है वही दूसरी तरफ तृष्णा–प्रधान (उत्पादक वर्ग) को उसने मुक्त छोड़ दिया है। इस तरह अभिभावक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग शोषित हो गया।

3.4.3.5 पत्नी व परिवार के बारे में प्लेटो के विचार सही नहीं :– प्लेटो अपने साम्यवाद में सार्वजनिक पत्नी की बात करता है और यह बतलाता है विवाह अस्थाई तौर पर ही करना चाहिए तथा ये सम्बन्ध तब तक बने रहे जब तक सन्तान उत्पन्न न हो जाये। अगर स्थाई रूप से सम्बन्ध कायम कर दिया जाये तो परिवार का निर्माण हो जायेगा। जिसका कि प्लेटो घोर विरोध करता है और इसके सन्दर्भ में यह बताता है कि यह व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों से विमुक्त कर देता है। इस प्रकार के पत्नी व परिवार के सन्दर्भ में प्लेटो के विचार पूर्णतया गलत हैं, क्योंकि परिवार तो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की प्राथमिक पाठशाला है, जिसमें रहकर ही व्यक्ति बहुत कुछ सीखता है।

3.4.3.6 जो चीजे सभी की है, वे किसी की नहीं होती :– प्लेटो समस्त राष्ट्र को एक परिवार के रूप में मानता है और यह बताता है कि इसमें जो भी वस्तुयें हैं वे सभी के लिए है लेकिन अरस्तू इसका विरोध करता है और कहता है कि जो चीजे सभी की है वे किसी की नहीं होती है क्योंकि उनके प्रति एक व्यक्ति का व्यक्तिगत लगाव नहीं होती है।

3.4.3.7 अपराधों में वृद्धि:– अरस्तू का मत है कि प्लेटो ने पत्नी के परिवार के साम्यवाद के सन्दर्भ में अपने जो विचार रखे है उनसे अपराधों में वृद्धि होगी क्योंकि प्लेटो परिवार को समाप्त करने और बच्चों के पालन पोषण की व्यवस्था सार्वजनिक पालन गृह में करने की बात कहता है लेकिन इसी स्थिति में एक व्यक्ति आदर्श नागरिक नहीं बन सकता है। क्योंकि परिवार की एक वह संस्था है, जो व्यक्ति में नैतिकता का विकास करती है। अत: इसी स्थिति में समाज में अपराधी वर्ग की एकबड़ी सेना खड़ी हो जायेगी।

3.4.3.8 बिना सम्पत्ति के सुख नहीं :– प्लेटो अभिभावक वर्ग के लिए सम्पत्ति को पूर्णत्या निषेध कर देता है जो कि गलत है क्योंकि बिना सम्पत्ति के सुख नहीं होता है। अत: जब सम्पत्ति नहीं होगी तो व्यक्ति किसी भी प्रकार का कार्य सही ढंग से नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपने जीवन की अन्य आवश्यकताओं व सुख सुविधा की पूर्ति नहीं कर पायेगा। इससे व्यक्ति का जीवन भी नीरस हो जायेगा।

3.4.3.9 प्लेटो का साम्यवाद अव्यवहारिक :– अरस्तू के अनुसार प्लेटो का साम्यवाद अव्यवहारिक है, जिसको हम व्यवहारिक जीवन के धरातल पर लागू नहीं कर सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रो. बार्कर ने प्लेटो के साम्यवाद के बारे में निम्नलिखित आलोचनायें प्रस्तुत की हैं–

3.4.3.10 प्लेटो के साम्यवाद में व्यक्ति का बलिदान हो जाता है:– बार्कर के अनुसार प्लेटो के साम्यवाद में व्यक्ति का बलिदान हो जाता है क्यों कि इसमें व्यक्ति न तो सुख से जीवन व्यक्त कर सकता है,न ही अपनी कोई सम्पत्ति रख सकता है, नहीं अपना परिवार, रख सकता है जो व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त प्लेटो यह बताता है कि व्यक्ति को सार्वजनिक जीवन बिताना चाहिए, सार्वजनिक ग्रहों में रहना चाहिए, सार्वजनिक भोजनालयों में भोजन करना चाहिए जिन पर उत्पादक वर्ग का नियन्त्रण होगा। इस पर से प्लेटो ने अपने साम्यवाद में व्यक्ति को बलि का बकरा बनाया है।

3.4.3.11 प्लेटो का साम्यवाद सैद्धान्तिक व व्यवहारिक दोनों ही रूपों में गलत :– प्रो. बार्कर का मानना है कि प्लेटो साम्यवाद न केवल व्यवहारिक रूप से गलत है, अपितु यह सैद्धान्तिक रूप से भी गलत व त्रुटिपूर्ण है।

3.5 सारांश

सारांश में यही का जा सकता है कि प्लेटो के साम्यवाद सम्बन्धी विचार बहुत क्रान्तिकारी तथा विवादास्पद हैं। यद्यपि प्लेटो का यह विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावी है, जिसका मुख्य उदेश्य संरक्षण प्रधान वर्ग को दायित्व बोध करना तथा उन्हें सही दिशा की ओर अग्रसित करना तथा आदर्श राज्य का निर्माण हो सके। अपने इस विचार में नारी स्वतंत्रता व गरिमा पर बल देकर उसकी प्रतिष्ठा को कायम करने का प्रयास किया है।

3.6 अभ्यास अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सम्पत्ति के साम्यवाद की व्याख्या कीजिए।
2. प्लेटो के परिवार या पत्नियों के साम्यवाद की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सम्पत्ति के साम्यवाद की दार्शनिक व्याख्या कीजिये।
2. सम्पत्ति के साम्यवाद का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।श
3. पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क स्पष्ट कीजिए।
4. पत्नियों के साम्यवाद के माध्यम से प्लेटो नारी समता की बात किस प्रकार करता है ?
5. पत्नियों का साम्यवाद राज्य की एकता में किस प्रकार सहायक है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो ने साम्यवाद के सिद्धान्त का उल्लेख कौन-सी रचना में किया है।
2. साम्यवाद के सिद्धान्त का मूल उद्देश्य क्या था ?
3. प्लेटो ने साम्यवाद को किन भागों में बांटा है ?
4. प्लेटो के अनुसार आत्मा के गुण कौन से होते है ?
5. प्लेटो संरक्षक वर्ग में किसे शामिल करता है ?

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्र देव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक प्लेटो का भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना''
ओ.पी. गाबा ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा
मयूर पेपर बॉक्स, नौस्ड''
डी.बी. माथुर ''प्रमुख राजनीतिक विचारक
नागेश्वर प्रसाद ''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' जयराज प्रकाशन बरेली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-4

प्लेटो का दार्शनिक राजा का सिद्धान्त

संरचना

4.1 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 दार्शनिक राजाओं का सिद्धान्त

4.4 दार्शनिक राजा के गुण

- 4.4.1 विवेक सम्मत प्राणी
- 4.4.2 सत्य की अनुगामी
- 4.4.3 न्याय का प्रेमी
- 4.4.4 नि:स्वार्थी
- 4.4.5 आत्म नियन्त्रण
- 4.4.6 स्मरण शक्ति
- 4.4.7 शान्त स्वभाव

4.5 दार्शनिक शासक के कर्त्तव्य

- 4.5.1 प्रत्येक व्यक्ति को एक विशिष्ट कार्य सौंपना
- 4.5.2 भावी शासकों की शिक्षा का संचालन करना
- 4.5.3 धार्मिक विश्वासों को नियन्त्रित करना
- 4.5.4 न्याय की स्थापित करना

4.6 दार्शनिक शासकों पर प्रतिबन्ध

- 4.6.1 राज्य में धन और निर्धनता का प्रवेश रोकना
- 4.6.2 राज्य की सीमा में वृद्धि या कमी को रोकना
- 4.6.3 न्याय प्रशासन को कायम रखना
- 4.6.4 शिक्षा पद्धति को बनाए रखना।

4.7 दार्शनिक शासक का सिद्धान्त आलोचनात्मक मूल्यांकन

- 4.7.1 निरंकुश शासक का मार्ग प्रशस्त करना।
- 4.7.2 नागरिकों की स्वतन्त्रता और स्वविवेक का अन्त।
- 4.7.3 प्रजातान्त्रिक समानता के सिद्धान्त की अवहेलना।
- 4.7.4 विरोधाभास से परिपूर्ण।
- 4.7.5 शासन के लिए आवश्यक विषय
- 4.7.6 दार्शनिक वर्ग का शासन असन्तुलित और अहितकर
- 4.7.7 काल्पनिक अवधारणा।
- 4.7.8 सामाजिक मान्यताओं को कोई स्थान नहीं।

4.8 सारांश

4.9 अभ्यास प्रश्नावली

4.10 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्लेटो के दार्शनिक राजा के सिद्धान्त को जानना है जिसके लिए ही प्लेटो अपने सम्पूर्ण दर्शन एवं विचारों का प्रतिपादन करता है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे —

- प्लेटो का यह विचार की दार्शनिक को ही राजा बनने का अधिकार प्राप्त है,
- राजा बनने के लिए निर्धारित योग्यताओं का होना अत्यंत आवश्यक है, जिनसे ही राज्य की उन्नति हो सकती है,
- प्लेटो द्वारा प्रस्तुत राजा के कर्त्तव्य भी जान सकेंगे,
- साथ ही साथ प्लेटो राजा पर पर्याप्त मात्रा में अंकुश भी लगाता है ताकि वह समाज में न्याय की स्थापना कर सके,
- इस अध्याय में प्लेटो के दार्शनिक राजा के विचार को अब अलोकतांत्रिक व स्वतन्त्रता तथा समानता का विरोधी करार देकर आलोचना भी की गई, उसे भी समझने का अवसर मिलेगा।

4.2 प्रस्तावना

प्लेटो को प्राचीन राजनैतिक चिन्तन का गुरु माना जाता है। उसने तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए जो विचार प्रस्तुत किये थे वे अपने आप में बहुत महत्त्व रखते हैं। प्लेटो का उद्देश्य एक आदर्श राज्य की स्थापना करना था। तत्कालीन यूनान के नगर राज्यों में अराजकता व्याप्त थी और इन नगर राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र पाया जाता था, परन्तु प्लेटो ने इस शासन व्यवस्था को अयोग्य, भ्रष्ट, अकुशल आदि कहकर इसकी कड़ी आलोचना की। उसका तर्क था कि हर एक व्यक्ति या आम नागरिक शासन के बारे में इतना नहीं जानता है कि वह शासन का भागीदार बन सके। प्लेटो का मत था कि व्यक्ति में तीन गुण पाये जाते हैं विवेक, साहस व तृष्णा और इन्हीं आधारों पर वह तीन वर्गों का निर्माण करता है। विवेक प्रधान वर्ग का कार्य शासन व्यवस्था का संचालन करें। उसका यह भी विचार था कि व्यक्ति अपने गुणों के अनुसार कार्यों का सम्पादन तय करता हैं, तो वही सच्चा न्याय है।

प्लेटो के सिद्धान्तों में दार्शनिक राजा का सिद्धान्त भी काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। प्लेटो ने अपने इस सिद्धान्त में इस बात पर बल दिया कि शासक बनने का अधिकारी वही व्यक्ति है जो दार्शनिक हो, उसने इसको आदर्श राज्य का आधार या विशेषता माना और बताया कि इसके बिना एक आदर्श राज्य की स्थापना नहीं की जा सकती है। प्लेटो ने अपने इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम लागू करने के लिए सिसली की तीन यात्रायें की और वहां के शासक को दार्शनिक बनाने का प्रयास किया लेकिन असफलता ही उसके हाथ लगी। रिपब्लिक में उसने इस विश्वास को दृढ़ता पूर्वक रखते हुए राजकीय शक्ति व दार्शनिक बुद्धिमता के संगम पर बल देते हुए घोषणा की है- ''हमारे नगर (राज्यों) में तब तक कष्टों का अन्त नहीं होगा, जब तक दार्शनिक राजा नहीं होगें या इस संसार के राजाओं और राजकुमारों में दर्शन की भावना या सत्ता न होगी।''

फॉस्टर के अनुसार- ''प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन में दार्शनिक राजा की धारणा सबसे अधिक मौलिक है।''

4.3 दार्शनिक राजाओं का सिद्धान्त

प्लेटो के सम्पूर्ण दर्शन का सार दार्शनिक राजाओं का शासन है। उसके अनुसार राज्य तभी आदर्श रूप प्राप्त कर सकता है जबकि उसका शासन योग्य, कुशल, ज्ञानी एवं स्वार्थ रहित दार्शनिक शासकों के हाथों में हो। रिपब्लिक में प्रतिपादित शिक्षा और साम्यवाद के सिद्धान्तों की अन्तिम परिणति एक दार्शनिक शासक के निर्माण में होती है। दार्शनिक राजाओं के शासन का यह सिद्धान्त प्लेटो का एक अत्यन्त प्रमुख और सबसे मौलिक सिद्धान्त है।

प्लेटो के दार्शनिक राजा का सिद्धान्त उसकी दो मान्यताओं का तार्किक परिणाम है। उसी पहली मान्यता यह है कि आत्मा या व्यक्ति में तीन तत्व पाये जाते हैं। ये तत्व या गुण हैं- विवेक, साहस तथा इसके अलावा वह यह भी बतलाता है कि इन तीनों गुणों में से एकगुण व्यक्ति में अधिक पाया जाता है। इन्हीं के आधार पर वह वर्गों का निर्माण तथा कार्यों का निर्धारण करता है। विवेक प्रधान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्ग (शासन संचालन) साहस प्रधान (सुरक्षा) तथा तृष्णा प्रधान वर्ग (उत्पादन) सम्बन्धी कार्य। अत: जिस प्रकार विवेक (बुद्धि) किसी श्रेष्ठ व्यक्ति का पूर्ण स्वामी होता है, उसी प्रकार विवेक के प्रतीक दार्शनिक को भी आदर्श राज्य का शासन होना चाहिए।

प्लेटो की दूसरी मान्यता यह है कि–''सद्गुण ही ज्ञान है।'' अर्थात् विश्व में जो कुछ भी वस्तुनिष्ठ सत्य है। उसका ज्ञान तर्कसंगत विवेक से हो सकता है। प्लेटो का विचार है कि मानव की इच्छा गौण है। मानव क्या चाहतें है यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह सत्य के कितने अंश को देख पाते हैं। परन्तु कोई वस्तु इस लिए सत्य नहीं हो जाती कि लोग उसे चाहते हैं।

प्लेटो का दार्शनिक राजा का सिद्धान्त केवल तार्किक मान्यताओं पर ही नहीं, अपितु व्यवहारिक अनुभव पर भी आधारित है। प्लेटो के समय में एथेन्स के प्रजातन्त्र ने तथा स्पार्टा के सैनिक तन्त्र ने तथा सिराक्यूज निरंकुशतंत्र के दुर्गुणों से पीड़ित थे। शासक अज्ञानी, स्वार्थी और संकीर्ण होते थे। एंथेस जैसे नगर राज्य में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के नाम पर लॉटरी प्रणाली के द्वारा शासकों का चुनाव होता था जो न केवल गलत था। अपितु इससे अज्ञानी तथा स्वार्थी शासक सत्तारूढ़ हो जाते थे। जिन से प्लेटो ने व्यंग्य भरे शब्दों पर प्रहार किया है और कहा है कि बढई व दर्जी होने के लिए कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। परन्तु शासक होने के लिए नहीं।

अत: नगर राज्यों को विनाश से बचाने के लिए मानवता के कल्याण के लिए तथा शासन से अज्ञान, स्वार्थपरता और अनिपुणता को दूर करने के लिए प्लेटो ने दार्शनिक राजा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार एक जहाज को योग्य चालक पर निर्भर करती है, उसी प्रकार राज्य की सुरक्षा परिपक्व दार्शनिक पर। इसलिए दार्शनिक को ही राजा या शासक होना चाहिए।

4.4 दार्शनिक राजा के गुण

प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए–

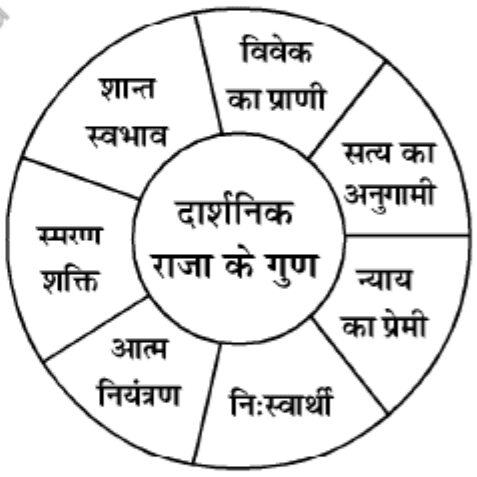

4.4.1 विवेक का प्राणी :- प्लेटो के अनुसार शासन विवेकशील होना चाहिए। उसे शिव के स्वरूप का ज्ञान होता है और इसलिए वह मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्यों और कार्यों से परिचित होता है। **मैक्सी** के अनुसार- '' एक सच्चा दार्शनिक ज्ञान से प्रेम करता है, न कि किसी मत से। वह क्रोध, घृणा, संकीर्णता, द्वैष, स्वार्थगरता आदि से दूर रहता है।''

4.4.2 सत्य का अनुगामी :- प्लेटो के अनुसार दार्शनिक राजा सत्य का अनुगामी होता है। उसके मस्तिष्क में निंदा, अविश्वास, झूठ, फरेब और धोखे से विचार नहीं आयेगें। प्लेटो के अनुसार- 'झूठ के विचार से शासकों को घृणा होगी।'

4.4.3 न्याय का प्रेमी :- आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा 'न्याय' का प्रेमी होगा। वह इस बात पर ध्यान रखेगा कि समाज के दो अन्य वर्ग–सैनिक व उत्पादक वर्ग अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन करें ताकि न्याय की स्थापना हो सके। अगर समाज में न्याय का अभाव है तो समाज में अव्यवस्था, अराजकता, असंतोष का बोलबाला हो जायेगा।

4.4.4 नि:स्वार्थी :- प्लेटो के दार्शनिक राजा यह भी एक गुण है कि वह नि:स्वार्थ होता है। वह उसे स्वार्थी को स्वार्थों को प्रोत्साहन देने वाले तत्वों जैसे सम्पत्ति, परिवार, पत्नि आदि से वह शासक वर्ग को वंचित रखता है। अत: जब ये तथ्य जिस वर्ग में विद्यमान नहीं रहेगें तो वहां पर स्वार्थपरता आने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

4.4.5 आत्म नियन्त्रण :- दार्शनिक शासक आत्म नियन्त्रण के गुण से विभूषित होता है। उसे कोई निर्देश, आदेश नहीं देता, वह अपने जीवन और शासन का स्वयं संचालन करने की क्षमता रखता है।

4.4.6 स्मरण शक्ति :- दार्शनिक राजा का एक अन्य प्रमुख गुण तीक्ष्ण स्मरण शक्ति है। किसी भी व्यक्ति के लिए दार्शनिक ज्ञान का अर्जन तभी सम्भव है जबकि उसके पास अच्छी स्मरण शक्ति हो।

4.4.7 शान्त स्वभाव :- प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासन का स्वभाव शान्त होना चाहिए। नेटिलशिप के शब्दों में ''सच्चे दार्शनिक को स्वभाव से ही शान्त होना चाहिए वह शान्ति के साम्राज्य में निवास करता है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रिपब्लिक की पाँचवी–छठी पुस्तक में प्लेटो ने दार्शनिक शासक के गुणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। ''उसमें उच्चतम प्राकृतिक गुण है और वह इनका अधिकतम उपयोग करता है। वह सत्य का अन्वेषक है और तब तक अपना प्रयत्न जारी रखता है, जब तक उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता है। उसे तृष्णा व इन्द्रियिक विषयों को भोगने की लालसा नहीं होती। उसमें सुन्दर आत्मा के सभी गुण होते हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता, सत्य का अपलाप नहीं करता है, उसे न्याय, सौन्दर्य और संयम के विचारों का तथा परम सत के विचार का तथा मानवीय जीवन का अन्तिम प्रयोजन और कार्यों का ज्ञान पहले बतायी शिक्षा के आधार पर होता है। इस प्रकार का ज्ञानी और गुणी व्यक्ति ही प्लेटो की दृष्टि में शासक बनाया जाना चाहिए।''

4.5 दार्शनिक शासक के कर्त्तव्य

प्लेटो ने दार्शनिक राजा के निम्नलिखित कर्त्तव्य बतलाये हैं–

4.5.1 प्रत्येक व्यक्ति को एक विशिष्ट कार्य सौपना

दार्शनिक शासक राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को उसका विशिष्ट कार्य सौपेगें तथा यह देखेगे कि उनका सम्पादन ठीक ढंग से हो रहा है अथवा नहीं।

4.5.2 भावी शासकों की शिक्षा का संचालन करना

दार्शनिक शासको का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य भावी शासकी की शिक्षा का संचालन करना होगा। वे उन सारी कविताओं, नाटकों, कला और साहित्य पर प्रतिबन्ध लगा देगें जिनसे अनैतिक तत्त्वों का संचार होगा। जिनको प्लेटो ने अपने साम्यवाद के सिद्धान्त में स्पष्ट करते हुए कहा है कि कला, साहित्य राज्य के गुणों का प्रचार करने वाली होनी चाहिए, तथा इन पर राज्य का भी पूरा–पूरा नियन्त्रण होगा।

4.5.3 धार्मिक विश्वासों को नियन्त्रित करना

दार्शनिक शासक समस्त धार्मिक विश्वासों को नियन्त्रित करेंगे तथा अपने राज्य के लिए धार्मिक विश्वासों की नियमावली बनायेंगे।

4.5.4 न्याय स्थापित करना

प्लेटो न्याय स्थापना के प्रति सजग है। उसके अनुसार यदि व्यक्ति अपनी आत्मा के गुणों के अनुसार कार्य करेगा तो समाज में न्याय की स्थापना हो जाएगी लेकिन फिर भी दार्शनिक राजा का यह दायित्व बनता है कि इसकी स्थापना के मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को समाप्त करें।

4.6 दार्शनिक शासकों पर प्रतिबन्ध

प्लेटो के दार्शनिक राजा की शक्ति पूर्णत: अमर्यादित होती है। वह न जनता द्वारा चुना जाता है और न ही जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। वह लोकमत, रीति–रिवाज और कानून के बन्धनों से पूर्णत मुक्त होता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में लोकमत व कानून का महत्त्व पूर्णरुपेण अस्वीकार किया है। उसका तर्क है कि यदि दार्शनिक अपने ज्ञान के आधार पर शसक बनता है तो उसे लोकमत के प्रति उत्तरदायी बनाना पूर्णत: अप्रासंगिक है। इस प्रकार दार्शनिक शासक को कानून की बेड़ियों से जकड़ना उसके हाथों को कानून के नियमों से बांधना उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जिस प्रकार किसी योग्य चिकित्सक को इस बात के लिए विवश करना कि वह चिकित्सा के ग्रन्थ देखकर ही दवा लिखे। इस प्रकार प्लेटो दार्शनिकों के स्वतन्त्र विवेक में विश्वास करता है। सेवाइन ने ठीक ही लिखा है कि– ''रिपब्लिक का वास्तविक महत्त्व स्वतन्त्र बुद्धि का महत्त्व है..... यह स्वतन्त्र बुद्धि न तो रूढियों से मर्यादित होती है और न ही मानव की मूढ़ता से प्लेटो ने दार्शनिक राजा पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाये हैं–

4.6.1 राज्य में धन और निर्धनता का प्रवेश रोकना

प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासको को यह देखना पड़ेगा कि राज्य में निर्धनता अथवा धन का प्रवेश न हो, क्योंकि धन से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विलासिता आलस्य और वैमनस्य पैदा होता है तथा दरिद्रता से कमी नापन और कुकृत्य। अत: जब ये तथ्य जिस राज्य में पाये जायेगें उसे हम एक आदर्श राज्य नहीं कह सकते बल्कि उसमें व्यापक अव्यवस्था, असन्तोष का वातावरण रहेगा जिससे की राज्य व समाज की स्थिति दयनीय हो जायेगी।

4.6.2 राज्य की सीमा में वृद्धि या कमी को रोकना

राज्य की एकता को कायम रखने के लिए उसे राज्य की सीमा को न तो अधिक बढ़ाना चाहिए और न ही अधिक कम करना चाहिए। राज्य का आकार इतना हो कि वह आत्म निर्भर हो सके।

4.6.3 न्याय प्रशासन को कायम रखना

दार्शनिक राजा का यह कर्त्तव्य होगा कि वह न्याय के सिद्धान्त को बनाये रखे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित कार्यों का पालन रहे।

4.6.4 शिक्षा पद्धति को बनाए रखना

दार्शनिक राजा को शिक्षा पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए क्यों कि शिक्षा पद्धति में परिवर्तन होने से राज्य के मूलभूत नियम ही बदल जाते हैं।

4.7 दार्शनिक शासक का सिद्धान्त : आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्लेटो ने जिन परिथितियों को दृष्टिगत रखते हुए दार्शनिक शासक के सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, वे उसकी दृष्टि में बहुत ही खराब थी जिसमें लोकतन्त्र के नाम पर शासक जैसे पवित्र पद का मजाक उड़ाया जा रहा था और इस पद पर अयोग्य, भ्रष्ट, अज्ञानी लोग पदस्थापित हो रहे थे। यद्यपि प्लेटो ने जिस दार्शनिक शासक की धारणा को प्रस्तुत किया वह काफी महत्त्वपूर्ण थी परन्तु इसकी भी व्यापक स्तर पर आलोचनायें की गई हैं।

टॉयनबी के अनुसार- ''प्लेटो के सिद्धान्त में विरोधाभास है क्योंकि दार्शनिक कुशल शासक नहीं हो सकता और शासक दर्शन को तिलांजलि देकर जब शक्ति का प्रयोग करता है तभी वह सफलतापूर्वक शासन का संचालन कर सकता है।''

कांट के शब्दों- ''राजा का दार्शनिक होना और दार्शनिक का राजा होना न सम्भव है और न वांछनीय, सत्ता का भोग निरपवाद रूप से विवेक के स्वतन्त्र निर्णय को भ्रष्ट कर देता है।''

पॉपर के अनुसार- ''प्लेटो ने अपने स्वार्थ की सिद्धि हेतु दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है क्योंकि एक दार्शनिक होने के नाते प्लेटो स्वयं शासक बनना चाहता था।''

जांवेट के मुताबिक दार्शनिक राजा या तो भविष्य में बहुत दूर तक देखने वाला होता था। अतीत के पीछे की और देखता है। वर्तमान की वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

सेवाइन के अनुसार दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रबुद्ध निरंकुशता का सिद्धान्त है।

प्लेटो के दार्शनिक शासक के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित तर्कों के आधार पर की जाती है।

4.7.1 निरंकुश शासक का मार्ग प्रशस्त करना

प्लेटो के दार्शनिक शासक के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर कि जाती है कि यह शासक को निरंकुशता की और बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। प्लेटो यह बताता है कि दार्शनिक शासक अपने ज्ञान व विवेक के आधार पर बनता है तथा जनता के प्रति उसको उत्तरदायित्व रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार प्लेटो जिस व्यवस्था को प्रारम्भ करता है वह तानाशाही से कोई कम नहीं है। इसके अतिरिक्त प्लेटो ने शासक पर चार प्रतिबन्धों का उल्लेख किया है, किन्तु यह प्रतिबन्ध ऐसे नहीं है कि उसे निरंकुश बनने से रोक सके।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.7.2 नागरिकों की स्वतन्त्रता और स्वविवेक का अन्त

दार्शनिक राजा को शासन की सम्पूर्ण शक्ति प्रदान कर प्लेटो ने राज्य के नागरिकों की स्वतन्त्रता और स्वविवेक का अन्त कर दिया है। यह स्थिति नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए घातक है क्योंकि राज्य के नागरिक तो राज्य की मशीन के उपकरण बनकर रह जाते हैं, जिनकी अपनी कोई चेतना नहीं होती। मानव को जड़ की स्थिति या पशुओं की सी स्थिति में पहुंचाने वाली व्यवस्था को किसी भी रूप में श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है।

4.7.3 प्रजातान्त्रिक समानता के सिद्धान्त की अवहेलना

प्लेटो का यह विचार, कि गुण और ज्ञान के धनी तो केवल कुछ ही व्यक्ति होते हैं, प्रजातान्त्रिक समानता के आधुनिक सिद्धान्त के विरूद्ध है। वह अरस्तू की इस बात में विश्वास नहीं करता कि सम्पूर्ण जनसमूह, सामूहिक रूप से कुछ दार्शनिक संरक्षकों की तुलना में अधिक बुद्धिमता रखता है।

4.7.4 विरोधाभास से परिपूर्ण

प्लेटो का दार्शनिक शासन का सिद्धान्त विरोधाभासों से भी पूर्ण है। एक ओर तो वह अपने दार्शनिक शासक को असीम अधिकार प्रदान करता है और दूसरी ओर वह उस परचार सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध आरोपित कता है।

4.7.5 शासन के लिए आवश्यक विषय

दार्शनिक राजा गणित, ज्योतिष, नक्षत्रविद्या, तर्क शास्त्र, द्वन्द्वात्मकता तथा दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित होता है, किन्तु प्रशासन के लिए केवल इन्हीं विषयों का ज्ञान होना ही आवश्यक नहीं है। शासन प्रबन्ध के लिए दार्शनिक राजा को वित्त, विधि, इतिहास और अर्थशास्त्र जैसे विषयों का भी ज्ञान होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अरस्तू का यह कहना सही है कि व्यावहारिक ज्ञान विशेषज्ञ के ज्ञान से भिन्न होता है।

4.7.6 दार्शनिक वर्ग का शासन असन्तुलित और अहितकर

प्लेटो के दार्शनिक शासक सार्वजनिक क्षेत्र के कर्त्तव्यों का उचित रूप में सम्पादन कर सकेंगे, इसमें भी बहुत अधिक सन्देह है। अत्यधिक दार्शनिकता सनकीपन को जन्म देती है और सनकी व्यक्ति का शासन निश्चित रूप से अन्यायपूर्ण और असन्तुलित ही होगा। इतिहास हमें यह बताता है कि अब तक आस्ट्रिया में जोसेफ द्वितीय जैसे जो दार्शनिक शासक हुए उनका शासन जनहितकारी और लोकप्रिय नहीं रहा।

4.7.7 काल्पनिक अवधारणा

प्लेटो का दार्शनिक राजा मात्र काल्पनिक है। व्यावहारिक जगत में ऐसे नि:स्वार्थ निष्ठावान और उच्च आदर्शों के व्यक्ति मिलना असम्भव है। सम्पूर्ण इतिहास इस तरह के शासन का उदाहरण प्रस्तुत करने में असक्षम है। स्वयं प्लेटो सिसली के शासक को दार्शनिक राजा के रूप मे दीक्षित करने में असफल और इस असफलता के बाद स्वयं प्लेटो को दार्शनिक शासन का सिद्धान्त छोड़ना पड़ा।

4.7.8 सामाजिक मान्यताओं की कोई स्थापना नहीं

प्लेटो का कहना है कि जब हमारे जूते फट जाती है तो उसकी मरम्मत के लिए मौची के पास जाते हैं। कपड़ा फट जाता है या नया बनाना होता है तो दर्जी की आवश्यकता होती है। अत: जो शासक बन रहा है उसके लिए थी योग्यता होना बहुत आवश्यक है। साधरण काम के लिये योग्य व्यक्ति की आवश्कता होती है तो एक शासक के लिए क्यों नहीं जिस पर सम्पूर्ण राज्य का भविष्य ठीक हुआ होता है। अत: इस तरह शासक के दार्शनिक होना चाहिए।

4.8 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते है कि प्लेटो के दार्शनिक राजा का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं के बावजूद महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के माध्यम से प्लेटो यूनान को लोकतंत्र के नाम पर जिस अन्याय व अत्याचार का शासन चल रहा था, उससे मुक्ति दिलाना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चाहता था। उसका मत था कि यदि समुचित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् किसी व्यक्ति को शासक बनाया जाएगा तो प्रशासन में अधिक कुशलता आयेगी तथा उस शासक के अनुभव का लाभ राज्य की जनता को मिल सकेगा।

4.9 अभ्यास अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के दार्शनिक राजा के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. प्लेटो ने दार्शनिक राजा के कौन से गुण बताए है।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दार्शनिक राजा के कर्त्तव्य बताओ।
2. प्लेटो दार्शनिक राजा पर किस प्रकार के प्रतिबंध लगाता है।
3. दार्शनिक राजा का सिद्धान्त किन मान्यताओं पर आधारित है ?
4. प्लेटो द्वारा बताए दार्शनिक राजा के कोई तीन गुण बताओ।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. दार्शनिक राजा का सिद्धान्त प्रतिपादित करने का उद्देश्य क्या है यह मत किसका है ?
2. 'सद्गुण की ज्ञान है' से क्या आशय है ?
3. ''दार्शनिक राजा का सिद्धान्त निरंकुशता का सिद्धान्त है।''
4. ''प्लेटो दार्शनिक होने के कारण स्वयं शासक बनना चाहता था। यह मत किसका है ?
5. 'प्लेटो ने अपने दार्शनिक राजा के सिद्धान्त के प्रयोग का प्रयास कहां किया।

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्रदेव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक प्लेटो'' भारती भवन पब्लिकेन्शन पटना

बी. आर. पुरोहित ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर

प्रभुपत्त शर्मा, ''राजनीतिक विचारो का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो जयपुर

अर्नेस्ट बार्कर ''यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त हिन्दी दिल्ली प्रकोष्ठ द्वारा अनुताप''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 5

प्लेटो के आदर्श राज्य की रूपरेखा

संरचना

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 प्लेटो के आदर्श राज्य की विशेषताएं

- 5.3.1 दार्शनिकों का शासन
- 5.3.2 निरंकुशता असीमित नहीं
- 5.3.3 आदर्श राज्य में न्याय
- 5.3.4 नागरिकों के तीन वर्ग
- 5.3.5 कार्यात्मक विशेषीकरण का सिद्धान्त
- 5.3.6 शिक्षा व्यवस्था पर शासकों का नियन्त्रण
- 5.3.7 कुरुचिपूर्ण कला व साहित्य पर प्रतिबन्ध
- 5.3.8 आदर्श राज्य में साम्यवादी व्यवस्था
- 5.3.9 महिला व पुरुषों को समान अधिकार
- 5.3.10 सर्वाधिकारवादी राज्य

5.4 आदर्श राज्य के दोष

- 5.4.1 स्वतन्त्रता विरोधी
- 5.4.2 कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति अनुचित
- 5.4.3 व्यक्ति और राज्य की समानता का अनुचित महत्त्व
- 5.4.4 उत्पादन वर्ग की उपेक्षा
- 5.4.5 शासन वर्ग की निरंकुशता
- 5.4.6 शासन के लिए आवश्यक तत्त्वों की उपेक्षा
- 5.4.7 दास प्रथा के संबंध में मौन

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

5.7 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्लेटो द्वारा प्रस्तुत आदर्श राज्य की रूपरेखा को जानता है। इस अध्याय के पश्चात् आप जान सकेंगे —

- दार्शनिक राजा ही जनता के हितों को पूरा कर सकता है,
- प्लेटो राजा को सर्वोच्च सत्ता देने में बावजूद उसकी निरंकुशता पर जो अंकुश लगाता है, उसे भी जान सकेंगे,
- आदर्श राज्य में नारी-पुरुष दोनों को समान स्थान दिया गया है, जो एक प्रगतिशील एवं आधुनिक समाज की प्राथमिकता आवश्यकता है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- प्लेटो आदर्श राज्य में कार्य विशिष्टिकरण के सिद्धान्त पर बल देता है, जिसे विकास के लिए शुभ संकेत माना जा सकता है,
- शिक्षा राज्य के नियंत्रण व निर्देशन में दी जाएगी, जिससे दार्शनिक राजा का निर्माण किया जा सकता है।

5.2 प्रस्तावना

प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य का चित्रण प्रस्तुत किया है। 'आदर्श राज्य' के स्वरूप का निर्धारण करने में उसने केवल इस दृष्टि से विचार किया कि राज्य का स्वरूप कैसा होना चाहिए? और उसने इस बात को ध्यान में नहीं रखा है कि क्या विद्यमान राज्य, आदर्श राज्य की इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं? उसके लिए वस्तुत: यह एक नितान्त गौण प्रश्न है।

5.3 प्लेटो के आदर्श राज्य की विशेषताएं

प्लेटो के आदर्श राज्य की विशेषताओं को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित कर सकते हैं -

5.3.1 दार्शनिकों का शासन

प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य का शासक दार्शनिक होना चाहिए। दार्शनिक शासक राज्य के हितों के साथ स्वयं अपने हितों का पूर्ण तादात्मय स्थापित कर लेता है, और समुदायों के हितों की पूर्ति करना अपना मुख्य लक्ष्य मानता है। वह सत्य का अनवरत अन्वेषक होता है और उसमें श्रेष्ठ आत्मा के सभी लक्षण होते हैं। आदर्श राज्य के शासक के पास निरंकुश एंव असीमित शक्तियां होती है क्योंकि दार्शनिक राजा लिखित संविधान एवं जनमत के दबाव से पूर्णरुपेण स्वतन्त्र होता है।

5.3.2 निरंकुशता असीमित नहीं

प्लेटो के आदर्श राज्य में शासक की निरंकुशतता, असीमित नहीं होती है, वह यूनानी साहित्य के प्रचलित अर्थों में स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। दार्शनिक राजा इस बात के लिए बाध्य है कि वह संविधान के मूल प्रावधानों का पालन करें।

5.3.3 आदर्श राज्य में न्याय

प्लेटो का आदर्श राज्य न्याय पर आधारित है। न्याय ही राज्य की एकता को बनाये रखने वाला सूत्र है। प्लेटो के अनुसार मानवीय आत्मा में तीन गुण पाये जाते हैं। इन्हें गुणों के आधार पर व्यक्ति का कार्य और दायित्व का निर्धारण होता है और इससे वर्ग बनते हैं। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने दायित्व का निर्वाह करना न्याय है।

5.3.4 नागरिकों के तीन वर्ग

प्लेटो ने मानवीय आत्मा के गुण के अनुसार राज्य के समस्त नागरिकों को तीन वर्गों में बांटा है-

आत्मा का गुण	वर्ग	कार्य
विवेक	विवेक प्रधान वर्ग	शासन
साहस	साहस प्रधान वर्ग	सेना व सुरक्षा संबंधी
तृष्णा	तृष्णा प्रधान वर्ग	उत्पादन व व्यापार संबंधी

प्लेटो के अनुसार ये सभी वर्ग अपना-अपना कार्य करते हैं। दार्शनिक राजा का निर्माण विवेक प्रधान वर्गसे होता है। प्लेटो के अनुसार विवेक व साहस प्रधान वर्ग, संरक्षक वर्ग है।

5.3.5 कार्यात्मक विशेषीकरण का सिद्धान्त :- प्लेटो के आदर्श राज्य में कार्यात्मक विशेषीकरण का सिद्धान्त लागू है। प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करेगा जिन्हें करने में उसके पास सर्वाधिक योग्यता है।

5.3.6 शिक्षा व्यवस्था पर शासकों का नियन्त्रण :- प्लेटो के आदर्श राज्य में शिक्षा शासकों के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में है। प्लेटो का विचार है कि शिक्षा राज्य की प्रकृति और आवश्यकताओं के अनुकूल हो। इसके लिए शिक्षा राज्य द्वारा सुनियोजित और नियन्त्रित होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य दार्शनिक राजा का निर्माण करना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.3.7 कुरुचिपूर्ण कला तथा साहित्य पर प्रतिबन्ध :- प्लेटो के आदर्श राज्य में कला और साहित्य पर पर्याप्त नियन्त्रण की व्यवस्था है। यह व्यवस्था इस उद्देश्य से है कि अनैतिक प्रभाव उत्पन्न करने वाली कोई भी वस्तु युवा वर्ग के हाथों में न जाए।

5.3.8 आदर्श राज्य में साम्यवादी व्यवस्था :- प्लेटो अपने आदर्श राज्य में संरक्षण वर्ग के लिए पत्नियों एवं सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था करता है। उसका तर्क है कि ऐसा करने का मूल उद्देश्य इस वर्ग को कंचन व कामिनी के मोह से मुक्त रखना है और उन्हें अपने दायित्वों के निर्वाह करने के लिए तैयार करना है।

5.3.9 महिला और पुरुषों को समान अधिकार :- आदर्श राज्य में प्लेटो महिलाओं को घर की चार दीवारी से बाहर निकालकर उन्हें शिक्षा, जीवनयापन, शासन आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करता है।

5.3.10 सर्वाधिकारवादी राज्य :- प्लेटो का आदर्श राज्य अपनी प्रकृति से सर्वाधिकारवादी है। राज्य के क्षेत्र से कोई भी विषय बाहर नहीं है और नहीं राज्य के अधिकारों को चुनौती देने वाला तत्त्व विद्यमान है।

प्लेटो के आदर्श राज्य के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए वेपर लिखते हैं कि ''उचित नेतृत्व, उचित सुरक्षा, उचित पोषण आदर्श राज्य के अपरिहार्य तत्त्व है।''

5.4 आदर्श राज्य के दोष

प्लेटो ने आदर्श राज्य के संबंध में जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, वे पूर्णतया कल्पनाओं पर आधारित है जिसका यथार्थ एवं वास्तविकता के साथ कोई संबंध नहीं है। इसीलिए प्लेटो के आदर्श राज्य की व्यवहार में लागू नहीं किया जा सकता और प्लेटो के अथक प्रयासों के बावजूद ऐसा सम्भव नहीं हो सका। आलोचकों का तर्क है कि प्लेटो जिस आदर्श राज्य की आड़ में दार्शनिक शासक का साम्राज्य स्थापित करना चाहता है, वह स्वयं का शासक बनना चाहता था। आधुनिक समय में प्लेटो के ये विचार नकारा लगते हैं। इसकी आलोचना निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर कर सकते हैं।

5.4.1 स्वतन्त्रता विरोधी

आलोचकों का मत है कि प्लेटो आदर्श राज्य के निर्माण में इतना मदहोश हो जाता हे कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता की ओर बिल्कुल ध्यान तक नहीं देता। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को राज्य पर छोड़ देता है। प्लेटो जिस सर्वाधिकारवादी राज्य की बात करता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करता बल्कि राज्य की बलवेदी पर स्वतन्त्रता का बलिदान कर देता है।

5.4.2 कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति अनुचित

प्लेटो अपने आदर्श राज्य में जिस कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति अर्थात् न्याय के सिद्धान्त की बात करता है, वह पूर्णतया अनुचित एवं अतार्किक है। पहली बात तो यह तय कर पाना भी कठिन है कि व्यक्ति की आत्मा में किस गुण की प्रधानता है और यदि यह तय कर दिया जाए तो व्यक्ति अपने एक पहलू तक ही सीमित हो जाता है और शेष पहलू अप्रभावित रहते हैं। इस तरह प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है।

5.4.3 व्यक्ति और राज्य की समानता को अत्यधिक महत्त्व

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में व्यक्ति और राज्य की समानता को अत्यधिक एवं अनुचित महत्त्व दिया है। मानवीय आत्मा के तीन तत्त्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों को तीन वर्गों में बांटना निश्चित रूप से भिन्न और अव्यावहारिक है। व्यक्ति और राज्य के बीच इस प्रकार की समानता का निरुपण करके अनेक शंकाएं उत्पन्न की है।

5.4.4 उत्पादन वर्ग की उपेक्षा

प्लेटो अपने आदर्श राज्य में उत्पादन वर्ग की पूर्णरुपेण अनदेखी की है। अन्य दोनों वर्ग के समान न तो शिक्षा की व्यवस्था की है और न ही सामाजिक ढ़ांचे में उसका स्थान निर्धारित किया है। प्लेटो इस बात को भूल जाता है कि उत्पादन वर्ग का कोई कम महत्त्व नहीं है और इसकी उपेक्षा राज्य एवं समाज के विकास को प्रभावित कर सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.4.5 शासक वर्ग की निरंकुशता

प्लेटो के आदर्श राज्य में कानून एवं नियमों का पूर्ण अभाव है और उसने दार्शनिकों को सम्पूर्ण सत्ता सौंपदी है जिसे किसी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता। इन व्यक्तियों को शिक्षा के द्वार चाहे कितना भी विवेकशील क्यों न बना दिया जाए, अनियन्त्रित शक्तियां आने पर मानवीय स्वभाव के अनुसार इसमें दोष आना स्वाभाविक है। बार्कर ने प्लेटो के आदर्श राज्य को निरंकुशतावाद की संज्ञा दी है।

5.4.6 शासन के लिए आवश्यक तत्त्वों की उपेक्षा

प्लेटो ने आदर्श राज्य में शासन के लिए आवश्यक अनेक तत्त्वों की घोर उपेक्षा की है। उसके द्वारा कानूनों, सरकारी पदाधिकारियों की नियुक्ति, न्यायालयों का प्रबन्ध और अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था को काई उल्लेख नहीं किया है। इन तत्त्वों की उचित व्यवस्था के अभाव में राज्य का संचालन नहीं किया जा सकता।

5.4.7 दास प्रथा के संबंध में मौन

आदर्श राज्य की धारणा का एक बड़ा दोष प्लेटो का तत्कालीन समाज के प्रमुख लक्षण दास प्रथा के संबंध में मौन रहता है। ऐसा आभास होता है कि प्लेटो दास प्रथा पर मौन स्वीकृति देता है।

5.5 सारांश

सारांश में यही कहा जा सकता है कि अनेक कमियों तथा आलोचनाओं के बावजूद, प्लटो की दार्शनिक शासक की अवधारणा राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में नूतन प्रयोग है।

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के आदर्श राज्य की रूपरेखा पर आलोचनात्मक प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ''प्लेटो के आदर्श राज्य का आधार न्याय सिद्धान्त है।'' सिद्ध कीजिए।
2. ''प्लेटो का आदर्श राज्य सर्वाधिकारवाद पर आधारित था'' आप इससे कहां तक सहमत है।
3. क्या वर्तमान परिस्थितियों में प्लेटो का आदर्श राज्य सम्भव है ? यदि वही नहीं है तो क्यों (कोई तीन कारण)
4. प्लेटो के आदर्श राज्य में साम्यवाद का क्या स्थान है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो ने आदर्श राज्य का उल्लेख किस कृति में किया है ?
2. आदर्श राज्य का मूल आधार क्या है ?
3. आदर्श राज्य की प्रकृत्ति कैसी है ?
4. कार्यात्मक विशेषीकरण का सिद्धान्त क्या है ?
5. प्लेटो का आदर्श राज्य किस दिशा में उदार है ?
6. बार्कर ने प्लेटो के आदर्श राज्य को क्या संज्ञा दी है ?

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्रदेव प्रसाद, ''महान राजनीतिक प्लेटो''

ओ.पी.गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'' मयूर पेपर बेक्स नौएडा

बी.एल. फड़िया, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक का इतिहास''(प्लेटो से बर्क) साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-6

अरस्तू की अध्ययन पद्धति

संरचना

6.1 उद्देश्य
6.2 प्रस्तावना
6.3 जीवन परिचय
6.4 अरस्तू एक महान विचारक
6.5 अरस्तू की अध्ययन पद्धतियाँ
  6.5.1 उद्‌गमनात्मक अध्ययन पद्धति
  6.5.2 ऐतिहासिक विधि
  6.5.3 तकनीकी विधि
  6.5.4 रगद्दश्य विधि
  6.5.5 विश्लेषणात्मक
6.6 अरस्तू व प्लेटो का तुलनात्मक अध्ययन
  6.6.1 असमानताएं
  6.6.2 समानताएं
6.7 सारांश
6.8 अभ्यास प्रश्नावली
6.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अरस्तु के उन विचारों की जानकारी देना है, जिनसे अरस्तु राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक के रूप में स्थान रखता है। इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- अरस्तु के विचार आज भी कितने प्रासंगिक हैं,
- अरस्तु इस बात पर भी बल देता है कि राजनीति के अध्ययन में उद्‌गमनात्मक पद्धति का अपना विशेष महत्त्व है,
- अरस्तू व प्लेटो का तुलनात्मक अध्ययन की जानकारी मिलेगी।

6.2 प्रस्तावना

''समाज द्वारा सुसंस्कृत मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठतम होता है, परन्तु जब यह बिना कानून तथा न्याय के जीवन व्यतीत करता है, तब वह सबसे भयंकर हो जाता है। यदि कोई मनुष्य ऐसा ही जो समाज में न रह सकता हो अथवा जो यह कहता हो कि मुझे केवल अपने ही साधनों की आवश्यकता है, तो उसे मानव समाज का सदस्य मत समझो, वह या तो जंगली जानकर है या देवता।'' अरस्तू

''राज्य जीवन के लिए बना है और सद्‌जीवन के लिए बना रहेगा।'' अरस्तू

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक अरस्तू की राजनीतिशास्त्र का जनक माना जा सकता है। यद्यपि अरस्तू ने अपने राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों को दृष्टि में रखते हुए प्रतिपादित किये थे, लेकिन वर्तमान भी उन विचारों की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रासंगिता बनी हुई है। अरस्तू प्रथम चिन्तक या जिसने राजनीतिक विचारों की क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। अरस्तू ने आधुनिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों द्वारा अपने विचारों को अन्तिम रूप दिया और इससे राजनीति शास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक होने तथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने का अवसर मिला।

6.3 जीवन परिचय

''आज विश्व में अरस्तू की पहचान एथेन्स विचारक के रूप में की जाती है परन्तु वह ऐसा नहीं था उसका जन्म 384 ई. पू. मकदूनिया के तट पर स्टेगीरा नामक स्थान पर हुआ था। जहाँ उसे के पिता चिकित्सक थे। मकदूनिया में राजतंत्र और नगर राज्य नहीं थे। अरस्तू का पालन पोषण, सम्पन्न वातावरण में हुआ। 17 वर्ष की अवस्था में प्लेटो की शिक्षा लेने के लिए एथेन्स विद्या पीठ से आया और जीवन के 20 वर्ष यहा रहकर अध्ययन में बिताए।''

➢ अरस्तू एक पर्यटक के रूप में

345 ई.पू. को प्लेटो की मृत्यु हो गई और उसी वर्ष मेसीडोनियन प्रदेश के राजा फिलिप ने अरस्तू के गांव स्वीगोया गांव पर घेरा डाला और उसे समाप्त कर दिय। प्लेटो की विद्यापीठ का एक ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष बना जिसको अरस्तू नहीं चाहता था। अत: उसे विवश होकर यह विद्यापीठ छोड़नी पड़ी। परिणाम स्वरूप वह गृह-विहिन हो गया और अपने एक साथी के साथ एसास में जाकर रहने लगे और उसे विद्या का नवीन केन्द्र बनाया गया शासक उससे अरस्तू की मित्रता हो गई। इस प्रकार उसने एसास में एक नवीन राजनीति शास्त्र का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त अरस्तू का एक और साथी था जिसको इतिहास, चिकित्सा, जीवन-विज्ञान आदि पर उसकी अच्छी पकड़ थी, उसकी सहायता से अरस्तू ने इनका अध्ययन किया और उसके साथ यात्रायें की। 342 ई.पू. को मेसीडोनियन के राजा फिलिप ने अरस्तू को अपने यहां आमंन्त्रित किया ताकि वह उसके पुत्र अलैकजेन्डर को पढ़ा सके और 6 वर्ष तक उसने अलैकजेण्डर को शिक्षा दी। उस पर अरस्तू का इतना प्रभाव नहीं था लेकिन फिर भी वह अरस्तू का आदर करता था। अरस्तू उसकी (अलैकजेण्डर) की प्रशंसा में अनेक लेख लिखे। इसके बदले अलैकजेण्डर उसके विज्ञान के अध्ययन में सहयोग दिया। वह विद्वानों का प्रशंसक था। अरस्तू ने उनका गुणगान करना इन्हीं से सिखा था।

➢ अरस्तू एक प्राध्यापक के रूप में

मेसीडोनियन से अरस्तू पुन: एथेन्स आ गया और यहां पर अपनी विद्यापीठ स्थापित की और अपने प्रिय मित्र को इसका अध्यक्ष बनाया। अब तक एथेन्स काफी कमजोर हो गया था और वह मेसोडिनिया सुरक्षित प्रदेश बन गया था। अलैकजेण्ड के बाद यहां का शासक एन्टीपेटर बना, जो अरस्तू का समर्थक था और इस विद्यापीठ को उसका समर्थन प्राप्त हो गया। यद्यपि वह अरस्तू के दृष्टिकोण मे आस्था रखता था परन्तु बाद में वह लोकतंत्र का समर्थक बन गया। इस समय लोकतन्त्र का राजनीतिक विचारों में प्रमुख स्थान था परन्तु अरस्तू उसका घोर विरोध करता था। वह सैद्धान्तिक लोकतन्त्र था बल्कि व्यवहार में वह धनिक वर्ग का पक्षधर था।

अरस्तू का भतीजा था जो सिकन्दर के दरबार में विदेशमंत्री था। तब उसे फांसी की सजा दी गई जिसकी प्रतिक्रिया अरस्तू की विद्यापीठ में हुई 323 ई.पू. में सिकन्दर की अचानक मृत्यु हो गई तथा अरस्तू के भतीजे को भी फांसी दे दी गई। इस प्रकार मेसीडोनिया के विरूद्ध क्रान्ति का वातावरण बना। अरस्तू मेसोडीनिया का समर्थक था। अत: इस प्रकार 323 ई.पू. एथेन्स सुरक्षित नहीं था बाद में उसने एथेन्स छोड़ दिया और यूबिया नामक द्वीप में रहने लगा और 322 ई.पू. में यही पर उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय उसेक पास अनेक में दास थे। अत: उसकी यह अन्तिम इच्छा थी कि उसके दासों को नहीं बेचा जाये, अपितु उन्हें प्रशिक्षण दिया जाये और जब वे निर्णय लेने की स्थिति में आ जाये तब उन्हें स्वतंत्र कर दिया जायें।

6.4 अरस्तू एक महान विचारक के रुप में

अरस्तू को अगर महान कहा जाये तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वह स्वयं अपने आप में ज्ञान का भण्डार था जिसको केवल राजनीति शास्त्र का विचारक व जनक नहीं माना जाता अपितु जीवन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, विधि शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इतिहास आदि के बारे में ज्ञान था जिनके बारे में उसने लगभग 400 पुस्तके लिखी थी।

दांते केटलीन का मत है कि- अरस्तू ज्ञान का शब्द-कोष था। उसको सामान्यतया राजनीति शास्त्र का पिता व जनक कहते है जिन्होंने अपनी विचारधारा व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की और इतिहास से उदाहरण दिये।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एम.बी. फास्टर के अुनसार– ''अरस्तू की महानता उसके जीवन में नहीं किन्तु उसकी रचनाओं में प्रदर्शित होती है।''

प्रो. मैक्सी अरस्तू ने हर एक विषय पर आध्यात्मिक पूर्वक विचार रखे हैं। उसके विचार अन्तिम थे और उसने प्रत्येक विषय पर लिखे सो उसकी ज्ञान पर पकड़ थी।

6.5 अरस्तू की अध्ययन की पद्धतियाँ

अरस्तू की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक पद्धति थी। इसके सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि वह प्रथम व्यक्ति था जिसने योजनाबद्ध ढंग से पहली बार अध्ययन किया। अरस्तू ने 158 संविधान का इसी ढंग से तुलनात्मक अध्ययन किया। उसकी अध्ययन पद्धति को प्लेटो से भिन्न मानी जाती है जहां प्लेटो काल्पनिक विचारों पर बल देता था। वहीं अरस्तू ने इसका खण्डन किया है। वह अपने अध्ययन में ठोस विचारों पर बल देता था उसके अनुसार नैतिक पद्धति वह है जहां तथ्यों का अध्ययन किया जाये। जहाँ प्लेटो ने कल्पनाओं के आधार पर आदर्श राज्य की बात कही परन्तु अरस्तू ने विश्व के विभिन्न संविधानों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया तथा उसके बाद ही परिणाम प्रस्तुत किये। अरस्तू की अध्ययन विशेषताओं को हम निम्नलिखित पद्धति द्वारा समझ सकते हैं–

6.5.1 उद्‌गमनात्मक अध्ययन पद्धति

अरस्तू ने राजनीति के अध्ययन में उद्‌गमनात्मक पद्धति को अंगीकार किया। बार्कर के शब्दों में– ''इस अध्ययन विधि का सार था निरीक्षण करना तथा सम्बन्धित आंकड़े एकत्रित करना और इसका उद्देश्य था, प्रत्येक विचार विषय का कोई सामान्य सिद्धान्त खोज निकालना।'' अरस्तू दृश्यमान जगत के वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बताये हुए स्थल से सूक्ष्म की और बढ़ता है।

6.5.2 ऐतिहासिक विधि

अरस्तू ने अपनी अध्ययन पद्धति के रूप में ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया गया। राजनीतिक विचारों को सम्भवत: अरस्तू ने ही इतिहास को आधार मानकर अध्ययन प्रारम्भ किया था। अत: उसे ऐतिहासिक विधि का जनक कहते हैं। उदाहरण के लिए अरस्तू ने जब संविधान का अध्ययन किया, तब उससे पूर्व 158 संविधानों का वैज्ञानिक ढंग से तुलनात्मक अध्ययन किया।

6.5.3 तकनीकी विधि

अरस्तू ने अपने अध्ययन विषयों में तकनीकी विधि का प्रयोग किया है यह विधि यह मानकर चलती है कि हर वस्तु अथवा विषय का अपना उद्देश्य होता है जो उसके विकास व अस्तित्व के कारण होता है। अरस्तू ने पॉलिटिक्स में कहा है कि परिवार जैसी सीमित संस्था ने अपने उद्देश्य की ओर गतिमान होकर राज्य के वृहद रूप को प्राप्त किया है।

6.5.4 सादृश्यवाचीविधि

अरस्तू के विचारों में सादृश्य विचारों की छाप स्पष्ट रूप से झलकती है। उसने प्राणी जगत की चिकित्सा विज्ञान में से सादृश्य को दृढ निकाला है। पॉलिटिक्स में अनेक स्थानों पर वह राजनीति की कला की चिकित्सा की कला से तुलना करता है। चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन से ही उसकी यह विचारधारा बनी है कि प्रत्येक प्रकार की अति को छोड़कर हमें एक 'सुनहरे मध्यम मार्ग' का अनुसरण करना चाहिए।

6.5.5 विश्लेषणात्मक

विश्लेषणात्मक पद्धति में किसी विषय के निर्माणकारी अंगों को अलग करके उनकी जाँच की जाती और तत्पश्चात एक सामान्य नियम की स्थापना की जाती है। उदाहरण के लिए अरस्तू ने राज्य के निर्माण और स्वभाव का अध्ययन करने के लिए उसके निर्माणकारी अंगों, परिवार व गांवों का विश्लेषण किया है।

अरस्तू की रचनाओं को उसके ज्ञान का भण्डार माना जाता है। उस ने लगभग 400 पुस्तके लिखी। ज्ञान के प्रत्येक पक्ष में उसने शोध किया आध्यात्मिक शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, आचार शास्त्र, शरीर शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक शास्त्र, प्रगतिशास्त्र, यन्त्रशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अभि व्यजन काव्य सभी का शोध किया। उसकी कला व विज्ञान पर अच्छी पकड़ थी। उसकी राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित प्रमुख पुस्तके इस प्रकार हैं पॉलिटिक्स एवं एथेन्स का संविधान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.6 अरस्तू व प्लेटो का तुलनात्मक अध्ययन

प्लेटो, अरस्तू का गुरु था। इनके सिद्धान्त व विचारों में क्या समानतायें है और क्या असमानतायें है वे इस प्रकार है– प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों का अध्ययन करने से निम्नलिखित असमानताऐं दृष्टिगत होती हैं –

6.6.1 असमानताएँ

1. प्लेटो कल्पनावादी व हवाई योजना बनाने वाला था जब कि अरस्तू यथार्थवादी क्रियात्मक व्यवहारिक और भू–तल की वास्तविकता वाला विद्वान था।
2. प्लेटो की अध्ययन पद्धति निगमनात्मक थी जबकि अरस्तू की पद्धति आगमनात्मक थी।
3. मैक्सी के अनुसार प्लेटो एक ऐसे अतिमानव की खोज है जो आदर्श राज्य की सृष्टि करे जबकि अरस्तू इसे अतिविज्ञान अन्वेषण करना चाहता है जो राज्य को अच्छे से अच्छा बता सके।
4. प्लेटो के कल्पनावादी होने के कारण क्रान्तिकारी विचारक है, लेकिन अरस्तू व्यवहार को प्राथमिकता देने के कारण रूढ़ीवादी है।
5. अरस्तू ने राजनैतिक विचारों को नैतिक विचारों से अलग किया जबकि प्लेटो के विचारों में दोनों मिश्रित थे।
6. प्लेटो की शैली काव्यात्मक, सरल तथा समन्वयात्मक है इसके विपरीत अरस्तू की शैली तथ्यों के निरीक्षण पर आधारित होने के कारण विश्लेषणात्मक, तथा सूक्ष्म है।
7. प्लेटो एकत्ववादी है जो राज्य की एकता के लिए परिवार तथा सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है किन्तु अरस्तू विविधा का भक्त है, वह परिवार व सम्पत्ति को बनाये रखना चाहता है।
8. प्लेटो दार्शनिक शासक को सर्वश्रेष्ठ मानता है जबकि अरस्तू किसी एक प्रणाली को सर्वोच्च नहीं मानता बल्कि आवश्यकता व परिस्थितियों के अनुकूल शासन प्रणाली सर्वोच्च व गौण होती है।
9. प्लेटो दार्शनिको को शासन सौपने के पक्ष में है। अरस्तू सर्वोत्तम राज्य उसे मानता है जिसमें सभी नागरिक राजनैतिक जीवन में अधिकतम भाग ले सके।
10. अरस्तू के अनुसार विधि का शासन होना चाहिए, प्लेटो के अनुसार दार्शनिकों का शासन होना चाहिए।

6.6.2 समानताएँ

प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों में निम्नलिखित समानताऐं दृष्टिगत होती हैं–

1. दोनों की नैतिक जीवन में गहरी आस्था है।
2. दोनों की न्याय व्यवस्था तथा बुद्धिमता के प्रति अगाध विश्वास है।
3. दोनों का शिक्षा द्वारा मानव को सुधारने में अमिट विश्वास है।
4. दोनों ही उत्तम जीवन की प्राप्ति को अपना ध्येय मानते हैं।
5. दोनों राज्य को मानव के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं।
6. दोनों समाज का निर्माण न्याय तर्क एवं बुद्धि के आधार पर करना चाहते हैं।

6.7 सारांश

सारांश में यही कहा जा सकता है कि अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपूर्व महत्त्व है। यद्यपि अरस्तु ने अपने विचार तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों के दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत किये थे परन्तु इनकी अध्ययन पद्धतियाँ तथा दृष्टिकोण इतना प्रभावी था कि ये आज भी प्रासंगिक हैं। ये विचार राजनीतिक शास्त्र के मूल आधार हैं, जिसके लिए अरस्तु को राजनीति शास्त्र का जनक कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू की अध्ययन पद्धतियों पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ''अरस्तू एक महान विचारक था'' सिद्ध कीजिए
2. उद्‌गमनात्मक अध्ययन पद्धति क्या है?
3. ऐतिहासिक विधि की स्पष्ट कीजिए।
4. प्लेटो व अरस्तू के विचारों में असमानताएँ क्या है?
5. अरस्तू के जीवन परिचय पर प्रकाश डालिए?

अतिलघुरात्मक प्रश्न

1. राजनीति शास्त्र का जनक किसे कहा जाता है?
2. अरस्तू का जन्म कब और कहाँ हुआ था?
3. अरस्तू की प्रमुख कृति का नाम बताओ?
4. अरस्तू किसका शिष्य था?
5. मनुष्य को सामाजिक व राजनीतिक प्राणी कौन मानता है?

6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चन्द्रदेव प्रसाद, ''महान् राजनीतिक विचारक अरस्तू'' भारती भवन डिस्ट्रीब्युटर, पटना
2. अरस्तू ''पॉलिटिक्स''
3. के. एन. वर्मा ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
4. बी. एल. फड़िया ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक इतिहास'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-7

अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक

संरचना

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 राजनीतिक विज्ञान के पिता के रूप में

- 7.3.1 उद्‌गमन पद्धति
- 7.3.2 नैतिकता व राजनीति का पृथक्करण
- 7.3.3 राज्य के पूर्ण सिद्धान्त का क्रमबद्ध निरूपण
- 7.3.4 स्वतन्त्रता व सत्ता समन्वय
- 7.3.5 कानूनी प्रभुसत्ता का सिद्धान्त
- 7.3.6 सरकार के अंगों का निर्धारण
- 7.3.7 राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर विचार
- 7.3.8 मध्यम मार्ग का अनुसरण
- 7.3.9 संविधानों का वर्गीकरण
- 7.3.10 नागारिकता की व्यवस्था
- 7.3.11 राजनीति शास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक् करना
- 7.3.12 राजनीति पर भौगोलिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन
- 7.3.13 शक्ति पृथक्करण का रिद्धान्त
- 7.3.14 नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त
- 7.3.15 मानव एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी के रूप में

7.4 सारांश

7.5 अभ्यास प्रश्नावली

7.6 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

7.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अरस्तु के उन विचारों की जानकारी देना है, जिनसे अरस्तु राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक के रूप में स्थान रखता है। इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे —

- अरस्तु के विचार आज भी कितने प्रासंगिक हैं,
- अरस्तु इस बात पर भी बल देता है कि स्वतन्त्रता व सत्ता में समन्वय होना चाहिए जो इसका प्रतीक है कि राज्य एवं व्यकित का अपना विशेष महत्त्व है,
- शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त से यह जानकारी प्राप्त होगी कि यदि सरकार के तीनों अंग एक ही स्थान पर केन्द्रित रहेंगे तो वहां अधिनायक तन्त्र को बढ़ावा मिलेगा जिसे आधुनिक समय में भी स्वीकारा जाता है,
- अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी के रूप में स्थापित किया है, यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है,
- अरस्तु ने राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग कर राजनीति शास्त्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम किया हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.2 प्रस्तावना

अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक व पिता कहा जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या अरस्तू से पहले कोई राजनीतिक चिंतक नहीं था ?ऐसा नहीं था, क्योंकि उसके पहले प्लेटो व सुकरात जैसे महान् विचारक हुए थे, जिन्होंने अपने राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया। अरस्तू ही एक वह व्यक्ति था जिसने अपनी पॉलिटिक्स नाम पुस्तक में राजनीतिविज्ञान के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया। उसने पॉलिटिक्स का निर्माण एथेन्स नामक नगर में रहकर भी किया था।

यद्यपि प्लेटो ने भी राजनीति के सन्दर्भ में विचार दिये परन्तु वे पूर्णतया कल्पनावादी थे जिनका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। प्लेटो की निगमनात्मक पद्धति थी। वह केवल इस बात पर विचार रखता था कि आदर्श राज्य कैसा होना चाहिए। इस तरह उसके विचार क्रमबद्ध व वैज्ञानिक नहीं थे। उसने राजनीति शास्त्र को नीति शास्त्र का एक अंग बना दिया था अर्थात् उसने राजनीति के स्वतन्त्र अस्तित्व को अस्वीकृत करते हुए उसे समाप्त कर दिया था। अरस्तू ही एक ऐसा विद्वान था जिसने राजनीति को गरिमा प्रदान की तथा उसे नीतिशास्त्र से भिन्न माना और राजनीति को एक उच्च कोटि के शास्त्र बनवाने में अपना पूरा योगदान दिया। मैक्सी ने अरस्तू को प्रथम वैज्ञानिक विचारक कहा है। डर्निंग के अनुसार पश्चिमी जगत में राजनीति विज्ञान अरस्तू से प्रारम्भ होता है। उसकी महानतम कृति पॉलिटिक्स को राजनीति विज्ञान की अनुपम निधि माना जाता है। इस प्रकार अरस्तू को निम्नलिखित आधारों पर राजनीति विज्ञान का जनक व पिता कहा जा सकता है।

7.3.1 उद्‌गमनात्मक पद्धति

अरस्तू ने अपने अध्ययन में उद्‌गमनात्मक पद्धति का अनुसरण किया है जिसके तहत किसी विषय वस्तु का अध्ययन करने से पूर्व तथ्यों का संकल्प किया जाता है, उसके बाद उनका निरीक्षण तत्पश्चात उचित निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। अरस्तू इस विधि को राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में अपनाने वाला प्रथम चिन्तक था। अत: इसी के आधार पर अरस्तू को राजनीति शास्त्र का जनक तथा पिता माना जाता है। जैसे उसने 158 देशों के संविधानों का अध्ययन किया।

7.3.2 नैतिकता व राजनीति का पृथक्करण

जहाँ एक ओर प्लेटो नैतिकता व राजनीति को एक मानकर चलता है, और यह बताता है कि शासक वर्ग को परिवार, घर व सम्पत्ति सभी को छोड़कर शासन कार्य करना चाहिए। इसके विपरीत अरस्तू नैतिकता एवं राजनीति को पृथक-पृथक रूप में स्वीकार करता है।

7.3.3 राज्य के पूर्ण सिद्धान्त का क्रमबद्ध निरूपण

अरस्तू ही वह पहला विचारक था जिसने राज्य के सन्दर्भ में सैद्धान्तिक विचार प्रस्तुत किये। उसने अपने अध्ययन में राज्य की उत्पत्ति तथा उसके विकास , नागरिकता, कानून की सर्वोच्चता तथा शासन प्रणाली आदि के बारे में विस्तारपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत है। यह सभी आधुनिक चिन्तन के विषय है। प्लेटो ने अपने विचारों में संविधान, राज्य व कानून, सरकार आदि का कोई उल्लेख नहीं किया था। बार्कर के शब्दों में ''अरस्तू के विचार प्राय: आधुनिकतम है, भले ही अरस्तू का राज्य केवल एक नगर राज्य ही रहा है। अरस्तू ही वह प्रथम विद्वान था जिसने मनुष्य को सामाजिक प्राणी के साथ-साथ राजनैतिक प्राणी भी माना है। उसका यह विचार राजनीति को एक महत्त्वपूर्ण देन है।''

7.3.4 स्वतन्त्रता व सत्ता का समन्वय

अरस्तू ने स्वतन्त्रता व सत्ता के समन्वय की बात कही है जो वर्तमान राजनैतिक परिवेक्ष पर खरी उतरती है। उसका मत था कि स्वतन्त्रता व सत्ता के सन्दर्भ में इसी तरह की व्यवस्था हो जिस पर ये दोनों एक दूसरे पर हावी न हो सके और दोनों का समान रूप से अस्तित्व बना रह सके। यदि दोनों में समन्वय नहीं होता है। अर्थात् अगर स्वतन्त्रता अधिक है तो सत्ता पर हावी हो रही है तो उस स्थिति में राज्य का कोई अस्तित्व नहीं तो वह स्थिति अराजकता की होगी और यदि सत्ता स्वतन्त्रता पर हावी है तो स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करेगी।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University)

7.3.5 कानूनी प्रभुसत्ता का सिद्धान्त

अरस्तू ने कानूनी प्रभूसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त में उसने यह बतलाया है कि एक व्यक्ति विशेष की प्रभुसत्ता नहीं होती है बल्कि सम्प्रभूत्ता का आधार तो कानून ही होता है जिसको मानकर व्यक्ति सम्प्रभुत्ता का प्रयोग करता है। इसके अलावा वह यह भी कहता है कि प्रभुसत्ता व्यक्ति में निहित न होकर बल्कि कानून में निहित होती है। इस प्रकार अरस्तू की राजनीति शास्त्र को कानूनी प्रभूसता की महत्त्वपूर्ण देन है।

7.3.6 सरकार के अंगों का निर्धारण

अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था जिसने सरकार के तीनों अंगों –व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का उल्लेख किया। साथ ही साथ उनके कार्य तथा संगठन पर भी प्रकाश डाला। अरस्तू के अनुसार व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य कानून का निर्माण करना, कार्यपालिका का कार्य कानून को लागू करना तथा न्यायपालिका का काम कानूनों का संरक्षण, कानूनी की व्यवस्था तथा कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित करना है। इस तरह वर्तमान में भी सरकार इन्हीं अंगों पर आधारित रहकर कार्य कर रही है।

सरकार के अंग	कार्य
व्यवस्थापिका	कानूनों का निर्माण करना
कार्यपालिका	कानूनों को लागू करना,
न्यायपालिका	कानूनों का संरक्षण एवं व्याख्या करना

अरस्तू ने ही सरकार के तीन अंगों नीति निर्धारक, प्रशासकी व न्यायिक भूमिका का निर्धारण कर दिया था जो आज वर्तमान में मांण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त में उल्लेखित व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका के समान्तर है। सम्भव: माण्टेस्क्यू ने इन्हीं अरस्तू के द्वारा निर्धारित अंगों के आधार पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार यह भी अरस्तू की महत्त्वपूर्ण देन है।

7.3.7 राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर विचार

अरस्तू ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करते हुये राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर अपने विचार प्रस्तुत किये। जिसमें उसने यह बताया कि व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति तो रखना चाहिए पर ऐसा न हो कि इससे समाज में आर्थिक असमानता बढ़े और गरीबो व अमीरों के बीच की खाई ओर बढ़े। अगर ऐसा होगा तो क्रान्ति हो जायेगी।

7.3.8 मध्यम मार्ग का अनुसरण

अरस्तू को राजनीति शास्त्र का पिता इसीलिए कहते है कि उसने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। अर्थात् अरस्तू ने अपने प्रत्येक विचारों में अति से बचने का प्रयास किया है। जैसे उसने सत्ता व स्वतन्त्रता में समन्वय रखने का प्रयास किया। इस तरह से उसने क्रान्ति के मूल कारणों की खोज की।

7.3.9 संविधान का विस्तृत अध्ययन

अरस्तू ही प्रथम विचारक था जिसने संविधान के बारे में व्यापक विस्तृत अध्ययन किया है। बार्कर ने अरस्तू की महा कृति 'पॉलिटिक्स' के अनुवाद में लिखा है– 'अगर कोई यह पूछे कि अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' ने सामान्य यूरोपीय विचारधारा को उत्तराधिकार के रूप में क्या दिया तो इसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है– संविधान शास्त्र'। वास्तव में संविधान के बारे में विस्तृत अध्ययन जितना पॉलिटिक्स में किया गया है उतना किसी में भी नहीं किया गया है। इसमें जो विचार बताये गये हैं वे वर्तमान व्यवस्था से मिलते हैं।

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत संविधान या शासन प्रणालियों का वर्गीकरण आज भी प्रासंगिक है। उसने इन का वर्णन अपनी रचना पालिटिक्स में विश्व के 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् ये वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इस वर्गीकरण में अरस्तू तीन स्वस्थ एवं तीन विकृत शासन प्रणालियों का उल्लेख करता है। वर्गीकरण का मूल आधार ये है कि शासन की शक्ति या सम्प्रभुता का निवास कहा है और शासकों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का उद्देश्य क्या है ?अरस्तू का मत है कि शासन या संविधानों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वर्गीकरण नियन्त्रित रूप से चलता रहता है। लेकिन अरस्तू अपने इस वर्गीकरण के माध्यम से राजतन्त्र की सर्वश्रेष्ट एवं लोकतंत्र को विकृष्ट शासन पद्धति करार दिया है।

अरस्तू का वर्गीकरण

शासकों की संख्या	शुद्ध रूप	शासन का आधार	विकृत	शासन का आधार
एक व्यक्ति	राजतंत्र	जनकल्याण	निरंकुशतंत्र	स्वकल्याण
कुछ व्यक्ति	कुलीनतंत्र	जनकल्याण	धनिकतंत्र	स्वद्रित
बहुसंख्या	बहुतंत्र	जनहित के अनुकूल	लोकतंत्र या भीड़तंत्र	जनकल्याण की अनदेखी

7.3.10 नागरिकता की व्याख्या

अरस्तू द्वारा नागरिकता की जो व्याख्या की गई है, वह राजनीति शास्त्र के लिए बहुत ही सहायक और आधुनिक नागरिकता की परिभाषा को निर्धारित करने में मार्गदर्शक सिद्ध हुई है। नागरिकता सम्बन्धी विषय के अध्ययन के लिए आगे चलकर विद्वानों ने अरस्तू के मूल विचारों को ही आधार बनाया। नागरिकता का विचार अरस्तू की एक मौलिक देन है जिसके लिए राजनीति शास्त्र उसका सदा के लिए ऋणी है।

7.3.11 राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक करना

अरस्तू ने राजनीति विज्ञान को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसको व नीतिशास्त्र को पृथक-पृथक किया। उसके अनुसार नीतिशास्त्र का सम्बन्ध उद्देश्यों से है जबकि राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध उन साधनों से है जिनके द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र को स्वतन्त्र विश्व के रुप में प्रतिष्ठित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

7.3.12 राजनीति पर भौगोलिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन

अरस्तू ने राजनीति पर पड़ने वाले भौगोलिक और आर्थिक प्रभावों को बहुत महत्त्व दिया है। उसने इन मूलभूत तथ्यों का प्रतिपादन किया कि सम्पत्ति का लक्ष्य और वितरण शासन व्यवस्था के रूप को निर्धारित करने में निर्णयकारी तत्त्व होता है राज्य की समस्याओं का एक बहुत बड़ा कारण अत्यधिक धनी एवं निर्धनों के बीच चलने वाला संघर्ष है। व्यक्तियों का व्यवसाय उनकी राजनीतिक योग्यता और प्रवृत्ति को प्रभावित करता है। यदि सम्पत्ति पर स्वामित्व व्यक्तिगत रहे लेकिन उसका उपयोग सार्वजनिक हो तो राज्य की समस्याएं सरलता से हल हो सकती है। राज्य की भौगोलिक स्थिति की चर्चा करते हुए अरस्तू कहता है कि राज्य सागर तट के पास होना चाहिए ताकि विदेशों से व्यापार सम्बन्ध रखे जा सकते।

7.3.13 शक्ति पृथ्थकरण का सिद्धान्त

अरस्तू ने केवल सरकार के अंगों का उल्लेख नहीं किया है अपितु वह इस बात पर भी बल देता है कि सरकार के अंगों के बीच में परस्पर किस प्रकार के संबंध होने चाहिए। उसका मत था कि यदि सम्पूर्ण एक व्यक्ति या स्थान में विहित या केन्द्रीत होगी तो वह निरंकुश बनकर कार्य करेगा अत: सरकार के अंगों का प्रथ्थकरण होना चाहिए। इस विचार को आगे चलकर माण्टेस्क्यू ने अपने शक्ति पृथ्थकरण के सिद्धान्त के माध्यम से प्रस्तुत किया। इस तरह अरस्तू के ये विचार भी राजनीति शास्त्र को उसकी अनुपम देन माना जा सकता है।

शक्ति पृथक्करण का मॉडल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.3.14 नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त

अरस्तू इस बात से भली भाँति परिचित था कि शक्ति पृथ्थकरण का अर्थ एक राज्य में तीन अलग-अलग सम्प्रभुता धारी का निर्माण करना है जो राज्य की एकता एवं अखण्डता पर प्रश्न चिन्ह लगा सकती है। अत: उसने शक्ति पृथ्थकरण के साथ-साथ नियन्त्रण व सन्तुलन को सिद्धान्त के औचित्य को स्वीकार किया। सरकार के अंग पृथक तो होने चाहिए ताकि वे नियन्त्रण में रह सके तथा सम्प्रभुता का विभाग न हो सके। आधुनिक समय में अनेक राज्यों के संविधानों में शक्ति पृथ्थकरण के साथ-साथ नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाया गया है, जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का प्रावधान सर्वोच्च उदाहरण है।

7.3.15 मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी के रूप में

अरस्तू ने अपनी कृति पॉलिटिक्स में स्पष्ट किया है कि मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। जो मनुष्य समाज एवं राज्य में नहीं रहता है वह देवी-देवता या पशु होता है। इस नाते मनुष्य का समाज एवं राज्य में रहना बहुत आवश्यक है क्योंकि इनके बिना मानव का कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य इनमें रहकर अपनी अनेक प्रकार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

7.4 सारांश

सारांश में, यही कहा जा सकता है कि अरस्तू को राजनीतिविज्ञान का प्रथम विचारक या चिन्तक माना जाता है। उनके विचारों तथा अध्ययन पद्धति ने राजनीति विज्ञान को अनुपम देन दी है।

7.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक क्यों कहा जाता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अरस्तू सत्ता एवं स्वतन्त्रतास के बीच किस प्रकार समन्वय स्थापित किया है।
2. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत संविधानों का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
3. ''अरस्तू मध्यम मार्गी था'' सिद्ध कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीति शास्त्र को नीति शास्त्र से पृथ्थ करने का श्रेय किसे जाता है।
2. अरस्तू की मुख्य अध्ययन पद्धति कौन सी थी ?
3. अरस्तू ने किस शासन प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ माना है।
4. संविधानों का वर्गीकरण प्रस्तुत करने से पूर्व अरस्तू ने कितने संविधानों का अध्ययन किया।
5. आधुनिक युग में शक्ति पृथ्थकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादत किसने किया।
6. शक्ति पृथ्थकरण का क्या महत्त्व है ?
7. उस राष्ट्र के संविधान का नाम बताओं जहाँ शक्ति पृथ्थकरण के साथ-साथ नियन्त्रण व सन्तुलन का सिद्धान्त अपनाया गया है।

7.6 सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

चन्द्रदेव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक अरस्तू'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना

श्रीराम शर्मा ''पाश्यात्य राजनीतिक विचारक'' कॉलेज बुक हाऊस, जयपुर

प्रभुदत्त शर्मा ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

बी.आर. पुरोहित ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

के.एन. वर्मा ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' रस्तोगी पब्लिशेन्स, मेरठ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 8

अरस्तू का राज्य सिद्धान्त

संरचना

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 राज्य का विकास

- 8.3.1 परिवार
- 8.3.2 ग्राम
- 8.3.3 राज्य

8.4 राज्य का स्वरूप एवं विशेषताएं

- 8.4.1 राज्य प्राकृतिक समुदाय
- 8.4.2 राज्य एक आत्म-निर्भर संगठन
- 8.4.3 मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी
- 8.4.4 राज्य सर्वोच्च समुदाय है
- 8.4.5 राज्य सभी समुदायों का अग्रज
- 8.4.6 राज्य का आंगिक सिद्धान्त

8.5 राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

8.6 सारांश

8.7 अभ्यास प्रश्नावली

8.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

8.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अरस्तू के राज्य संबंधी विचारों को जानना है। इस अध्याय के अध्ययनोपरान्त आपको निम्नलिखित जानकारी हासिल होगी—

- राज्य का मानव जीवन में कितना महत्त्व है और मनुष्य अपना विकास इसमें रहकर ही कर सकता है,
- राज्य की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटना या अलौकिक शक्ति का परिणाम न होकर बल्कि मानव द्वारा की गई है, जिसके निर्माण में अनेक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है,
- अरस्तू यह भी सिद्ध करता है कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है, जिसका राज्य के साथ होना बहुत जरूरी है,
- इससे हमें राज्य के कार्यों एवं दायित्वों के संबंध में जानकारी मिलेगी,
- अरस्तु राजय की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, उसकी भी जानकारी प्राप्त होगी।

8.2 प्रस्तावना

राज्य राजनीति शास्त्र का मुख्य विषय रहा है। अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' के पहले खण्ड में राज्य संबंधी विचारों का उल्लेख किया है। अरस्तू के अनुसार मानव एक सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ राजनीतिक प्राणी भी है। उसका समाज

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और राज्य में रहना बहुत आवश्यक है जो इनमें नहीं रहता वह देवी-दवेता या पशु है। राज्य एक प्रकार का समुदाय है। प्रत्येक समुदायों की स्थापना कुछ एक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती है। राज्य एक राजनीतिक समुदाय है। जिसका उद्देश्य मानव के हितों की पूर्ति करना था यह सर्वोच्च समुदाय है। मानव अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अनेक समुदायों का निर्माण करता है। अत: राज्य अन्य समुदायों से सर्वोच्च होने के नाते सभी में समन्वय एवं तालमेल बनाये रखता है तथा किसी भी समुदाय को नियन्त्रण की सीमा से बाहर नहीं होने देता है।

8.3 राज्य का विकास

हमारे सम्मुख विवादास्पद प्रश्न यह है कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। इस संबंध में अरस्तू का मत है कि राज्य की उत्पत्ति अचानक नहीं हुई। इसकी उत्पत्ति में विभिन्न संस्थाओं का योगदान रहा है।

8.3.1 परिवार

अरस्तू राज्य की उत्पत्ति की प्रारम्भिक संस्था परिवार को मानता है। पुरुष-स्त्री में प्राकृतिक रूप से आकर्षण रहता है तथा वे एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। यौन-संबंध मानव सृष्टि के लिए अनिवार्य एवं अति आवश्यक है। आदिकाल से स्त्री-पुरुष यौन सन्तुष्टि तथा वंश वृद्धि के लिए आपस में मिलकर रहे हैं। स्त्री-पुरुष के सहजीवन को परिवार की संज्ञा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि मानव की प्रारम्भिक संस्था परिवार है।

8.3.2 ग्राम

अनेक परिवारों के मिलने से एक बड़े समुदाय का निर्माण होता है, जिसका उद्देश्य दैनिक जीवन की आवश्कयताओं की पूर्ति के साथ और भी कुछ होता है। ऐसे बड़े समुदाय को ग्राम कहा जाता है। इस प्रकार परिवार के मिलन से ग्राम का निर्माण हुआ। प्रत्येक मानव आत्म-निर्भर नहीं है। परिवार भी पूर्णतया आत्म-निर्भर समुदाय नहीं है। मानव के अपनी अनेक आवश्यकताओं के कारण परिवार ग्राम के रूप में विकसित हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि ग्राम एक प्राकृतिक समुदाय है तथा उसका संचालन सभी परिवारों के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति के हाथों में रहा, जिसने आगे चलकर राजतंत्र का रूप लिया। इस प्रकार 1. रक्त संबंध, 2. परिवार की अपर्याप्तता, 3. अधिक आवश्यकता की पूर्ति, 4. सामाजिक भावना, 5. पारस्परिक लाभ की इच्छा - इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक परिवार के संयुक्त होने ग्राम समुदाय का निर्माण हुआ।

8.3.3 राज्य

मानव की इच्छाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती गईं और ग्राम के विकास से संतुष्ट नहीं हुआ। कालान्तर में अनेक ग्रामों के संयुक्त होने से एक पूर्ण समुदाय का निर्माण हुआ। जो राज्य कहलाया। यह बहुत हद तक आत्म-निर्भर समुदाय सिद्ध हुआ। राज्य की उत्पत्ति में मौलिक आवश्यकताओं का हाथ का योगदान रहा जो मानव के श्रेष्ठ जीवन के लिए कायम है। अरस्तू का मत है कि स्वभाव से मानव एक राजनीतिक प्राणी है। उसका श्रेष्ठ जीवन एक राजनीतिक संस्था में सम्भव है। वह कानून व न्याय पर आधारित जीवन प्रसन्द करता है। इस उद्देश्य के लिए ग्राम राज्य में विकसित हुआ। राज्य उच्चतर समुदाय है जो बहुत हद तक आत्म निर्भर है। इस प्रकार परिवारों तथा ग्रामों के मेल से राज्य की उत्पत्ति हुई है।

राज्य-विकास का मॉडल

8.4 राज्य का स्वरूप एवं विशेषताएँ

अरस्तू के राज्य के स्वरुप तथा उसकी विशेषताओं को निम्नलिखित रुप से रखा जा सकता है-

Jan Kalyan Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.4.1 राज्य प्राकृतिक समुदाय

अरस्तू के अनुसार राज्य एक प्राकृतिक समुदाय है। उसके अभाव में व्यक्ति के जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवार मानव की प्राकृतिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। परिवार से ग्राम एवं ग्राम से राज्य का विकास हुआ। मानव परिवार में जन्म लेता है, ग्राम में विकास पाता है तथा राज्य 'श्रेष्ठ जीवन' एवं पूर्णता प्राप्त करता है।

8.4.2 राज्य एक आत्म-निर्भर संगठन

परिवार एवं ग्राम मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ण रूप से नहीं कर सकते इसके लिए एक सर्वोच्च समुदाय की आवश्यकता होती है। वह सर्वोच्च समुदाय राज्य है, जिसमें मानव अपने पूर्णता तथा श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति करता है। अरस्तू ने राज्य को आत्म निर्भर माना है जहां मानव की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अरस्तू के अनुसार आत्म निर्भरता का अर्थ दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ बौद्धिक एवं आध्यात्मिक गुणों के साधनों की पूर्ति से है।

8.4.3 मानव एक राजनीतिक प्राणी

अरस्तू के अनुसार मानव सामाजिक प्राणी के साथ-साथ राजनीतिक प्राणी भी होता है। अत: मानव के सामाजिक भावना के साथ-साथ राजनीतिक भावना भी होती है। वह विवेकशील प्राणी है। वह बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास चाहता है। श्रेष्ठ जीवन इन्हीं के विकास से सम्भव है। कानून, न्याय तथा सरकार के अभाव में मानव जीवन कठिन है। राज्य ये सभी साधन प्रदान करता है।

8.4.4 राज्य सर्वोच्च समुदाय है

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ पॉलिटिक्स का प्रारम्भ राज्य से किया है। वह प्रथम वाक्य में लिखता है कि प्रत्येक राज्य एक प्रकार का समुदाय है। कुछ हितों की प्राप्ति हेतु समुदायों का निर्माण किया जाता है। मानव का सदैव यही सोच रहती है कि वह अच्छी वस्तु को प्राप्त करे अर्थात् वह मानव के सर्वश्रेष्ठ हित की कामना करता है। परिवार अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है लेकिन राज्य भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसीलिए राज्य को एक पूर्ण एवं सर्वोच्च समुदाय माना गया है।

8.4.5 राज्य सभी समुदायों का अग्रज हैं

अरस्तू का कथन है कि राज्य वास्तव में व्यक्ति तथा परिवार का अग्रज है। लेकिन ऐतिहासिक विकास की दृष्टिकोण से सर्वप्रथम व्यक्ति का अविर्भाव हुआ। उसके बाद परिवार और अन्य परिवारों के मिलने से ग्राम तथा अन्त में ग्रामों के मिलने से राज्य का विकास हुआ। यदि विकास की दृष्टि से देखा जाए तो राज्य व्यक्ति, परिवार तथा ग्राम का अग्रज है।

8.4.6 राज्य का आंगिक सिद्धान्त

अरस्तू ने अपने इस विचार की पुष्टि के लिए आंगिक एकता सिद्धान्त का सहारा लिया है। उसका तर्क है कि जिस प्रकार मानव के विभिन्न अंगों का अस्तित्व शरीर के साथ जुड़े रहने पर होता है और एक अंग में विकृति आने पर सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है उसी प्रकार व्यक्ति का राज्य से पृथक कोई अस्तित्व नहीं होता है।

8.4.7 राज्य मानव निर्मित संस्था

अरस्तु राज्य को मानव निर्मित संस्था मानता है। उसका तर्क है कि राज्य का निर्माण मनुष्य ने उन परिस्थितियों में किया है जब उसका जीवन खतरे में पड़ गया था अत: उसने अपने जीवन में आई अस्थिरता को दूर करने के लिए एक ऐसी संस्था का निर्माण कियाक, जो आगे चलकर राज्य के रूप में स्थापित हो सकी। अत: राज्य को भी चाहिए कि वह मनुष्य के जीवन को खुशहाल व उन्नतिशील बनाने का प्रायस करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अरस्तू राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

8.5 राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

अरस्तू का मत है कि ''राज्य मानव जीवन के लिए बना है और सद्जीवन के लिए बना रहेगा।'' इस तरह अरस्तू ने राज्य का प्रबल समर्थन करते हुए उसे एक सकारात्मक अच्छाई के रूप में देखा है। उसका कार्य केवल बुरे कामों को रोकना अथवा अपराधों को रोकना नहीं वरन् मानव को नैतिकता व सद्गुणों के मार्ग पर आगे बढ़ाना है। उसका लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना है। इस

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तरह अरस्तू राज्य को व्यापक कार्य देने के पक्ष में है। उसका मत है कि ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो राज्य की सीमा से परे हो। इस तरह अरस्तू के विचारों से ऐसा आभास होता है कि वह राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप का समर्थन करते हैं, जो आधुनिक राज्य का स्वरूप माना जाता है। अरस्तू के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं–

- ➢ अपने सदस्यों में पूर्ण एवं आत्मनिर्भर जीवन की व्यवस्था करना।
- ➢ व्यक्ति की श्रेष्ठ प्रवृत्ति को श्रेष्ट कार्य के रूप में विकसित करना।
- ➢ सदस्यों की प्राकृतिक आवश्यकताओं को पूरा करना।
- ➢ व्यक्ति को ऐसे साधन व वातावरण उपलब्ध करवाना जिसमें व्यक्ति का भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास हो सके।

8.6 सारांश

अन्त में, सारांश रूप में यही कहा जा सकता है कि अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार वर्तमान में भी सामयिक तथा प्रासंगिक है। अरस्तु राज्य को मानव के विकास का पर्याय मानते हैं। उनका यह दावा है कि राज्य का निर्माण भी मनुष्य ने अपनी सुविधाओं को ध्यान में रखकर किया है। अतः राज्य को भी चाहिए कि वह हर स्तर पर जन-इच्छाओं और आकांक्षाओं पर खरा उतरे। अरस्तु का राज्य सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के लिए अमर अजर सन्देश लिए हुए है, जिसका प्रभाव हमेशा बना रहेगा।

8.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू के राज्य संबंधी विचार बताओ।

लघूत्तरात्मक

1. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत राज्य विकास का वर्णन कीजिए।
2. 'अरस्तू राज्य की आंगिकता एकता सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।' सिद्ध करो।
3. अरस्तू लोक कल्याणकारी राज्य का प्रवर्तक है। स्पष्ट कीजिए।
4. राज्य के संबंध में अरस्तू का क्या दृष्टिकोण है ?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अरस्तू राज्य विकास का मूल समुदाय किसे मानता है ?
2. ग्राम के मूलभूत आधार क्या होते हैं ?
3. ''राज्य जीवन के लिए बना है और सदा जीवन के लिए बना रहेगा।'' यह विचार किसने दिए हैं ?
4. राज्य सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू ने अपने किस ग्रन्थ में किया है ?
5. अरस्तू राज्य के लिए किस सिद्धान्त का समर्थन करता है ?
6. अरस्तू राज्य का कैसा स्वरूप मानता है ?
7. अरस्तू के अनुसार राज्य का मुख्य उद्देश्य क्या है ?
8. अरस्तू सर्वोच्च समुदाय किसे मानता है ?

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

चन्द्रदेव प्रसाद, ''महान् राजनीतिक विचारक अरस्तू'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना
श्रीराम वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' कॉलेज बुक हाऊस, जयपुर
ओ.पी.गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'' मयूर पेपर बेक्स नौएडा
बी.एल.फड़िया, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक का इतिहास (प्लेटो, बर्क)'' साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा
हरिदत्त वेदालंकार, ''प्रतिनिधि विचारक''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई - 9

अरस्तू का दासता सिद्धान्त

संरचना

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 यूनानी दासता का स्वरूप

9.4 अरस्तू के अनुसार दासता का अर्थ एवं प्रकृति

9.5 दासता का औचित्य

- 9.5.1 दासता प्राकृतिक है
- 9.5.2 स्वामी वर्ग सम्पूर्ण समाज के लिए लाभकारी
- 9.5.3 दासता नैतिक है
- 9.5.4 राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था तथा स्थायित्व का अंग

9.6 दासों की स्थिति सुधारने की योजना

- 9.6.1 दास प्रथा के प्रकार
- 9.6.2 दास प्रथा स्वामी व दास दोनों के लिए हितकारी
- 9.6.3 सभी दासों के मुक्ति के अवसर
- 9.6.4 यूनानी बुद्धिमान
- 9.6.5 दास प्रथा, जन्म मूलक नहीं

9.7 सारांश

9.8 अभ्यास प्रश्नावली

9.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

9.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अरस्तु द्वारा प्रतिपादित दासता सिद्धान्त को जानना है। इसके अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- अरस्तु तत्कालीन समाज व्यवस्था से बहुत प्रभावित था इसीलिए उसने दासता जैसी अमानवीय व्यवस्था का समर्थन किया,
- दासता को समाज के लिए उचित कहा गया,
- अरस्तू दासता का प्रबल समर्थक होने के बावजूद उसने सुधार हेतु व्यापक योजना प्रस्तुत की, जिससे यह आभास होता है कि अरस्तू दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखता था।

9.2 प्रस्तावना

यूनानी समाज में दास प्रथा के परम्परा के रूप में स्वीकार की जाती है। प्राचीन यूनान में प्रत्येक व्यक्ति दास रखना अपनी प्रतिष्ठा के सूचक के रूप में देखता था। दास प्रथा की उपस्थिति यूनानी नगर राज्यों की एक प्रमुख विशेषता और एक महत्ती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आवश्यकता थी। व्यक्तिगत आधार पर यूनानी लोग अनेक दासों के स्वामी होते थे। इन दासों की सहायता से वे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं भोजन, वस्त्र आदि को जुटाने का प्रयत्न करते थे एवं अवकाश के क्षण निकालकर अपने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के कर्तव्यों का निर्वाह करते थे। दास प्रथा तात्कालीन यूनानी जीवन का इतना बड़ा यथार्थ थी कि अनेक विद्वानों ने यूनानी राजनीतिक जीवन, सभ्यता एवं संस्कृति आदि को दास प्रथा पर ही अवलम्बित माना है।

अरस्तू के समय यूनान में दास प्रथा अपने चरमोत्कर्ष में थी। स्वयं अरस्तू सैकड़ों दासों का स्वामी था। यूनान में दासों को पशु की भांति खरीदा व बेचा जाता था। इनकी अपनी कोई जिन्दगी नहीं होती थी। अरस्तू स्वयं दास प्रथा का पक्षधर था। उसके इसी विचार ने उसकी प्रतिष्ठा को धूमिल किया और उसे व्यापक आलोचनाओं का सामना करना पड़ा था। अरस्तू ने मरते समय दासों के बारे में यह कहा था कि मेरे दासों को कभी नहीं बेचना बल्कि उनको उचित प्रशिक्षण देकर स्वतंत्र कर देना।

अरस्तू ने दासों की उपयोगिता के सन्दर्भ में कहा था कि- ''जिस प्रकार वीणा आदि वाद्य यन्त्रों की सहायता के बिना उत्तम संगीत उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार दासों के बिना स्वामी के उत्तम जीवन का तथा बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का विकास सम्भव नहीं है।'' इस प्रकार यूनानी जीवन का एक प्रमुख आधार दासता रही है।

9.3 यूनानी दासता का स्वरूप

दास प्रथा के औचित्य का प्रतिपादन करते समय अरस्तू के मस्तिष्क में एटिक जैसे नगर राज्यों में दासों की स्थिति थी। ऐटिक नगर राज्य में दास को परिवार का अंग समझा जाता था और उसकी वेशभूषा परिवार के सदस्यों की भांति ही थी। उसके साथ सामाजिक और कानूनी दृष्टि से असमानता का व्यवहार नहीं किया जाता था और राज्य की तरफ से उसे संरक्षण प्राप्त होता था। वस्तुत: अरस्तू को दास प्रथा की अमानुषिकता का भान ही नहीं था। यूनानी नगर राज्यों में मुट्ठी भर लोग अपने दासों को सभी प्रकार के राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखते थे, और उन्हें मानव के रूप में भी स्वीकार नहीं करते थे। डॉ. टेलर के अनुसार अरस्तू जिन दासों की चर्चा करता है वे पारिवारिक नौकर और छोटे-छोटे व्यवसायों में मजदूरी करने वाले श्रमिक जैसे लोग थे। वह उन दासों की चर्चा नहीं करता है जो उत्पीड़ित और क्रूरता के शिकार रहे है।

9.4 अरस्तू के अनुसार दासता का अर्थ एवं प्रकृति

वर्तमान परिपेक्ष व अरस्तू के समय में दासता शब्द के अर्थ में व्यापक भेद दिखलायी पड़ता है। जहां वर्तमान में दासता का अर्थ उस प्रथा से है जिसके तहत एक व्यक्ति द्वारा एक या कुछ या एक समूह विशेष के प्रति शोषणकारी व दमनकारी नीति का अनुसरण करना ही दास प्रथा है। जैसे बेगारी प्रथा, रंग-भेद आदि। वही अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता के सिद्धान्त में इसका अर्थ कुछ भिन्न ही प्रतीत होता है। उसके अनुसार- ''जो स्वभावत: अपना नहीं लेकिन दूसरो का है दास है।'' दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि दास वह है जिसका स्वयं का कोई व्यक्तित्व नहीं होता और यहां तक कि जिसका अपना मस्तिष्क नहीं होता।

9.5 दासता का औचित्य

अरस्तू के निम्नलिखित तर्कों के आधार पर दास प्रथा के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया है—

9.5.1 दासता प्राकृतिक है

अरस्तू सर्वप्रथम मानव मात्र की प्राकृतिक असमानता के आधार पर दास प्रथा का समर्थन करता है। उसका विचार है कि बुद्धि, योग्यता एवं गुणों की दृष्टि से व्यक्ति प्राकृतिक से ही असमान होता है। प्रकृति के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग गुण प्रदान किये जाते हैं। वह नहीं चाहती है कि सभी व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से समान हो।

9.5.2 स्वामी वर्ग सम्पूर्ण समाज के लिए लाभकारी

दासता का महत्त्व इस आधार पर भी है कि स्वामी वर्ग की योग्यता, अनुभव एवं गुणों का लाभ सम्पूर्ण समाज को मिलता है जिससे दास या समाज के कमजोर लोगों को अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का अवसर मिलता है। अरस्तू का मत है कि स्वामी वर्ग यदि श्रम भी करेगा और विवेक के कार्य करेगा तो उससे सामाजिक ढ़ांचा प्रभावित हो सकता है। अत: स्वामियों को श्रम से मुक्ति मिले

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जो काम दास करें इससे स्वामियों को अपने बुद्धि एवं विवेक के उत्थान का अवसर मिलेगा। अरस्तू ने लिखा है कि ''जिस प्रकार वीणा, आदि वाद्य यन्त्रों की सहायता के बिना उत्तम संगीत उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार दासों के बिना स्वामी के उत्तम जीवन का तथा बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का विकास नहीं हो सकता है।''

9.5.3 दासता नैतिक है

अरस्तू दासप्रथा को केवल प्राकृतिक आधार पर ही उचित नहीं मानता वरन् नैतिक आधार पर भी उचित मानता है। उसका मत है कि दास विवेक-शून्य प्राणी होते हैं, किन्तु बुद्धिमान वर्ग के व्यक्तियों के साथ निरन्तर सम्पर्क में रहते हैं उससे उन्हें विवेक और गुण का आवश्यक अंश प्राप्त हो जाता है।

अरस्तू के शब्दों में ''जो जन्मजात दास है उसके जीवन में संयम का पालन तभी हो सकता है जब वे संयमी व्यक्ति के निर्देशन में काम करें। इस प्रकार दासप्रथा स्वयं दास के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।''

9.5.4 राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था तथा स्थायित्व का अंग

अरस्तू द्वारा दास प्रथा को न्यायपूर्ण मानने का एक कारण यह भी था कि यूनान की अर्थ-व्यवस्था को संचालित करने एवं उसे गति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। दास प्रथा को समाप्त करने का अर्थ यूनान की अर्थव्यवस्था का चौपट करना था। इससे यूनान का आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ढ़ांचा ध्वस्त हो सकता था।

9.6 दासों की स्थिति सुधारने की योजना

अरस्तू दास प्रथा को केवल औचित्यपूर्ण नही मानता वरन् उसका मत है कि दासों की स्थिति में सुधार लाने के लिए भी प्रयास किये जाने चाहिए। दास प्रथा के साथ अरस्तू ने निम्नलिखित शर्तें आरोपित की है:-

9.6.1 दास प्रथा के प्रकार

अरस्तू के अनुसार दास प्रथा के दो प्रकार होते हैं - प्रथम प्राकृतिक तथा दूसरी कानूनी। प्राकृतिक दास वे होते है जिनका शारीरिक विकास तो होता है लेकिन बौद्धिक विकास नहीं होता है। कानूनी दास वे होते हैं जिन्हें युद्ध में जीता जाता है अर्थात् पराजित राष्ट्र के नागरिकों तथा सैनिकों को दास बनाकर रखा जाता है। लेकिन वह कानूनी दासता को न्यायोचित नहीं ठहराता है।

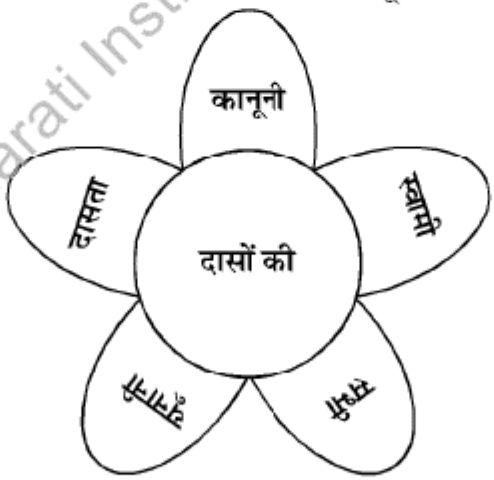

9.6.2 दास प्रथा स्वामी व दास दोनों के लिए हितकारी

अरस्तू के अनुसार दासों का अच्छी तरह पालन पोषण करना दासों और स्वामियों दोनों के लिए हितकारी है। इसलिए उसका विचार है कि दासों के प्रतिस्वामियों का विचार व्यवहार सहृदयता पूर्ण होना चाहिए। उनका कहना था कि यदि स्वामी दासों के प्रति उचित व न्याय संगत व्यवहार न करें तो राज्य को दण्ड देना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.6.3 सभी दासों के मुक्ति के अवसर

अरस्तू का मत है कि दास प्रथा में एक बार दास बनने के बाद सम्पूर्ण जीवन इस स्थिति में नहीं रहता। यदि दास का नैतिक व बौद्धिक विकास हो जाता है और स्वामी की मृत्यु हो जाती है तब दासों को मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

9.6.4 यूनानी बुद्धिमान

अरस्तू का मत है कि विश्व में सबसे अधिक बुद्धिमान एवं विवेक सम्पन्न व्यक्ति यूनानी ही होते हैं। अत: यूनान दास बनने के लिए नहीं है, इसलिए यूनान में दास प्रथा नहीं हो सकती है।

9.6.5 दासता जन्म मूलक नहीं

अरस्तू के अनुसार दासता जन्म मूलक नहीं होती वरन् गुणों पर आधारित होती है। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि दास का बेटा दास हो, यदि उसमें विवेक शक्ति है तो वह दास नहीं होगा।

9.7 सारांश

अन्त में, निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि दासता की अवधारणा का समर्थन करने के कारण ही अरस्तू को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आलोचना का पात्र बनना पड़ा है। यद्यपि उसका तर्क था कि दासता यूनानी समाज एवं अर्थव्यवस्था का आधार है, उसके विकास के लिए यह बहुत जरूरी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू तत्कालीन मान्यताओं से अपने आपको अलग नहीं कर सका, साथ ही साथ अरस्तू ने सुधार योजना प्रस्तुत कर दासता के प्रति मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। इसके अलावा अरस्तू नस्ल भेद की भावना से ग्रस्त था।

9.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू की दासता संबंधी सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक

1. यूनानी दासता का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. अरस्तू दासता को संपूर्ण समाज के लिए किस प्रकार लाभकारी मानता है।
3. दासता में सुधार हेतु अरस्तू ने कौनसी व्यवस्थाएं बताई है।

अतिलघूत्तरात्मक

1. अरस्तू दासता का अर्थ क्या बताते हैं ?
2. दासों के कितने प्रकार होते हैं ?
3. कानूनी दास कौन से होते हैं ?
4. अरस्तू दासता को किस रूप में मानता है ?

9.9 सन्दर्भ सूची

ज्योति प्रसाद सूद ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास''

बी.आर.पुरोहित ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

चन्ददेव प्रसाद, ''महान राजनीतिक विचारक अरस्तू'' भारती भवन, पटना

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा, ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो जयपुर

अर्नेस्ट बर्क, ''यूनारी राजनीतिक सिद्धान्त'' हिन्दी दिल्ली वि.वि. प्रकोष्ठ द्वारा

अरस्तू ''पॉलिटिक्स''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 10

संविधानों का वर्गीकरण एवं श्रेष्ठ संविधान

संरचना

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 संविधान वर्गीकरण का आधार

10.3.1 संख्या का आधार

10.3.2 नैतिकता के आधार

10.4 अरस्तू का वर्गीकरण

10.5 संविधान वर्गीकरण की विशेषताएं

10.5.1 सामाजिक तत्त्वों में संबंध स्थापित करना।

10.5.2 परिवर्तन पत्र के रूप

10.5.3 राजतंत्र श्रेष्ठ संविधान

10.5.4 जनकल्याण की महत्ता

10.6 सारांश

10.7 अभ्यास प्रश्नावली

10.8 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अरस्तू द्वारा प्रतिपादित संविधानों के वर्गीकरण को जानना है। इसके पश्चात् आप जान सकेंगे —

- शासन व्यवस्था का चक्र निरन्तर चलता रहता है, जब किसी व्यवस्था में विकृति आ जाती है तब एक नवीन व्यवस्था उभर कर सामने आती है,
- वही शासन प्रणाली या संविधान सर्वश्रेष्ठ है, जो जन-हितों पर आधारित होता है,
- अरस्तू ने संविधानों का वर्गीकरण विश्व के 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद प्रस्तुत किया है अत: इससे तुलनात्मक अध्ययन पद्धति के बारे में जानकारी मिलेगी।
- राजतंत्र को ही सर्वश्रेष्ठ संविधान माना गया है,
- शासन का नैतिक आधार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है,
- विकृत शासन चाहे वह कोई भी हो उसे राज्य के लिए उचित नहीं माना जा सकता।

10.2 प्रस्तावना

अरस्तू को राजनीति विज्ञान के जनक के रुप में प्रतिष्ठित करने में उसके संविधानों के वर्गीकरण का भी महत्त्वपूर्ण योगदान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रहा है। उन्होंने विश्व के 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन कर के संविधानों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। प्रस्तुत किया। उस का मत है कि प्रत्येक संविधान या शासन प्रणाली का अपना विषेष महत्त्व होता है। संविधानों की व्याख्या की है। जब इन संविधानों में विकृति आ जाती है अर्थात् उनका उद्देश्य जन कल्याण एवं जन हित के स्थान पर स्वहित जो जाता है, तब उसका विकृत रूप उभरकर सामने आता है। अरस्तू के इस वर्गीकरण का आधार मुख्यत: इस अवधारणा पर है कि संविधानों सम्प्रभुता स्थान कहां है। इस तरह राज्यों या संविधानों या शासन प्रणालियों को जाता है।

10.3 संविधान वर्गीकरण का आधार

अरस्तू ने संविधानों का वर्गीकरण दो आधारों पर पस्तुत किया है। जो इस प्रकार है-

10.3.1 संख्या का अधिकार

संख्या के आधार पर तात्पर्य यह है कि सम्प्रभुता की शक्ति का प्रयोग कितने व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

10.3.2 नैतिकता के आधार

इसका तात्पर्य है कि शासन करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य क्या है ?यदि उनका उद्देश्य सकारात्मक एवं जनकल्याण से प्रेरित है तो वह शुद्ध संविधान होगा और यदि उद्देश्य नकारात्मक एवं स्व हित है तो वह विकृत संविधान होगा। अरस्त द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण को हम निम्नलिखित प्रकार से विश्लेषित कर सकते हैं-

10.4 अरस्तू का वर्गीकरण

प्रथम आधार (संख्या का आधार)	द्वितीय आधार (नैतिक आधार)	
शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या	सर्वोच्च सत्ता के संचालन का उद्देश्य	
एक एक	शासन का स्वाभाविकरूप संविधान एकतंत्र या राजतंत्र	संविधान का विकृत रूप (शासन) निरंकुशतन्त्र
अल्पसंख्यक कुछ व्यक्ति	कुलीनतंत्र	धनिकतंत्र या वर्गतंत्र
बहुसंख्यक	बहुतंत्र या संवैधानिक तंत्र	प्रजातंत्र भीड़तंत्र

एक व्यक्ति का शासन जब सामान्य हित में कार्य करता है तो उसे राजतंत्र कहते हैं, किन्तु जब शासक केवल अपने हितों को दृष्टि में रखते हुए शासन शक्ति का प्रयोग करता है, जिसमें वह जन हितों की अनेदखी करते हुए जन इच्छा एवं स्वतंत्रता को कुचलने का प्रयास करता है तो वह निरंकुश तंत्र कहलाता है। जब जनता निरंकुशतंत्र के अन्याय एवं अत्याचारों से इतना प्रभावित एवं परेशान होती है कि वह उसके विकल्प के रूप में एक ऐसी शासन व्यवस्था या संविधान की खोज करते हैं, जिसमें शासन की शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथों में जो शासन करने की योग्यता व अनुभव रहते हो उनके द्वारा किये जाने वाले जाने शासन का उद्देश्य जनकल्याण हो तो वह कुलीनतंत्र कहलाता है लेकिन कुलीन तंत्र में योग्यता है के स्थान पर अयोग्यता सर्वहित के स्थान पर वर्ग हित हावी हो जाता है और उसका उद्देश्य अपने वर्ग विशेष को लाभ पहुंचाना हो जाता है। तब वह संविधान या शासन सत्ता का स्वरूप वर्गतंत्र या धनिक तंत्र जाता है। जब इनमें अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं तब जनता शासन की शक्ति अपने हाथों में ले लेती है। जब अनेक व्यक्ति राज्य हित को दृष्टि में रखते हुए एवं व्यवस्थित व्यवस्था का संचालन करते हैं तो वह बहुमत या संवेधानिक तंत्र कहलाता है। लेकिन जब उसमें अव्यवस्था हावी हो जाता है अर्थात् संवेधानिक तंत्र असंवैधानिकता का अखाड़ा बन कर रह जाता है। तब भीड़तंत्र या प्रजातंत्र आता है। इस तरह काल चक्र की भांति संविधानों का चक्र नियमित रूप से चलता रहता है।

10.5 संविधान वर्गीकरण की विशेषताएँ

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत इस वर्गीकरण की विशेषताओं को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित किया जा सकता है :-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.5.1 सामाजिक तत्त्वों में संबंध स्थापित

अरस्तू ने शासन व्यवस्था के स्वरूप ओर सामाजिक तत्त्वों में संबंध स्थापित किया है। उसके अनुसार राजतंत्र, निरंकुशतंत्र, कुलीनतंत्र एवं वर्ग तंत्र में हानि वर्ग की प्रधानता रहती है। वही संवैधानिक तंत्र या भीड़तंत्र में निम्न वर्ग की प्रधानता रहती है।

10.5.2 परिवर्तन चक्र के रूप में

अरस्तू का मत है कि जिस प्रकार काल चक्र में परिवर्तन आता है उसी प्रकार संविधानों में परिवर्तन आता है। सर्वप्रथम राजतंत्र उसके पश्चात् निरंकुशतंत्र, कुलीनतंत्र, वर्गतंत्र, संवैधानिक क्षेत्र, भीड़तंत्र एवं पुन: राजतन्त्र आता है।

10.5.3 राजतंत्र श्रेष्ठ संविधान

अरस्तू अपने संविधान वर्गीकरण के आधार पर यह सिद्ध करता है कि राजतंत्र श्रेष्ठ है तथा भीड़तत्र (प्रजातंत्र) पर आधारित संविधान या शासन व्यवस्था सबसे बेकार है।

10.5.4 जनकल्याण को महत्ता

अरस्तू का कहना है कि संविधान या शासन प्राणली चाहे किसी भी प्रकार की न हो, लेकिन उसका आधार जन कल्याण होना चाहिए। यदि वह संविधान अपने इस मार्ग से भटक जाता है है उसमें विकृतियाँ आती है और वह अधोपतन की ओर अग्रसर होती है।

10.6 सारांश

सारांश में आधुनिक युग में इस वर्गीकरण का प्रर्याप्त महत्वपूर्ण है। अरस्तू का वर्गीकरण सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण था। इसने आधुनिकता का मार्ग प्रशस्त किया। गिलक्राइस्ट के शब्दो में ''आधुनिक सरकारों के स्वरूप के लिए यह वर्गीकरण पर्याप्त नहीं है, पर आज तक जितने भी वर्गीकरण हुए है उनके लिए ऐतिहासिक आधार रहा है।''

10.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत संविधान वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अरस्तू संविधानों का वर्गीकरण किन आधारों पर करता है।
2. अरस्तू के संविधान वर्गीकरण की कोई दो विशेषताएं बताओं।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संविधान वर्गीकरण में कितने प्रकार बताए गये हैं?
2. अरस्तू सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली किसे मानता है।
3. अरस्तू सबसे बेकार संविधान किसे मानता है।

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्रदेव प्रसाद, ''महान् राजनीतिक विचारक अरस्तू'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना

के.एन.वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ

ज्योति प्रसाद सूद ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 11

क्रान्तियाँ कारण एवं उन्हें रोकने के उपाय

संरचना

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 क्रान्ति का अर्थ

11.4 क्रान्ति का उद्देश्य

11.5 क्रान्ति के प्रकार

- 11.5.1 आंशिक या पूर्ण क्रान्ति
- 11.5.2 हिंसक अथवा अहिंसा क्रान्ति
- 11.5.3 व्यक्तिगत या अव्यक्तिगत क्रान्ति
- 11.5.4 किसी विशेष वर्ग के विरूद्ध क्रान्ति
- 11.5.5 बौद्धिक क्रान्ति

11.6 क्रान्ति के कारण

- 11.6.1 असमानताएँ
  - 11.6.1.1 संख्यात्मक समानता
  - 11.6.1.2 आनुपातिक संबंधी या योग्यता संबंधी समानता
- 11.6.2 क्रान्ति के विशिष्ट कारण
  - 11.6.2.1 शासकों का लालच
  - 11.6.2.2 शासन सत्ता का दुरुपयोग
  - 11.6.2.3 अयोग्य व्यक्तियों का शासन
  - 11.6.2.4 मध्यम वर्ग का अभाव
  - 11.6.2.5 आर्थिक असन्तुलन
  - 11.6.2.6 विदेशियों का बाहुल्य
  - 11.6.2.7 सम्मान की लालसा
  - 11.6.2.8 भेद
  - 11.6.2.9 घृणा
  - 11.6.2.10 पारिवारिक झगड़े।
  - 11.6.2.11 शासक वर्ग की असावधानी
  - 11.6.2.12 भौगोलिक स्थिति
  - 11.6.2.13 अल्प परिवर्तन की उपेक्षा
  - 11.6.2.14 प्रमाद
  - 11.6.2.15 निर्वाचन संबंधी षड़यन्त्र
  - 11.6.2.16 परस्पर विरोधी वर्गों का शक्ति में सन्तुलित होना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.6.3 क्रान्ति के विशेष कारण
11.6.3.1 प्रजातंत्र में क्रान्ति
11.6.3.2 धनिकतंत्र
11.6.3.3 कुलीनतंत्र
11.6.3.4 एकतंत्र
11.6.3.5 राजतंत्र
11.7 क्रान्ति रोकने के उपाय
11.7.1 संविधान के प्रति आस्था
11.7.2 शासक एवं शासितों में सद्भाव
11.7.3 विधि का शासन
11.7.4 समानता का व्यवहार
11.7.5 मध्यम वर्ग की प्रधानता
11.7.6 आर्थिक समानता
11.7.7 समुचित शिक्षा पद्धति
11.7.8 विदेशी समस्याओं की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित करना
11.7.9 राजकीय पदों एवं सम्मानों का न्यायोचित वितरण
11.7.10 परिवर्तनों पर निगरानी
11.7.11 धनार्जन पर नियन्त्रण
11.7.12 शासकों में परस्पर सद्भाव
11.7.13 कानून पालन की भावना की जागृत किया जाए
11.7.14 आनुपातिक या योग्यता पर आधारित समानता की स्थापना
11.7.15 शक्ति के केन्द्रीकरण को रोकना
11.7.16 राज्य के पद व्यक्ति के लाभ कमाने के साधन नहीं होने चाहिए
11.7.17 उच्च लोगों में विवाद नहीं होना चाहिए
11.7.18 क्रान्तितत्त्वों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए
11.7.19 व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाये
11.7.20 सम्पत्ति के अधिकारों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था कीजिए
11.7.21 संविधान की उपयोगिता के बारे में प्रशिक्षण
11.7.22 राज्य की वित्त की स्थिति की लोगों को जानकारी देनी चाहिए
11.8 सारांश
11.9 अभ्यास प्रश्नावली
11.10 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

11.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य उन तथ्यों तथा कारकों को जानना जो क्रान्ति को प्रोत्साहन देते हैं तथा उन तत्त्वों का पता लगाना जो क्रान्ति को रोकने में सहायक सिद्ध होकर सहायक सिद्ध होकर समाज तथा राज्य के विकास के मार्ग को प्रशस्त कर सकते हैं। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- अरस्तू की क्रान्ति की अवधारणा वर्तमान क्रान्ति के विचारों से काफी असमान है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- क्रान्ति का मूल उद्देश्य क्या होता है ?
- क्रान्ति के लिए छोटे से बड़ा तक कई कारण उत्तरदायी होते हैं, यदि इन्हें गम्भीरतापूर्वक जान लिया जाता है तो क्रान्ति की सम्भवनाओं को समाप्त किया जा सकता है,
- प्रत्येक शासन व्यवस्थाओं में क्रान्ति के कुछ अलग कारण होते हैं, जो उनकी कमजोरियों का खुलासा करते हैं,
- यदि समाज में समानता, न्याय स्वतन्त्रता, संविधानवाद विधि का शासन, जन-कल्याण पर आधारित शासन का ध्यान रखा जाए तो क्रान्ति से बचा जा सकता है।

11.2 प्रस्तावना

साधारण शब्दों में 'क्रांति' से आशय किसी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन से है, अर्थात् जो व्यवस्था चल रही है उसको उखाड़ फैकना। क्रान्ति का पक्ष मानव की प्रकृति से जुड़ा हुआ है। किसी भी समाज व राष्ट्र में व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति तब होती है जब उस व्यवस्था में आम नाग रिक के प्रति शोषण, अत्याचार व दमन अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है तथा उसके विरूद्ध जन आक्रोश भड़क जाता है या जनता रूपी चेतना का दीप प्रज्जवलित हो जाता है। आधुनिक युग क्रान्तियों का युग है, वैसे क्रान्तियां या राजनीतिक परिवर्तन प्रत्येक युग में होता है।

अरस्तू के समय यूनानी नगर-राज्यों में क्रान्तियों के माध्यम से अक्सर राजनीतिक परिवर्तन होते रहते थे। यहां की व्यवस्था में अव्यवस्था एवं अराजकता का वातावरण था। आये दिन शासन व्यवस्था में रात व दिन की भांति परिवर्तन आ रहा था, जो उनके लिए विभिन्न संकटों को जन्म देकर उनकी स्थिति को विषम बना रहे थे। अरस्तू के लिए इससे चिन्तित होना स्वाभाविक था। उसने अपनी कृति 'पॉलिटिक्स' की पांचवी पुस्तक में क्रान्तियों का गहन अध्ययन किया और उनके मूलभूत कारणों का विवेचन करते हुए उन्हें रोकने के लिए विशुद्ध उपचारों या साधनों की व्यवस्था की, जिससे कि राज्य में उत्पन्न अस्थिरता के वातावरण को समाप्त कर स्थिरता के वातावरण को स्थापित किया जा सके।

11.3 क्रान्ति का अर्थ

अरस्तू की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा तथा हमारी आज की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा में भारी अन्तर है। किसी राज्य में जनता अथवा जनता के किसी भाग भाग द्वारा सशक्त विद्रोह का होना क्रान्ति नहीं है। अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ है- ''संविधान में परिवर्तन।''

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ संविधान में हर छोटा परिवर्तन है। अगर परिवर्तन पूर्ण होता है तो वह पूर्ण क्रान्ति है और यदि आंशिक होता है तो आंशिक क्रान्ति है। अरस्तू का तर्क है कि पूर्ण क्रान्ति वह है जब उससे शासन व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन होता है, जैसे निरंकुश तन्त्र, जनतंत्र में परिवर्तित न हो जाये। आंशिक क्रान्ति तब होती है जब शासन के किसी विभाग में उग्र परिवर्तन किया जाये।

मैकमिलन के अनुसार- ''अरस्तू क्रान्ति को कानूनी परिवर्तन के बजाय राजनीतिक परिवर्तन अधिक मानता है। क्रान्ति केवल राज्य के कानूनी आधार को ही नहीं, वरन् नैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तरों में भी परिवर्तन करती है।''

11.4 क्रान्ति के उद्देश्य

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं-

1. कभी-कभी क्रान्ति का उद्देश्य राज्य के संविधान को परिवर्तन करना होता है।
2. कभी-कभी क्रान्ति के संचालकों का उद्देश्यों संविधान के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन करना न होकर केवल उनके अनुसार शासन शक्ति को अपने नियन्त्रण में लेना होता है।
3. कभी-कभी क्रान्ति का उद्देश्य विद्यमान संविधान को और अधिक यथार्थवादी बनाना होता है जैसे प्रजातन्त्र को वास्तविक प्रजातन्त्र या कुलीनतन्त्र को वास्तविक कुलीनतंत्र में परिवर्तन करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. कभी–कभी क्रान्ति के संचालक केवल राज्य के थोड़े से पदों में ही परिवर्तन करना चाहते हैं और संविधान या शासन व्यवस्था में कोई परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं होता है।

11.5 क्रान्तियों के प्रकार

अरस्तू के अनुसार क्रान्तियां निम्नलिखित रुप से पाँच प्रकार की होती है।

11.5.1 आंशिक या पूर्ण क्रान्ति

जब किसी व्यवस्था में पूर्णरूप से आमूलचूल परिवर्तन कर दिया जाता है तो उसे पूर्ण क्रान्ति कहा जाता है। जब संविधान या व्यवस्था के एक भाग में परिवर्तन किया जाता है तो उसे आंशिक परिवर्तन क्रान्ति कहा जाता है।

11.5.2 हिंसक अथवा अहिंसात्मक क्रान्ति

हिंसक क्रान्ति वह है जिसके तहत संविधान या व्यवस्था में परिवर्तन हिंसात्मक साधनों द्वारा किया जाता है। यदि संविधान में परिवर्तन शान्तिपूर्ण ढंग से या अहिंसात्मक साधनों से किया जाता है वह अहिंसात्मक क्रान्ति है।

11.5.3 व्यक्तिगत या अव्यक्तिगत क्रान्ति

अरस्तू के अनुसार जब संविधान परिवर्तन किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को पदच्यूत करने से होता है तो उसे व्यक्तिगत क्रान्ति कहेगें। जब संविधान का उद्देश्य अव्यक्तिगत होता है तो वह अव्यक्तिगत क्रांति कहलाती है।

11.5.4 किसी विशेष वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति

यदि क्रांति का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष को सत्ता से हटाकर संविधान में परिवर्तन करना है तो इसी क्रान्ति को विशेष वर्ग के विरूद्ध क्रान्ति कहा जाता है।

11.5.5 बौद्धिक क्रान्ति

जब किसी राज्य में कुछ नेता लोग अपने जोशिले भाषण से जनता की भावना को उद्वेलित करके क्रान्ति ला दे तो इसी क्रान्ति को बौद्धिक क्रान्ति कहा जाता है।

11.6 क्रान्ति के कारण

अरस्तू द्वारा वर्णित क्रान्ति के कारणों को तीन भागों में बांट सकते हैं जो इस प्रकार है–

11.6.1 असमानता

अरस्तू का मत है कि क्रान्ति का मूल कारण 'असमानता' है। जब समाज में असमानता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तब आम जनता द्वारा क्रान्ति की मशाल प्रज्जवलित की जाती है। अरस्तू के अनुसार समानतायें दो प्रकार की होती है।

- संख्यात्मक समानता
- अनुपातिक सम्बन्धी या योग्यता सम्बन्धी समानता

11.6.1.1 संख्यात्मक समानता :– यह समानता का वह रूप है जिसके अर्न्गत प्रत्येक व्यक्ति को हर बात में समान माना जाता है। यह एक प्रजातान्त्रिक धारणा है। इसके अनुसार सभी नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर प्राप्त होते हैं। किसी के भी साथ जाति, धर्म, जन्म, स्थान, भाषा, लिंग, रंग आदि के साथ भेदभाव नहीं किया जाता है और सभी को समान रूप से आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, भाषा, लिंग, रंग आदि के साथ भेदभाव नहीं किया जाता है और सभी को समान रूप से आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक व सामाजिक स्वतन्त्रतायें प्राप्त होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी व्यवस्था में क्रान्ति तब होती है जब समाज का एक वर्ग विशेष देश की व्यवस्था पर प्रभुत्व स्थापित कर स्वयं अपने हितों की पूर्ति करने लगता है तथा आम जन की अवहेलना करता है या समाज का एक छोटा सा धनिक वर्ग और अधिक धनवान व गरीब और अधिक गरीब बनता जाता है तब समाज का एक बड़ा भाग इस धनिक तन्त्र को उखाड़ के देने का प्रयास करता है।

11.6.1.2 आनुपातिक समानता :- आनुपातिक सम्बन्धी या योग्यता सम्बन्धी समानता वह है जिसके तहत समाज के कुछ लोगों को उनकी योग्यता के आधार पर बांटकर उन्हें कुछ विशिष्ट अधिकार प्रदान किये जाते हैं जिनमें वे समान होते है। समानता की यह धारणा वर्गतन्त्र के समर्थक द्वारा दी गयी थी। वे निरपेक्ष समानता के विरोधी और सापेक्ष अर्थात् योग्यता पर आधारित प्राकृतिक असमानता पर विश्वास करते हैं। अरस्तू भी इसका पक्षधर है।

इस प्रकार की समानता में या व्यवस्था में क्रान्ति की सम्भावना तब होती है जब योग्यता पर आधारित वर्ग के लोगों में पारस्परिक असमानता का बरताव किया जाता है।

अरस्तू का मत है कि जब प्रजातान्त्रिक व वर्गतन्त्रीय लोगों द्वारा समानता का भिन्न ढंग से अर्थ लगाया जाता है और उसे सही सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। तो संघर्ष उत्पन्न होता है। जो अन्नत रूप धारण कर क्रान्ति को जन्म देता है।

वर्गतन्त्र और प्रजातंत्र क्रान्तियां समानता के प्रति इस परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही होती है।

अरस्तू के अनुसार वर्ग तन्त्र या धनिकतन्त्र में होने वाले विद्रोह के दो कारण हैं :-

(क) धनिक लोग आपस में दो दलों में विभाजित हो जाते है और राज्य शक्ति को प्राप्त करने में एक दूसरे का विरोध करते हैं।

(ख) धनिक वर्ग की सत्ता को समाप्त करने के लिए निर्धन वर्ग उसके विरुद्ध क्रान्ति की बिगुल बजाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समानता का अर्थ जनतंत्र में अलग और धनिकतन्त्र में अलग होता है तब समान के प्रति दृष्टिकोण के इस अन्तर को मिटाने के लिए दोनों व्यवस्थाओं में क्रान्ति का सूत्रप्रात होता है।

11.6.2 क्रान्ति के विशिष्ट कारण

अरस्तू ने मूल कारणों के साथ क्रान्ति की एक विशिष्ट सूची भी स्पष्ट की है जो इस प्रकार है-

11.6.2.1 शासको की लालच :- जब शासक या सत्ताधारी व्यक्ति के व्यवहार में लालच या उदण्डता के भाव पैदा हो जाते हैं। वह लालच वंश व्यक्तित्व व सार्वजनिक सम्पत्ति को हड़पने लगता है तो जनता उसके विरुद्ध विद्रोह कर देती है।

11.6.2.2 शासन सत्ता का दुरुपयोग :- जब शासक या सत्ता सम्पन्न व्यक्ति या वर्ग सत्ता का दुरुपयोग करने लगते है अर्थात् वे सत्ता का प्रयोग अपने तथा अपने परिवार के हित तक करते हैं तथा उसके माध्यम से आमजन के हितों पर कटुराघात करते है तो जनता के विरूद्ध क्रान्ति की मशाल प्रज्वलित करती है।

11.6.2.3 अयोग्य व्यक्ति का शासन :- जब शासक वर्ग अयोग्य हो और शासन की भागीदारी में योग्य लोगों की रुचि न हो तो क्रान्ति की भूमिका बनती है।

11.6.2.4 मध्यम वर्ग का अभाव :- समाज का दो वर्गों-धनवान और निर्धन में बांटना भी क्रांति का एक प्रमुख कारण हो सकता है। मध्यम वर्ग जो समाज में सन्तुलन स्थापित करता है। उनके अभाव में निर्धन वर्ग द्वारा क्रान्ति की समानता हो सकती है।

11.6.2.5 आर्थिक असन्तुलन :- अरस्तू इस तत्व पर बहुत जोर देता है कि जिस समाज में गरीब व अमीर के बीच की खाई बहुत ज्यादा है वहां क्रांति होना अस्वाभाविक है।

11.6.2.6 विदेशियों का बाहुल्य :- यदि किसी राज्य में विदेशी बहुत बड़ी संख्या में आ जाये तो उससे वहां के नागरिकों को चुनौती मिलती है। इस प्रकार दो संस्कृतियों का टकराव क्रान्ति को जन्म देता है।

11.6.2.7 सम्मान की लालसा :- यह सबमें स्वाभाविक है, किन्तु जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रूष्ट होकर विद्रोह कर देती है।

11.6.2.8 भय :- भय दो प्रकार से व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है। प्रथम अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है। इससे बचने के लिए विद्रोह कर देते है। द्वितीय कुछ व्यक्तियों को डर रहता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है। इसके प्रतिकार के लिए वे विद्रोह कर देते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.6.2.9 घृणा :- जब राज्य का एक वर्ग या दल बहुत समय तक सत्तारूढ रहता है तब उसका विरोधी वर्ग या दल उससे घृणा करने लगता है। इस घृणा का कुछ समय बाद क्रान्ति के रूप में विस्फोट होता है। उदहारणार्थ धनिकतन्त्र में उस समय विद्रोह होता है जब बहुसंख्यक लोगों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते है और वे अपने को शक्तिशाली समझने लगते हैं। जनतन्त्र में विद्रोह तब होता है जब सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को राज्य में फैली हुई अव्यवस्था व अराजकता के कारण जन साधारण से घृणा हो जाती है।

11.6.2.10 पारिवारिक झगड़े :- पारिवारिक झगड़े, ईर्ष्या, द्वैष, वैमनस्य के कारण भी राज्य में क्रान्ति हो जाती है। राजतन्त्र व कुलीनतन्त्र में तो प्राय: क्रान्तियां पारिवारिक घृणा या व्यक्तिगत ईर्ष्या के कारण होती है।

11.6.2.11 शासक वर्ग की असावधानी :- क्रान्ति का एक कारण शासक वर्ग की असावधानी होता है। शासक वर्ग कभी-कभी अज्ञान तथा असावधानी के कारण राजद्रोहियों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर देता है। इससे किसी भी समय अवसर प्राप्त होने पर वे व्यक्ति राज्य का तख्ता पलट देते हैं तथा खूनी क्रान्ति कर देते हैं।

11.6.2.12 भौगोलिक स्थिति :- अरस्तू ने क्रान्ति के विशिष्ट कारणों में राज्य की भौगोलिक स्थिति की भी चर्चा की है। उसने कहा है कि राज्य नदियों, घाटियों और पर्वतों से विभिन्न भागों में बंटा होता है उसके लोग एक दूसरे के निकट सम्पर्क में नहीं रहते और इसीलिए राज्य का कोई भाग किसी तथ्य को लेकर कभी भी क्रांति करने की ताक में रहता है। अत: राज्य की भौगोलिक स्थिति अरस्तू के अनुसार क्रांति के सहायक तत्वों में से एक है।

11.6.2.13 अल्पपरिवर्तन की उपेक्षा :- अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा भी कई बार क्रांति का कारण होता है। ये छोटे-छोटे परिवर्तन शनै-शनै महान परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं जैसे अम्ब्राकिया। यहाँ मताधिकार की शर्तों में सामान्य परिवर्तन से शासन में क्रान्ति हुई।

11.6.2.14 प्रमाद :- प्रमाद भी क्रान्ति का एक कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ कर सकती है, जो वर्तमान शासन के प्रतिनिष्ठावान नहीं होते और शासन को बदल देते हैं।

11.6.2.15 निर्वाचन सम्बन्धी षड़यन्त्र :- निर्वाचन सम्बन्धी षड़यन्त्र भी क्रान्ति को जन्म देते हैं। हेराइया में चुनाव से बड़े षड़यन्त्र होते थे और इनके कारण इनका परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहां परची या गोंट पद्धति को अपनाकर निर्वाचन पद्धति में क्रान्ति की गई।

11.6.2.16 परस्पर विरोधी वर्गों का शक्ति में सन्तुलित होना :- क्रान्ति का एक प्रबल कारण राज्य में परस्पर विरोधी वर्ग अर्थात् निर्धव व धनी की शक्ति में सन्तुलित होना भी है। जहां एक पक्ष दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष से लड़ाई नहीं लेता किन्तु जब दोनों में शक्ति सन्तुलन होता है तो दोनों की सफलता की सम्भावना होती है और वे विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं।

11.6.3 क्रान्तियों के विशेष कारण

अरस्तू क्रान्ति के विशिष्ट कारणों की विवेचना करने के बाद उसने विभिन्न शासन प्रणालियों में होने वाली क्रान्तियों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित प्रकार से हैं -

11.6.3.1 प्रजातन्त्र में क्रान्ति :- अरस्तू का मत है कि जनतन्त्र में क्रान्ति विभिन्न कारणों से होती है। प्रथम कारण है धनिकों के साथ किया जाने वाला अत्याचार। जन नेताओं द्वारा धनिकों पर झूठे दोष आरोपित किये जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें अपने हितों की रक्षा करने के लिए क्रान्ति का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरा कारण जन नेताओं द्वारा आन्दोलनकारियों की सहायता से सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित किया जाना तथा उस सत्ता का निरंकुशता पूर्ण ढंग से प्रयोग करना है। इससे जनता उनसे रूष्ट हो जाती है और उनके विरूद्ध क्रान्ति कर देते हैं।

11.6.3.2 धनिकतंत्र :- धनिक-तंत्र में क्रान्ति का प्रमुख कारण सत्तारूढ़ धनवानों के द्वारा जन साधारण के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करना है। इससे जनता असन्तुष्ट होकर उनके विरूद्ध विद्रोह कर देती हैं। धनिकतंत्र में क्रांति का दूसरा कारण धनवान सत्ताधारियों में आपसी मनमुटाव, दल बंदी व संघर्ष होते हैं। इन आपसी संघषों के कारण उनमें फूट पड़ जाती है और वे क्रांति का शिकार हो जाते हैं।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.6.3.3 कुलीन तंत्र :- कुलीनतंत्र में क्रान्ति का कारण यह है कि इसमें शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत ही कम होती है। यदि समाज के अधिक व्यक्ति कुलीन होने का दावा करे और इस आधार पर पदों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करें तो संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। जो क्रांति को जन्म देता है।

11.6.3.4 एकतंत्र :- एकतन्त्र में क्रांति पैदा करने वाले मुख्य कारण पारिवारिक झगड़े, द्वैष-भाव, घृणा, शासकों की धृष्टता और स्वेच्छाचारिता आदि होते हैं। इन विभिन्न कारणों से जनता शासकों से नाराज और असन्तुष्ट हो जाती है और उनके विरूद्ध क्रान्ति कर देती हैं।

11.6.3.5 राजतंत्र :- राजतंत्र को अरस्तू उन विधानों में मानता है जिनको बाह्य कारण सहसा नष्ट नहीं कर सकते एवं जिनकी आन्तरिक कमजोरियां ही उनके उन्मूलन का कारण बनती है। राजतंत्र में राज परिवार में आन्तरिक कलह होने पर अथवा राजा के निरंकुश बनने के प्रयास करने पर ही विद्रोह की उपस्थित पैदा होती है। राजा द्वारा किये जाने वाले अन्यायपूर्ण अपमान एवं अन्य लोगों को पहुंचायी जाने वाली क्षति भी राजतंत्र को नुकसान पहुंचाती है।

11.7 क्रांति रोकने के उपाय

अरस्तू ने केवल क्रान्ति के कारणों का ही विश्लेषण नहीं किया है। अपितु एक चिकित्सक की भांति उनके निदान के उपाय भी बताये है। डर्गिन के अनुसार- ''अरस्तू क्रान्तियों को उत्पन्न करने वाले, कारणों की विस्तृत सूची देने के पश्चात् उसके समान ही प्रभावोत्पादक उनको रोकने वाले उपायों की सूची भी देता है।''

मैक्सी का कथन है कि आधुनिक राजनीतिक विचारक शायद ही क्रान्ति को रोकने का अरस्तू के उपायों के अतिरिक्त कोई अन्य ठोस उपाय बता सके। अरस्तू द्वारा क्रान्ति से बचने के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाये है-

11.7.1 संविधान के प्रति आस्था

अरस्तू के अनुसार संविधान के प्रति आस्था क्रान्ति से बचने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। शासन वर्ग इस बात का हर सम्भव उपाय करे कि जनता द्वारा कानून की आज्ञा का पालन हो। कानून का उल्लघंन करने की छोटी-छोटी घटनाएं भी महत्त्वपूर्ण है। अत: उनकी उपेक्षा नहीं करन चाहिए।

11.7.2 शासक एवं शासितों में सद्भाव

क्रान्ति प्राय तब होती है जब शासक व शासितों के बीच पारम्परिक सद्भावना का अभाव पाया जाता है। अत: क्रान्ति रोकने के लिए यह अति आवश्यक है कि शासक व शासितों के बीच सम्वाद् हो। शासित अपनी समस्या को अपने शासक के समुख रखे तथा शासक को चाहिए कि वह जन समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करें।

11.7.3 विधि का शासन

अरस्तू जिस बात पर बल देता है, वह है विधि का शासन। व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदैव अच्छा होता है क्योंकि इसमें विधि द्वारा शासन की महत्त्वकांक्षाओं पर नियन्त्रण हो सकता है।

11.7.4 समानता का व्यवहार

विषमता क्रान्ति की जननी है। अत: शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए। अरस्तू का यह मत है कि शासन के पदों की अवधि 6 मास होनी चाहिए, ताकि अधिक से अधिक व्यक्ति शासन बन सके, थोड़े समय के लिए शासनारूढ़ व्यक्ति अन्याय नहीं कर सकते है।

11.7.5 मध्यम वर्ग को प्रधानता

समाज में मुख्यत: दो वर्ग होते (निर्धन व धनिक) इनके बीच पारस्परिक टकराव के कारण क्रान्ति की स्थिति पैदा होती है। अत: इन दोनों शक्तियों के बीच सन्तुलन का कार्य मध्यम वर्ग करता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू की मान्यता है कि मध्यम वर्ग सदा मर्यादित होता है। इसलिए इसकी प्रधानता होना क्रान्ति को रोकने का सबल उपाय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.7.6 आर्थिक समानता

समाज में जब आर्थिक विषमता की खाई अधिक गहरी हो जाती है अर्थात् गरीब व अमीर के बीच आर्थिक असमानता बढ़ती जाती है। गरीब ओर गरीब व अमीर ओर अमीर होता जाता है तो इसके कारण क्रांति की परिस्थितियां पैदा होती है। अत: अरस्तू का मत है कि क्रान्ति को रोकने के लिए समाज में आर्थिक समानता स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि धन का समानरूप से वितरण किया जाए ताकि धनवान अधिक धनवान न हो तथा गरीब अधिक गरीब न हो।

11.7.7 समुचित शिक्षा पद्धति

किसी शासन प्रणाली की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा पद्धति उस शासन पद्धति के अनुरूप हो। बच्चों को शुरू से उस प्रणाली के ढ़ांचे में ऐसा प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे उस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए अपना जीवन उसी के अनुसार ढालने का प्रत्यन करे।

11.7.8 विदेशी समस्याओं की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित करना

शासकों को चाहिए कि वे अपनी जनता का ध्यान विदेशी समस्याओं की ओर केन्द्रित करे ताकि उनका ध्यान आन्तरिक समस्याओं से हट जाये। राज्य में विदेशी आक्रमण का भय दिखाकर वह जनता में देश प्रेम की भावना को सदा जाग्रत रखे। अरस्तू के शब्दों में 'शासक को राज्य की चिन्ता करते है उन्हें चाहिए कि वे नये खतरों का अन्वेषण करें, दूर के भय को समीप लाएं ताकि जनता पहरेदार की भांति अपनी रक्षा के लिए सदा सचेत और तत्पर रहे।'

11.7.9 राजकीय पदों एवं सम्मानों का न्यायोचित वितरण

अरस्तू के अनुसार राज्य में पदों और सम्मान का वितरण समान होना चाहिए। योग्य व्यक्तियों को उनका उचित मान और पद दिया जाना चाहिए। एक ही वर्ग के व्यक्तियों को अथवा राज्य के एक ही भाग के व्यक्तियों को सारे पद नहीं दे देने चाहिए। अन्यथा शेष वर्ग अथवा वर्गों में असंतोष उत्पन्न हो जाता है। साथ ही इस सम्बन्ध में सचेत भी रहना चाहिए कि कहीं अवांछनीय व्यक्तियों को राज्य के पद प्राप्त न हो जाएं।

11.7.10 परिवर्तनों पर निगरानी

क्रान्ति शासन व्यवस्था और संविधान में परिवर्तन करती है। अत: अरस्तू ने कहां है कि राज्य को क्रांति से बचाने के लिए परिवर्तनों पर निगरानी रखनी चाहिए जो परिवर्तन क्रान्ति की ओर अग्रसर होने वाले हो, उन पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए। इस प्रकार क्रान्ति से राज्य की रक्षा हो सकेगी।

11.7.11 धनार्जन पर नियन्त्रण

अरस्तू ने क्रांति को रोकने के लिए धनार्जन पर नियन्त्रण की बात की है।

11.7.12 शासकों में परस्पर सद्भाव

अरस्तू शासक वर्ग के बीच सद्भाव व तालमेल बनाये रखने पर भी जोर देता है।

11.7.13 कानून पालन की भावना को जागृत किया जाये

अरस्तू का मत है कि राज्य द्वारा नागरिकों में कानून पालन की भावना को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। उसका कथन है कि– ''कानूनविहीनता उसी प्रकार अज्ञात रूप से आती है जिस प्रकार छोटे–छोटे व्यय बराबर होते रहे तो उनका ज्ञान नहीं होता है और धीरे–धीरे सम्पूर्ण पूंजी की समाप्त कर देते हैं।''

11.7.14 आनुपातिक या योग्यता पर आधारित समानता की स्थापना

अरस्तू अपने क्रान्ति के सिद्धान्त में दो प्रकार की समानताओं की बात करता है। प्रथम संख्यात्मक समानता तथा दूसरी योग्यता पर आधारित समानता। उसका मत है कि अगर क्रान्ति को रोकना है तो इसके लिए आनुपातिक या योग्यता पर आधारित समानता की स्थापना की जाये जिससे की प्रत्येक व्यक्ति को वास्तविक अधिकार मिल सके जिससे की जनता कानूनों का पालन भली भांति से कर सकें।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.7.15 शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना

जब शासन सम्बन्धी समस्त शक्तियां एक व्यक्तियां सरकार के एक अंग विशेष में केन्द्रीत हो जाती है तब वह व्यक्ति अपनी मनमानी से कार्य करता जो कि क्रान्ति की स्थिति को बल देती है। अत: शक्तियों का विकेन्द्रकीकरण स्पष्ट रूप हो, जिसमें समाज के प्रत्येक भाग या शासन के प्रत्येक की भागीदारी सुनिश्चित की जाये। इसके अलावा प्रशासन के विभिन्न पदों पर न्यायपूर्ण तरीके से नियुक्तियां की जाये।

11.7.16 राज्य के पद व्यक्ति के लाभ कमाने के साधन नहीं होने चाहिए

राज्य के पद धनोपार्जन एवं वैयक्तिक लाभ कमाने के साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं किये जाने चाहिए। इस दृष्टि में रिश्वत खोरी और अन्य अनुचित कार्यों को रोकने की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए। राज्य में ऐसा वातावरण विकसित किया जाये जिससे कि शासनाधिकारी अपने पद के कारण अनुचित लाभ न कमाये। अरस्तू का मत है कि अगर ऐसा होता है तो इससे जनता को दोहरी पीड़ा है एक तो उन्हें सार्वजनकि पद प्राप्त नहीं होता तथा दूसरा यह शासक वर्ग या पदासिन व्यक्ति सार्वजनिक सम्पत्ति का उपयोग अपने लिए करते हैं। अत: पदों को लाभ हित बनाना चाहिए।

11.7.17 उच्च लोगों में विवाद नहीं होना चाहिए

प्रतिष्ठित व गणमान्य व्यक्तियों में विवाद व कलह को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। इससे राज्य में दलबंदी व गुटबंदी की भावना प्रबल होती है। इससे राज्य की एकता कमजोर होती है और क्रांति का बीजारोपण होता है।

11.7.18 क्रान्ति तत्त्वों पर प्रतिबंध लगाया जाना चाहिए

राज्यों को जहां तक हो सके परिवर्तनों से बचना चाहिए क्योंकि परिवर्तन ही क्रांति को जन्म देते है। परिवर्तन को रोकने के लिए परिवर्तनवादी तत्त्वों पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए।

11.7.19 व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाये

मानव अपने व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ही क्रांति की ओर उन्मुख होता है। अत: राज्य को ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए। जिससे कि लोग शासन व्यवस्था के अनुरूप अपना जीवनयापन कर सके। जनतंत्र में जनतान्त्रिक और धनिकतंत्र में धनिक तंत्र की रीति के अनुसार अगर वे अपने जीवन को ढाल सकेगें, तो क्रान्ति का खतरा नहीं होगा।

11.7.20 सम्पत्ति के अधिकारों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की जायें

जनतंत्र में धनवानों की सम्पत्ति की सुरक्षा की तथा धनिकतंत्र में गरीबों के अधिकारों एवं सम्मान की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। धनवानों की सम्पत्ति का हरण या गरीबों के अधिकारों का हनन होने पर क्रांति का खतरा बढ़ता है। अत: शासकों को इस दिशा में विशेष संचेत रहना चाहिए।

11.7.21 संविधान की उपयोगिता के बारे में प्रशिक्षण

अरस्तू का विचार है कि अगर क्रांति को होने से रोकना है तो इसके लिए यह परमावश्यक है कि नागरिकों को संविधान की उपयोगिता के बारे में विस्तृत जानकारी प्रदान करनी चाहिए और इसके माध्यम से जनता को यह बताना चाहिए कि उनको कौन से अधिकार प्राप्त हैं ?

11.7.22 राज्य की वित्तीय स्थिति की लोगों को जानकारी देनी चाहिए

क्रांति प्राय तब होती है जब शासक वर्ग द्वारा राजकीय धन का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया जाता है। अत: क्रान्ति को रोकने के लिए यह अति आवश्यक है कि समय-समय पर राज्य की वित्तीय स्थिति की जानकारी आम जनता को उपलब्ध करवायी जाये ताकि लोगों को इस बात का पता चल सके कि धन का उपयोग कहां किया, उसका दुरुपयोग नहीं हो रहा है। यदि ऐसा होता है तो शासक वर्ग सोच-समझकर कदम उठायेगा और जन-इच्छा का पूरा-पूरा ध्यान रखेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.8 सारांश

अरस्तू द्वारा क्रांति को रोकने के उपायों से यह स्पष्ट होता है कि उसने न केवल क्रांति के कारणों को स्पष्ट किया है कि अपितु एक चिकित्सक की भांति उस रोग (क्रांति) के निदान के उपायों का भी भली भांति से चित्रण किया है। अरस्तू ने यह स्पष्ट कर दिया था कि क्रांति जन असंतोष के कारण होती है इसके लिए स्वयं शासन वर्ग उत्तरदायी होता है। अरस्तू द्वारा वर्णित ये उपाय पूर्णतया वास्तविक है अपितु व्यवहारिक भी है। जो तत्कालीन नगर-राज्यों के लिए उपयोगी नहीं थी। वरन् वह आज की राजनीतिक व्यवस्था के लिए उपयोगी है,अगर आधुनिक शासक इस व्यवस्था को अपनाये तो निश्चित रूप से क्रांति को रोकने में सफल हो सकते हैं। इसके सन्दर्भ में मैक्सी ने ठीक ही कहा है कि- ''क्रांतियों को रोकने के जिन साधनों का प्रतिपादन अरस्तू ने किया है, क्या आधुनिक राजनीति विज्ञान उनसे अधिक कोई निश्चयात्मक साधन प्रस्तुत कर सकता है।''

11.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्रान्ति क्या है ?इसके उद्देश्य बताते हुए प्रकारों का उल्लेख करो।
2. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत क्रान्ति के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. अरस्तू क्रान्ति रोकने के कौन-कौन से उपाय बताए है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. क्रान्ति का उद्देश्य क्या होता है ?
2. क्रान्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. अरस्तू द्वारा प्रस्तुत क्रान्ति कोई दो प्रकार बताओ।
4. अरस्तू कितने प्रकार की समानता की बात करता है ?
5. प्रजातंत्र में क्रान्ति किस प्रकार होती है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. क्रान्ति का साधारण अर्थ क्या है ?
2. अरस्तू ने क्रान्ति संबंधी विचारों का उल्लेख किस ग्रन्थ में किया है ?
3. अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का क्या है ?

11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्रदेव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक अरस्तू'' भारती भवन पब्लिकेशन्स पटना

बी.आर. पुरोहित ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

प्रभुदत्त शर्मा ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई -12

अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना

संरचना

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 स्त्रियों का या पत्नियों या परिवार का साम्यवाद

- 12.3.1 एकता की झूठी धारणा
- 12.3.2 मेरी तथा तेरी नहीं
- 12.3.3 सामान्य वस्तु की उपेक्षा
- 12.3.4 संबंध
- 12.3.5 जान पहचान
- 12.3.6 अपराध
- 12.3.7 स्त्रियों या पत्नियों का साम्यवाद किसानों के लिए अधिक उपयुक्त
- 12.3.8 कृत्रिम प्रेम
- 12.3.9 बच्चों का वर्ग हस्तांतरण

12.4 सम्पत्ति का साम्यवाद

- 12.4.1 श्रम
- 12.4.2 सहजीवन कठिन
- 12.4.3 उदारता
- 12.4.4 बुराईयां
- 12.4.5 एकता का नाश
- 12.4.6 युगों का अनुभव

12.5 सारांश

12.6 अभ्यास प्रश्नावलीं

12.7 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

12.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्लेटो द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद के सिद्धान्त की अरस्तू के द्वारा विभिन्न आधारों को दृष्टिगत रखते हुए जो आलोचना की गई है, उसे जानना है। इसके अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धानत का सामाजिक मूल्यों से कोई सरोकार नहीं अत: उसमें सामाजिक मूल्य समायोजित करने का प्रयास अरस्तू ने किया है,
- अरस्तू का यह तर्क कि जो वस्तु सभी की है, वह किसी की नहीं, जो ठीक है। इससे यह जानकारी मिलती है कि सार्वजनिक सम्पत्ति एवं वस्तुओं के प्रति हमें सकारात्मक दृष्टिकोण रखना चाहिए,
- इससे यह भी जानकारी मिलेगी कि सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामितव हो किन्तु उसका उपयोग सामूहिक हित के लिए हो,
- अरस्तू ने प्लेटो के आदर्श विचारों को यथार्थ एवं व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.2 प्रस्तावना

अरस्तू पर प्लेटो के विचारों का प्रभाव होने के बावजूद भी उसने प्लेटो के विचारों की कटु आलोचना की है। उसके द्वारा प्लेटो द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी विचारधारा की आलोचना करना मुख्य है।

प्लेटो अपने साम्यवाद के सिद्धान्त के माध्यम से संरक्षण प्रधान वर्ग को कंचन और कामिनी से मुक्ति दिलाना चाहता था ताकि वे अपने दायित्वों का निर्वहन सही ढंग से कर सके। उसका मत है कि पत्नी या परिवार तथा सम्पत्ति दो ऐसे तत्त्व है जो व्यक्ति को उसके दायित्वों से विमुख कर देते हैं जिसका सीधा प्रभाव राज्य पर पड़ता है। अत: समस्त बुराईयों की जड़ को समाप्त कर दिया जाए तो एक उच्च कोटि का शासनतन्त्र स्थापित किया जा सकता है और आदर्श राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है लेकिन अरस्तू प्लेटो के इन विचारों से सहमत नहीं था। उसने इनकी कटु आलोचना की। जो इस प्रकार है–

12.3 स्त्रियों या पत्नियों या परिवार का साम्यवाद

प्लेटो की इस अवधारणा की आलोचना के पक्ष में निम्नलिखित तर्क किये जा सकते हैं —

12.3.1 एकता की झूठी धारणा

प्लेटो का मत है कि पत्नियों का साम्यावद होने से राज्य में एकता आयेगी। अरस्तू ने इस एकता का खंडन किया है। उसका कहना है कि ''राज्य में इतनी एकता आ सकती है, जिससे उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए, चूंकि राज्य का स्वभाव विविधता है। राज्य में अधिक एकता स्थापित करने से वह परविार का रूप ले लेगा। तत्पश्चात् परिवार का स्थान व्यक्ति ले लेगा चूंकि राज्य से अधिक एकता परिवार में और परिवार से अधिक एकता व्यक्ति में होती है।'' अत: इससे राज्य एकता नष्ट हो जाएगी। राज्य में अनेक मनुष्य ही नहीं रहते, बल्कि उनके स्वभाव की भी विविधताऐं होती है। उनका जीवन पारस्परिक सहयोग पर आश्रित होता है। इस तरह प्लेटो ने राज्य की एकता स्थापित करने का जो साधन अपनाया है वह असंगत एवं त्रुटिपूर्ण है। अरस्तू के अनुसार राज्य का मूल उद्देश्य आत्म-निर्भरता है।

12.3.2 मेरी तथा तेरी नहीं

अगर मान लिया जाए कि अत्यधिक एकता राज्य के लिए सर्वश्रेष्ठ है – यह कहने से कि यह वस्तु मेरी तथा तेरी नहीं, राज्य में पूर्ण एकता स्थापित करती है, तो वस्तुत: यह भ्रम है। अरस्तू का कहना है कि सभी लोगों में एक ही वस्तु के लिए एक साथ अपनापन तथा परापपन का भाव आना ही अव्यावहारिक है। यदि इस भाव से राज्यमें एकता आये तो समरस्ता कभी भी स्थापित नहीं हो सकती है।

12.3.3 सामान्य वस्तु की उपेक्षा

अरस्तू का कथन है कि सामान्य वस्तु की सदैव उपेक्षा की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु के बारे में सोचता है और उसकी रक्षा करता है। वह सामान्य वस्तु की चिन्ता शायद ही करता है। वह वस्तु का मूल्यांकन व्यक्तिगत हितों की दृष्टि में रख कर करता है, जो वस्तु सार्वजनिक होती है वह किसी की भी नहीं होती है। प्लेटो ने पत्नियों के साम्यवाद में प्रत्येक नागरिक के हजारों पुत्र होंगे लेकिन वे पुत्र उनके व्यक्तिगत नहीं होंगे। प्रत्येक पुत्र समान रूप से हर पिता का पुत्र होगा और इसलिए वह समान रूप से उपेक्षित होगा।

12.3.4 संबंध

पत्नियों के साम्यवाद में व्यक्तिगत संबंधों में अस्थिरता एवं संदिग्धता बनी रहती है। एक पिता के हजार पुत्र होंगे और एक पुत्र के हजार पिता होंगे। यह सम्भव एवं व्यावहारिक नहीं है। ऐसे में बच्चों में भाई-बहन का भी संबंध स्थापित नहीं हो सकता। व्यक्ति के पारिवारिक संबंधों का पवित्र आधार समाप्त हो जाएगा। कोई भी प्लेटो के आदर्श राज्य में पुत्र कहलाना नहीं चाहेगा। क्योंकि इससे उसकी प्रतिष्ठा पर आघात पड़ेगा।

12.3.5 जान-पहचान

प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद में बच्चों को राजकीय शिशुगृहों में रखा जाएगा। माता-पिता को अपने बच्चों की जानकारी नहीं होगी और न ही बच्चों को माता-पिता की पहचान। उनका यह संबंध गुप्त रखा जाएगा। अरस्तू का यह मत है कि ऐसा करना प्रकृति के विरूद्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.3.6 अपराध

संबंध की अज्ञानता के कारण स्वेच्छा या अस्वेच्छा से लोग आपस में झगड़ा-फसाद, आघात-प्रघात तथा हत्या कर डालेंगे। वे माता-पिता तथा अन्य संबंधियों के विरूद्ध भी जघन्य पाप कर सकते हैं। वे आपस में कुकर्म भी कर सकते है।

12.3.7 पत्नियों का साम्यवाद किसानों के लिए अधिक उपयुक्त

अरस्तू का कथन है कि पत्नियों या परिवार का साम्यवाद संरक्षक वर्ग की अपेक्षा उत्पादक वर्ग के लिए अधिक उपयुक्त होगा। वे लोग आपस में ही एक-दूसरे से उलझे रहेंगे। इसका प्रतिफल यह होगा वे सदा आज्ञा का पालन करेंगे और क्रांति से दूर रहेंगे।

12.3.8 कृत्रिम प्रेम

बन्धुत्व राज्य की सुरक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन है। राज्य की एकता के लिए वांछनीय है। भ्रातृत्व तथा मित्रता उसका मुख्य आधार है। प्लेटो ने पत्नियों के साम्यवाद द्वारा भ्रातृत्व एवं एकता का बीजारोपण करना चाहा, लेकिन अरस्तू इसे असंगत मानता है। अरस्तू का मत है कि जिस राज्य में स्त्रियां तथा बच्चे सामान्य होंगे, वहां प्रेम कमजोर पड़ जाएगा। कोई भी पिता 'मेरा पुत्र' और कोई भी पुत्र 'मेरा पिता' कहकर नहीं पुकारेगा। पत्नियों के साम्यवाद से कौटूंबिक संबंध नष्ट हो जाऐगें।

12.3.9 बच्चों का वर्ग-हस्तांतरण

पत्नियों साम्यवाद में यह भी एक कठिन समस्या है कि बच्चों के जन्म लेते है उत्पादन वर्ग का संरक्षण वर्ग तथा संरक्षण वर्ग से उत्पादन वर्ग कैसे हस्तांतरण किया जाए ?इन बच्चों को देने वालों तथा हस्तांतरित करने वालों को यह ज्ञान अवश्य रहेगा ही कि किस बच्चे को किसको हस्तांतरित किया जाए। इस हस्तांतरण से आपस में मारपीट, हत्या, अनुचित प्रेम जैसी बुराईयों को बल मिलेगा।

12.4 संपत्ति-साम्यवाद

प्लेटो ने अपने आदर्शराज्य में संरक्षण वर्ग के लिए स्त्रियों या पत्नियों के साम्यवाद के साथ-साथ संपति के साम्यवाद के संबंध में विचार प्रस्तुत करते हैं और उसे संपत्ति से वंचित रखता है। अरस्तू ने प्लेटो के संपत्ति साम्यवाद की आलोचना के पूर्व संपत्ति के स्वायित्व पर अपने विचार प्रस्तुत किये है —

1. संपत्ति व्यक्तिगत हो, लेकिन उसका उपभोग सामूहिक हो,
2. संपत्ति सामूहिक हो, किन्तु उसका उपभोग व्यक्तिगत रूप से ही और
3. संपत्ति सामूहिक हो तथा उसका उपभोग भी सामूहिक हो।

प्लेटो ने तीसरी अवस्था का समर्थन किया है लेकिन अरस्तू इसे गलत मानता है। उसका तर्क है कि संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो किन्तु उसका उपयोग सामूहिक हित में हो क्योंकि इससे अनेक लाभ है। अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की है —

12.4.1 श्रम

सामूहिक स्वामित्व का एक यह दुष्परिणाम हो सकता है कि सभी व्यक्ति उत्पादन के सामन रूप से श्रम नहीं करें जो व्यक्ति अधिक श्रम करेगा और उपभोग हेतु कम वस्तु दी जाएगी तो उसमें असंतोष बढ़ेगा। कम श्रम करने वाले को अधिक वस्तु दी जाएगी तो भी समाज में असंतोष फैलेगा।

12.4.2 सहजीवन कठिन

सामूहिक संपत्ति में सामूहिक जीवन व्यतीत करना पड़ता है। एक साथ रहने से यह कठिनाई सदा बनी रहती है कि कभी छोटी सी बात के लिए संघर्ष उत्पन्न हो जाए। अत: सामूहिक संपत्ति के आधार पर सहजीवन अत्यन्त कठिन है और राज्य की सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

12.4.3 उदारता

सामूहिक संपत्ति के अन्तर्गत कोई व्यक्ति भी उदारता तथा सहिष्णुता जैसे गुणों का अनुसरण नहीं कर सकता है मित्रता, अतिथि सत्कार, सम्मान आदि के लिए धन की आवश्यकता होती है। संरक्षक वर्ग व्यक्तिगत संपत्ति से वंचित रहता है। अत: इसके अभाव में उदारता जैसे गुण का पनपना संभव नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.4.4 बुराइयाँ

प्लेटो ने व्यक्तिगत संपत्ति का उन्मूलन इस आधार पर भी किया है कि इससे समाज में नाना प्रकार की बुराईयों को बल मिलता है। मारपीट, हत्या, पाप, चोरी, डकैती, जाल-फरेब आदि दुष्कर्म इसी के लिए किये जाते हैं। सामूहिक सम्पत्ति रहने से इन बुराईयों से मुक्ति मिल जाती है। अरस्तू का मत है कि प्लेटो के ये विचार असंगत है। इन बुराईयों की उत्पत्ति व्यक्तिगत संपत्ति से नहीं बल्कि मानव के दुष्ट आचरण से होती है।

12.4.5 एकता का नाश

प्लेटो ने संपत्ति-साम्यवाद को राज्य की एकता का आधार माना है, लेकिन उसकी एकता अन्तिम समय में स्थापित होती है जब तक राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। अरस्तू का कथन है कि राज्य की एकता साम्यवाद पर आधारित नहीं हो सकती। विविधता के आधार पर ही एकता की आशा की जा सकती है। राज्य की एकता का आधार शिक्षा हो सकती है। इसके माध्यम से नागरिकों में एकता की भावना का संचार किया जा सकता है।

12.4.6 युगों का अनुभव

अरस्तू ने इतिहास की पृष्ठभूमि के आधार पर भी प्लेटो के साम्यवाद का खंडन किया है। उसका कथन है कि यदि साम्यवाद पद्धति अच्छी होती तो लोग उसका अनुसरण करते तथा व्यवहार में भी लाएं यहां तक कि प्लेटो के इस सिद्धान्त की हर युग में उपेक्षा की गई है। अत: सम्पत्ति का साम्यवाद अव्यवहारिक एवं व्यर्थ ही है।

12.5 सारांश

सारांश में, यही कहा जा सकता है कि प्लेटो ने आदर्श राज्य की स्थापना को दृष्टिगत रखकर ही साम्यवाद की अवधारणा का प्रतिपादन किया। परन्तु अरस्तु प्लेटो के विचारों से असहमत तथा इसलिए उसने साम्यवाद के सिद्धान्त में व्यापक परिवर्तन कर उन्हें यथार्थ पर आधारित बनाया।

12.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अरस्तू ने प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद की आलोचना किस प्रकार की है ? स्पष्ट कीजिए।
2. ''अरस्तू संपत्ति के साम्यवाद का घोर विरोधी था'' सिद्ध कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्लेटो द्वारा साम्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करने का उद्देश्य क्या था ?
2. अरस्तू की निजी संपत्ति के संबंध में क्या धारणा है ?
3. अरस्तू पत्नी-साम्यवाद को उत्पादन वर्ग के लिए उपयुक्त क्यों मानता है ?
4. अरस्तू के अनुसार संपत्ति का साम्यवाद एकता का नाश किस प्रकार कर सकता है ?

अति लघूत्तरात्मक

1. प्लेटो का साम्यवाद किस वर्ग के लिए था ?
2. प्लेटो किस प्रकार की संपत्ति का समर्थन करता है ?
3. अरस्तू किस प्रकार की संपत्ति का समर्थन करता है ?

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्रदेव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना

पुखराज जैन ''पाश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

प्रभुदत्त शर्मा ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 13

सिसरो (106 ई. पू. से 43 ई.पू.)

संरचना

13.1 उद्देश्य

13.2 प्रस्तावना

13.3 जीवन परिचय

13.4 सिसरो के विचार

- 13.4.1 राज्य का सिद्धान्त
- 13.4.2 संविधानों का रूपान्तरण व मिश्रित राज्य का सिद्धान्त
- 13.4.3 राज्य की उत्पत्ति
- 13.4.4 सिसरो के न्याय पर विचार
- 13.4.5 समाज तथा राज्य
- 13.4.6 सिसरो की कानून की अवधारणा
- 13.4.7 दासता संबंधी विचार
- 13.4.8 शासन या सरकार
- 13.4.9 सिसरों के व्यक्ति के अधिकारों पर विचार

13.5 सिसरों के चिन्तन की आलोचनाएं

- 13.5.1 सिसरों कोई मौलिक विचारक नहीं।
- 13.5.2 सिसरों अपने प्रयासों में असफल रहे।
- 13.5.3 कानून की व्यवस्था आवश्यकता से अधिकआदर्शवादी हो गई।
- 13.5.4 सिसरों के विचार स्पष्ट हो जितने औजस्वी।

13.6 सारांश

13.7 अभ्यास प्रश्नावली

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

13.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सिसरों के प्रमुख राजनीतिक विचारों को जानना है। इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- सिसरो रोमन राजदर्शन का प्रथम विचारक,
- मानवीय समानता के दर्शन का प्रतिपादन करने वाला प्राथम चिन्तक,
- सिसरों के विचारों से आप यह जानसकेंगे कि उच्चतम नैतिकता से ही राज्य का विकास सम्भव है,
- न्याय पर आधारित होने से ही कोई व्यवस्था अपना अस्तितव कायम कर सकती है,
- राज्य मनुष्य की सहमति का परिणाम है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- दासों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सिसरो ने मानवीयता का परिचय दिया है, उसकी भी जानकारी मिलेगी,
- स्वतन्त्रता एवं समानता से औचित्य को स्वीकार कर सिसरो ने समतावादी समाज के स्थापना की बात कही है, उसकी भी व्यापक जानकारी प्राप्त होगी।

13.2 प्रस्तावना

''सिसरो का राजनीतिक दर्शन अपनी मौलिकता के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी पुस्तकें संग्रह मात्र है..... तथापि सिसरो की कृतियों को सभी पढ़ते थे। जहां कोई विचार सिसरो की लेखनी द्वारा लिपिबद्ध हो जाता था। वह भविष्य के लिए सुरक्षित समझा जाता था।'' – प्रो. सेबाइन

रोमन राजनीति में सिसरो का प्रादुर्भाव तब हुआ जब वहाँ गणतान्त्रिक व्यवस्था का अन्त हो रहा था, और साम्राज्यवादी शक्तियाँ व सीनेट के बीच गतिरोध पैदा हो गया था। सिसरो ने गणतान्त्रिक राज्य की प्रशंसा की। उसका प्रयास यही था कि रोम में वही प्रणाली कायम रहे। सिसरो को रोमन राजदर्शन का प्रथम विचारक माना जाता है। यद्यपि यही राजनीति उसकी मृत्यु का कारण बनी। सिसरो ने राजनीतिक दर्शन के बारे में विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। इसीलिए उसके बारे में यह कहा जाता है कि समस्त कालों के विचारकों को मिलाकर भी सिसरो जैसा विचारक पैदा नहीं होता है। वह एक बहुत ही अच्छा लेखक था। उसने साहित्य, नीति शास्त्र तथा राजदर्शन पर विस्तार से लिखा है। एफ. डब्ल्यू. कोकर के अनुसार उसके लेखों का उद्देश्य किसी नये दर्शन का निर्माण करना नहीं था बल्कि अपने देश के नागरिकों को यूनानी काल वस्टाई काल के साहित्य को समझाना तथा रोम में उसका व्यवहारिक प्रयोग करना था।

सिसरो के विचार प्लेटो तथा अरस्तू से मिलते हैं लेकिन वास्तविकता में उनसे काफी अन्तर पाया जाता है। सिसरो के राजदर्शन में एक ताजगी तथा पहले के विचारकों से अन्तर पाया जाता है। प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों तथा सिसरों के विचारों में प्रमुख अन्तर डब्ल्यू एरा सिरत के अनुसार सिसरों के सामने दुनिया का ज्ञान था जबकि प्लेटो व अरस्तू नगर राज्यों के दायरों से बाहर नहीं जा सके। दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि प्लेटो व अरस्तू के विचारों में मानवता के लिए स्थान नहीं था। उनके लिए विश्व सभ्य व जंगलीपन में विभाजित था जो कि सभ्य यूनानियों से निम्न दर्जे की थी जबकि सिसरो के लिए सभी मनुष्य समान थे। वह मानवीय समानता के दर्शन का प्रतिपादन करने वाला पहला चिन्तक था।

13.3 जीवन परिचय

सिसरो का जन्म ई. पू. 106 में रोम के एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ था। उसने विधिशास्त्र का गहन अध्ययन करके एक वकील के रूप में बड़ी ख्याति अर्जित कर ली, और धीरे–धीरे वह राजनीति में सक्रिय हो गया। इसी दौरान वह ई.पू. 80 में तीन वर्ष तक यूनान में रहा। वहां पर दर्शन शास्त्र व भाषण कला का विस्तृत अध्ययन किया। रोम लौटकर वह पुनः सक्रिय हो गया। ई.पू. 64 में वह 'कोन्सुल' बनाया गया और कुछ समय तक वह सिलीसिया का गवर्नर रहा। ई.पू. 58 में उसको निर्वासित कर दिया गया परन्तु 57 ई.पू. उसको वापस बुलाया। गया उसने अपने भाषणों तथा लेखों के माध्यम से रोम वासियों को गणतान्त्रिक व्यवस्था को अपनाने की प्रेरणा दी और साम्राज्यवादी शक्तियों की आलोचना की। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सिसरो को अपने प्रयासों में उस समय पूर्णतया असफल होना पड़ा। परन्तु उसकी लेखन कला इतनी उच्च कोटि की थी कि बिना मौलिक विचारकों में भी सिसरो के वाक्यों को न्यायशास्त्र, राजनीतिक भाषा में अभिवक्ता के रूप में उसके उद्धरणों के रूप बड़े सम्मान के साथ प्रयोग किया जाता है।

1. सिसरो की रचना रिपब्लिक प्लेटो की से मिलती है। लेकिन उसके विचार प्लेटो से पूर्णतया भिन्न है। इसमें सिसरो ने राज्य की प्रकृति व उत्पत्ति, सरकारों के प्रकार तथा उनके न्याय की भूमिका का वर्णन किया है। न्याय रिपब्लिक डी रिलिजन्स की मुख्य अवधारणा है।
2. प्लेटो के 'दी लॉज' से मिलती है। इसमें सिसरो कानून को अपने विचारों के रुप में अभिव्यक्त करते हैं। इसमें सिसरो ने समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।
3. डी. आंफिसींग .... में इस ग्रन्थ का लेखन कार्य सम्पन्न हुआ। इसमें सिसरो ने मुख्यतः नैतिक व राजनीतिक कर्त्तव्यों की विवेचना की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.4 सिसरो के विचार

प्रो. सेबाइन के अनुसार सिसरो के विचार मौलिक नहीं है। वे केवल विचारों के संकलनकर्त्ता और विचारों को स्थायित्व प्रदान करने वाले विचारक है, उन्होंने जिन विचारों को अपने प्रलेखों में स्थान दिया है, वे स्थाई विचार बन गये और आगे जाने वाले युग से सिसरो के माध्यम से उनको जानने का प्रयास किया। सिसरो के राजनीतिक विचार वास्तव में सटीक दर्शन के प्रसिद्ध विचारक प्लेटनरा के विचारों की ही पुर्नावृत्ति है। केवल ढंग व शैली उनकी अपनी है। सिसरो का प्रभाव बहुत था, पर उनका तत्कालीन उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। सिसरो के प्रलेखों के दो उद्देश्य रहे। एक तो रोम वासियों को उच्चतम नैतिकता का प्रशिक्षण देना और दूसरा तत्कालीन उद्देश्य था कि रोम में गणतांत्रिक व्यवस्था को पुर्नस्थापित करना। उसका दूसरा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हुआ, और रोम पर साम्राज्यवादी शक्तियों का नियन्त्रण ही रहा।

सेबाइन के शब्दों में इतिहास की घड़ी को मानों पीछे लौटाना था। साम्राज्यवादी की स्थापना हो चुकी थी और उसे विघटित करना किसी विचारक के बस की बात नहीं थी। अलबता सिसरो की हत्या अवश्य कर दी गयी।

सिसरो ने विभिन्न विषयों के सन्दर्भ में जो विचार प्रस्तुत किये, वे निम्नलिखित रुप से हैं–

13.4.1 राज्य का सिद्धान्त

सिसरो के राज्य सम्बन्धी विचार कोई नये नहीं है फिर भी इन विचारों में एक शक्ति है। वे मात्र पूर्व कथन ही नहीं हैं। यह अपने आप में नवीनता लिये हुए है। राज्य व समाज क्या है इसके बारे में सिसरो लिखता है कि ''जनता का अर्थ लोगों से है पर लोगों से तात्पर्य व्यक्तियों की उस भीड़ से नहीं है जिसे किसी तरह भी एकत्रित कर लिया जाए। यह एक ऐसा समुदाय है जिसके अन्दर लोग सामुदायिक हितों से बंधे हैं और जो कानून को अपना समर्थन देते हैं। उनका एक जगह रहना उनकी शक्ति हीनता का कारण नहीं है बल्कि आपसी प्रेम और प्राकृतिक सम्बन्धों का लगाव है।''

अतएव प्रत्येक समाज और राज्य का एक उद्देश्य होना चाहिए और इस उद्देश्य के अनुसार ही उसे अपने सम्बन्धों को योजनाबद्ध करना चाहिए। राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए सिसरो कहता हैं ''कामनवेल्थ (राज्य) लोगों से सम्बन्धित है और लोगों का तात्पर्य मनुष्यों के हर समूह से नहीं है। जिनका संगठन चाहे जिस ढंग से किया जाये। यह उस लोगों का संगठन है जो कानून व अधिकारों की मान्यता और एक दूसरे के हितार्थ कार्यों में भाग लेने की इच्छा से एक सार्वजनिक समझौते द्वारा बंधे होते थे। राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुई सिसरो लिखते है कि वह लोगों से सम्बन्धित है और लोगों का तात्पर्य मानव के प्रत्येक समूह से नहीं है। जिनका संगठन चाहे जिस ढंग से किया जाए। यह उन लोगों का संगठन है जो कानून व अधिकार को मानता और और एक दूसरे के हितार्थ कार्यों में भाग लेने की इच्छा से एकसार्वजनिक समझोते के द्वारा बंधे होते है। इसलिए राज्य और समस्त नागरिकों की सार्वजनिक सम्पत्ति है। प्रो. सेबाइन ने लिखा है कि सिसरो की राज्य सम्बन्धी इस परिभाषा से तीन परिणाम निकलते हैं।''

1. चूंकि राज्य और इसका कानून लोगों की सार्वजनिक सम्पत्ति है इसकी सत्ता का स्रोत भी लोगों की सामुदायिक शक्ति है। एक राष्ट्र आत्मप्रशासित संगठन है जिसके पास आत्म–रक्षा के लिए आवश्यक शक्ति है जिनके द्वारा वह अपने अस्तित्व को बनाये रखता है।
2. जब राजनीतिक शक्ति का सही व वैधानिक प्रयोग किया जाता है तो यथार्थ में, वह लोगों की सह–शर्त या निगमनात्मक शक्ति बन जाती है। एक प्रशासक जो अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, वह अपनी उसी हेसियत से उसका प्रयोग करता है। यह प्रशासक कानून से ही अपनी शक्ति प्रदान करता है और वह कानून का निर्माण करता है।
3. राज्य तथा इसके कानून सदैव भगवान के कानून के या नैतिक अथवा प्राकृतिक विधि से आश्रित होते हैं। ऐसा प्राकृतिक या भगवान का कानून अधिकारों का वह नियम है, जो मानवीय विकल्पों और उसकी संस्थाओं से परे होता है। राज्य की प्रकृति में शक्ति का प्रयोग एक आकस्मिक चीज है और इसके प्रयोग का औचित्य इसलिए है कि वह न्याय और अधिकारों के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक हो जाती है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों में सिसरो ने राज्य की सीमा बांधने, उसकी प्रकृति का वर्णन करते और उसकी शक्ति के औचित्य विवेचन करने में जो दूरदर्शिता दिखाई और जिन नपी–तुली शब्दावली में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वह राजनीतिक के इतिहास में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अमूल्य धरोहर मानी जाती है और इन उद्घोषणाओं का राजनीतिक चिन्तन में प्रयोग भी बहुत हुआ है। सिसरो के इन कथनों को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और सदियों तक उद्धरणों के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है। इन विचारों को एक कीमती उत्तराधिकार की वस्तु मान लिया गया। सेबाइन ने ठीक ही कहा है कि इस प्राचीन सिद्धान्तों का प्रयोग ही आज के लोकतान्त्रिक युग में एक नवीन परिस्थिति के अनुसार हुआ है। राज्य का तात्पर्य सभी लोगों से है।

एक यूनानी के लिए एक दार्शनिक राजा परन्तु सिसरो के लिए वैधानिक राजा ही सही प्रशासक हो सकता था। सिसरो के विचार में कानून सभ्य समाज को संगठित करने की श्रृंखला है तथा वह राज्य को संचालक और नियन्त्रक शक्ति है।

13.4.2 संविधानों का रूपान्तरण व मिश्रित राज्य का सिद्धान्त

सिसरो का मत था कि यदि राज्य को लम्बे समय तक जीवित रहना है तो उसे एक विशेष योजना द्वारा चलना होगा। इस योजना का आधार सरकार की शक्तियों का वितरण है। सिसरो ने पोलिबियस की तरह सरकार के तीन स्वरूपों राजतंत्र, वर्ग तंत्र और जनतंत्र को ही स्वीकार किया है जो यह सरकार के रूप में कायम रहते है। जब तक की वे न्याय के अनुसार शासन करते है। जब वे अन्यायी हो जाते हैं तो अधिनायकतंत्र व भीड़ तन्त्र में परिवर्तित हो जाते हैं। लेकिन सिसरो का मत है कि राज्य की यह योजना उचित नहीं है क्योंकि तीनों प्रकार के रूपों में दोष प्रकट होने लगते हैं। उसके मतानुसार राजतंत्र कुलीन तंत्र व प्रजातंत्र का सन्तुलित मिश्रित हो सबसे अच्छा संविधान है। इस प्रकार का मिश्रित संविधान होने से रूपान्तरण रूप ही का चक्र समाप्त हो जाएगा तथा राज्य की सरकारों को स्थायित्व प्रदान हो जाएगा।

13.4.3 राज्य की उत्पत्ति

अरस्तू की भांति सिसरो राज्य को प्राकृतिक नहीं मानता है। वह इसे निर्मित तथा शासित वर्ग की सहमति पर आधारित मानता है। कई बार ऐसा आभास होता है कि सिसरो हॉब्स की भांति किसी समझौते से राज्य की उत्पत्ति मानता है। किन्तु, सही अर्थ में समझौते की जगह वह सहमति को राज्य के निर्माण का आधार मानता है। उसके शब्दों में- 'राज्य मनुष्यों का कानून की सहमति में एकत्रीकरण है।' इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति समझोते के द्वारा हुई है और वही शक्तियाँ बल के द्वारा नहीं वरन् इसकी उत्पत्ति तो मनुष्यों के समाज में रहने की इच्छा और समाज के प्रति निष्ठा के कारण हुई है। राज्य की उत्पत्ति तो अनिवार्यत: जनता की स्पष्ट सहमति और विधि के सिद्धान्त के आधार पर हुई है।

13.4.4 सिसरो के न्याय पर विचार

प्लेटो की भांति सिसरो ने भी 'न्याय' के विचार को अपने आदर्श राज्य का केन्द्रीय विषय माना है। परन्तु राज्य की प्रकृति और न्याय के सिद्धान्त के विषय में सिसरो के विचार प्लेटो से भिन्न है। सिसरो ने अपनी रचना डी रिपब्लिक के बहुत बड़े भाग में न्याय सम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया है। सिसरो के अनुसार सभी लोगों में तर्क शक्ति होती है। इसीलिए सभी व्यक्तियों में समानता होनी चाहिए और सभी लोगों का समानता प्राप्त करने का अवसर देना व निर्धारित अधिकार देना, अधिकारों की रक्षा करना, न्याय का आधार है। सिसरो लिखता है हमारी सांस्कृतिक बुद्धिमता हमें अपनी सम्पदा और शक्ति का विस्तार करने के लिए प्रेरित करती है। न्याय हम से मांग करता है कि हम दूसरे, व्यक्तियों की सम्पदा और उसके अधिकारों का सम्मान करें। इस प्रकार न्याय व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करता और उन्हें कर्त्तव्य पालन का आदेश देता है। इस प्रकार यह काण्ट के नैतिक आदेश के समान है।

13.4.5 समाज तथा राज्य

सिसरो ने प्लेटो व अरस्तू की भांति समाज और राज्य को पर्यायवाची नहीं माना है। वह समाज को राज्य से अधिक प्राचीन तथा व्यापक संस्था मानता है। वह यह भी नहीं मानता है कि राज्य, व्यक्ति से पूर्व निर्मित है अथवा व्यक्ति के लिए प्राकृतिक है। राज्य की सदस्यता स्वीकार करने के पूर्व भी वह मानव के सामाजिक अस्तित्व को स्वीकार करता है। मानव का अस्तित्व तथा उसका सामाजिक जीवन उसे राज्य के पूर्व की वस्तुएँ प्रतीत होती है। राज्य की सदस्यता से पूर्व के अपने जीवन में सिसरों का मानव अरस्तू के मानव की भांति न तो पशु ही है, और न ही देवता। सिसरो राज्य से पूर्व के काल के मानव को विश्व राज्य में ईश्वर के साथ निवास करते हुए एवं प्राकृतिक कानून से शासित देखता है। राज्य की सदस्यता के कारण व्यक्ति के सामाजिक जीवन में सीमितता आती है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lanhun

13.4.6 सिसरो की कानून की अवधारणा

सिसरो ने अपनी रचना डी लिजिबस में कानून की अवधारणा का उल्लेख किया है। सिसरो के शब्दों में कानून भगवान का रुप है। सृष्टि में आदिकाल से ही इसका अस्तित्व रहा है। बिना कानून के प्रकृति का कोई कार्य नहीं होता। प्रकृति की प्रत्येक क्रिया में एक नियमता दिखाई पड़ती है। एक सार्वजनिक कानून है जो सभी प्राणियों में समान रूप से लागू होता है और उसके अनुसार नियमों के सारे कार्य संचालित होते हैं। दूसरे मानव कृत प्रत्यक्ष कानून है जिन्हें राज्य लागू करता है और जिनके द्वारा राज्य का स्वयं निर्माण व संचालन होता है। बिना कानून के किसी भी चीज का औचित्य नहीं कानून प्रशासकों का नियन्त्रण करते हैं। प्रशासक लोगों का नियन्त्रण करते हैं और सही बात तो यह है कि प्रशासक कानून की वाणी है और कानून एक मोन न्यायधीश है। कानून के बिना कोई काम नहीं चलता है न राज्य का न मानवता का और नहीं प्रकृति या विश्व का कानून सच्चा विवेक है। जो या तो आदेश देता है या निषद्ध करता है जो इसकी अवहेलना करता है, वही अन्यायी है।

प्रकृति अपने कानूनी से बंधी है और जो कार्य प्रकृति के अनुकूल होते हैं वे वैज्ञानिक है और वे ही न्यायमुक्त है। कानून का पालन तभी न्याय है, जब कानून प्राकृतिक के अनुरूप हो। प्रकृति के प्रत्येक कार्य में न्याय का पालन होता है। प्रकृति में प्रेम की भावना है और प्रेम ही न्याय का आधार है। न्याय अध्यादेशों, राज्य आज्ञाओं, प्रमादेशों अथवा न्यायाधीशों के निर्णय द्वार ही यदि प्राप्त होता है ता भीड़तंत्र में लोग इन परमादेश निर्णयों व अध्यादेशों द्वारा उसे बहुत ही शीघ्र ही प्राप्त कर लेते है। न्याय वह है जो प्राकृतिक कानून के अनुकूल हो। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने को विश्व का नागरिक समझता है। और इस दृष्टि से कार्य करता है वही न्याय का अर्थ समझ सकता है। कोई भी विवेक कानून का रूप तभी धारण करता है जब वह भागवत मन का सही प्रतिनिधित्व करता है। प्रत्येक कानून जो सही रूप में कानून कहलाने के योग्य है, उत्तमता है। सड़क पर चलते हुए राहगिर द्वारा बनाये गये कानून जो एक दूसरे को नुकसान पहुंचाने के उद्देश्य से गढ़ लिये जाते हैं कानून नहीं है। कानून अपने आप में है। कानून न्याय व अन्याय के बीच एक निर्णयक तत्व है। कानून सभी चीजों की मूल प्रकृति के सत्य को अभिव्यक्त करता है और सत्य भी रक्षा का अर्थ उसकी अवहेलना करने वाले को दण्डित करता है।

कानून प्रकृति का व सर्वोच्च विवेक की अभिव्यक्ति है जो यह तय करता है कि क्या करने योग्य है तथा क्या करना निषेध है ? सिसरो इसे कानून लेक्स का नाम देते हैं। उस समय के प्रचलित अर्थ के अनुसार लेक्स का अर्थ है, सही यह यूनानी शब्द भाषा का है। जिसका अर्थ प्रत्येक के लिए वह प्रदान करता है। जो उसका हम है सिसरो के अनुसार कानून का अर्थ रोमन लेचेन्डी हर्गघट से लिया गया है, जिसका अर्थ लोगों का सामूहिक विवेक लॉ शब्द का स्रोत लेक्स है।

सिसरो के मतानुसार कानून का अस्तित्व उसके निर्माण काल में नहीं बल्कि आदिम काल से है उनसे कि प्रकृति का सर्वोच्च कानून निर्मित हुआ है। प्रकृति की इच्छा से केवल मनन्य ही भगवान के विवेक का साझेदार है और जब वह अपने इस विवेक पूर्ण बना देता है। तब वह सबसे अधिक बुद्धिमान कहलाता है, सबसे अधिक न्यायिक कहलाता है। इस विवेक से ऊपर कोई चीज नहीं है क्योंकि वह व्यक्तियों व भगवान दोनों में एक और व्यक्ति इस चीज में भगवान का साझीदार है और यदि विवेक दोनों में एक है तो वही सच्चा विवेक है और विवेक ही कानून है तो कानून के मध्यम से लोग भगवान तक पहुंचते हैं सिसरो के इन विचारों में वैज्ञानिक आरत्यवाद मिलता है।

13.4.7 दासता सम्बन्धी विचार

सिसरो दास प्रथा को अस्वीकार करता है तथा न्यायपूर्ण व्यवहार प्राप्त करने के दासों के अधिकार का वह समर्थन है। वह उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का समर्थन करता है। वह उन्हें न्यायोचित एवं मानवोचित व्यवहार का पात्र मानता है। वह चाहता है कि यदि उन्हें बन्धनमुक्त भी न किया जा सके तो कम से कम आजीवन किराये पर लिये गये श्रमिकों के रूप में मान्यता ही दी जाये।

इस प्रकार दासता के बारे में सिसरो ने अरस्तू से भिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। अरस्तू के लिए दासता अच्छा जीवन और सभ्य सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक शर्त है। अरस्तू दासता को स्वाभाविक मानता था। क्योंकि कुछ लोग और लोगों से हीन और दासोचित हैं। अरस्तू इस मानव स्वभाव की स्वभाविक असमानता के सिद्धान्त के विपरीत सिसरो मानव स्वभाव की स्वाभाविक क्षमता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

13.4.8 शासन या सरकार

सिसरो के अनुसार राज्य को कायम रखने के लिए सरकार या शासनाधिकार का होना आवश्यक है। राज्य में शासनाधिकारियों को शासन कार्य के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण रखना चाहिए कि सरकार उनके हाथों में सौंपी गई जनता की धरोहर है। सिसरो के अनुसार सरकार के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। सरकार एक व्यक्ति या कुछ चुने हुए व्यक्तियों या पूरी जनता के हाथों में हो सकती है। यदि न्याय और सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखते हुए शासन का संचालन होता है तो सरकार वैद्य है। सिसरो के अनुसार अगर सरकार अन्यायपूर्ण है तो राज्य को भ्रष्ट नहीं कहां जाएगा अपितु यह कहा जाएगा कि राजा या शासक है ही नहीं।

सिसरो ने सरकार के तीन अंग माने हैं लेकिन वास्तव में वह किसी से भी सन्तुष्ट नहीं है। उसके अनुसार सबसे कम संतोषप्रद सरकार वह है जिसमें सारी शक्तियां जनता के हाथ में है। उसके विचार में प्रजातंत्र समता का सिद्धान्त है। आखिर क्यों इसमें व्यक्तियों की विभिन्न श्रेणियां नहीं है। वह राजतंत्र और कुलीनतंत्र से भी असन्तुष्ट है क्योंकि इस प्रकार की सरकारों में कम से कम दासता अवश्य ही दिखाई पड़ती है और जनसमूह का अधिकांश भाग स्वतंत्र अधिकारों से वंचित रहता है। इस प्रकार सिसरो सरकार के इन तीनों रूपों में असन्तुष्ट हैं क्योंकि राजतंत्र आसानी से निरंकुश में बदल जाता है और अभिजाततंत्र धनिक तंत्र में परिवर्तित हो जाता है और प्रजातंत्र भीड़ तंत्र में बदल जाता है। वह सरकार के चौथे रूप के पक्ष में जो स्थायित्व गुण को अधिक मात्रा में सुरक्षित रखते हुए प्रत्येक के कुछ सद्गुणों के साथ तीन साधारण तत्त्वों के सम्मिश्रण से बनेगा।

13.4.9 सिसरो का अधिकारों पर विचार

प्लेटो व्यक्ति के अधिकारों का स्रोत भी कानून की प्रकृति की मानता है जो विवेक पर आधारित होता है जो व्यक्तियों की समानता पर विश्वास करता है। व्यक्तियों की समानता पर प्लेटो तथा अरस्तू के परम्परागत विचारों से अलग सिसरो ने विचार व्यक्त किये। सिसरो ने व्यक्ति व्यक्ति में जाति या रंग के आधार पर भेद नहीं किया है, जैसा अरस्तू ने किया था। सिसरो के अनुसार सभी व्यक्ति व्यक्तियों के वंश में समान अनुभव होता है और इससे समान अनुभव होता है साथ ही इसी समान अनुभव के आधार पर उचित व अनुचित का ज्ञान करने की समान क्षमता होती है और इसी समान अनुभव के आधार पर उचित व अनुचित का ज्ञान करने की समान क्षमता होती है। इसके अतिरिक्त सिसरो का मत है कि सरकार का आधार लोगों की इच्छा है तथा इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है।

सिसरो की स्वतंत्रता में दो महत्त्वपूर्ण बाते हैं —

1. स्वतन्त्रता व अधिकार सभी व्यक्तियों में समान रूप से बिना किसी वर्ग विभेद के प्रदत्त किये जाने चाहिए।
2. वैधानिक सरकार का आधार जनता का समर्थन होना चाहिए। इस प्रकार सरकार की वैधानिक व राजनैतिक शक्ति अन्तिम रूप से जनता में निहित रहनी चाहिए। सिसरो के ये विचार आधुनिक प्रजातंत्र तथा लोकप्रिय सरकारों के आधार बने हैं।

13.5 सिसरो के विचारों की आलोचनाएं

सिसरो के उपरोक्त वर्णित सिद्धान्तों व विचारों की निम्नलिखित आलोचनायें प्रस्तुत की की सकती है।

13.5.1 सिसरो कोई मौलिक विचारक नहीं है

प्रो. सेबाइन के अनुसार सिसरो के विचारों में कोई मौलिकता नहीं है। उन्होंने स्टोइक दार्शनिकों विचारों का संकलन मात्र किया है। पोलीबिअस के सिद्धान्तों की इन्होंने पुनरावृत्ति भी की है।

13.5.2 सिसरो अपने प्रयासों में असफल रहे

सिसरो का मुख्य उद्देश्य था स्वेच्छाचारी निरंकुश राज्य का अन्त कर गणतान्त्रिक व्यवस्था को पुन: स्थापित करना था। लेकिन उस समय किसी ने उनकी बात नहीं सुनी और उन्हें अपने जान से भी हाथ धोना पड़ा।

13.5.3 कानून आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी हो गये

जिस प्रकार प्लेटो व अरस्तू ने अपने राज्य को ईश्वर बना दिया है और व्यक्ति का केवल राज्य की उपलब्धि माना है। सिसरो ने उसी प्रकार कानून को ईसा की बराबरी में ले जाकर खड़ा कर दिया है कि वे कानून को ईश्वर का जुड़वा व साझेदार मानते है। कानून

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की इतनी ऊंची प्रशसा करना आज के विचारों के लिए तथ्यहीन मालूम होती है इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि सिसरो ने यथार्थ कानून को इतना ऊपर नहीं उठाया और न ही वे किसी राज्य के कानून को शायद भगवान की बराबरी का स्थान ही देना चाहेंगे। वास्तविकता यह है कि सिसरो ने कानून व न्याय को उनके मूल में सत्य ही माना है और है भी इसी बात प्रत्येक चीज अपने मूल और उत्कृष्ट रूप से सत्य है और सत्य ही का नाम तो ईश्वर है। अत: यदि सिसरो ने प्राकृतिक कानून को ईश्वर का साझेदारी माना तो आध्यात्मिक दृष्टि से सही ही है पर आधुनिक राजनीतिक शास्त्री इसे स्वीकार नहीं कर सकते।

13.5.4 सिसरो के विचार जितने स्पष्ट है उतने ओजस्वी

सिसरो की भाषा बहुत सशक्त है उसने अपनी आवाज को बहुत बुलन्द कर दिया। लेकिन उनके विचार इतने स्पष्ट नहीं है कि जितनी जोरदार उनकी भाषा है। वे राज्य की सत्ता लोगों के हाथ में रहना चाहते हैं लेकिन लोगों से उनका अर्थ क्या है, वह स्पष्ट नहीं है। इसमें लोगों का चुनाव कैसे किया जाये। शायद आधुनिक लोकतंत्र की कल्पना तो सिसरो के मत में नहीं रही होगी। अधिक से अधिक उस समय गणतन्त्रात्मक राज्य के प्रतिधित्व का आदर्श ही उनके सामने था। ऐसे प्रतिनिधित्व के आधार इतने उच्च कानूनों का निमार्ण और स्वतंत्रता समानता का आदर्श स्थापित हो सकता है जितने की सिसरो ने कल्पना की है। इसमें सन्देह ही नहीं असम्भव बात प्रतीत होती है। गणतंत्र का जितनी सशक्त आवाज उसने बुलन्द की है वह उतनी था नहीं सिसरो के विचार धीरे-धीरे प्लेटो के विचारों के समीप पहुंच जाते हैं। विचारक उन्हें वैद्यानिक राजनैतिक शास्त्री कहे, सिसरो एक राजनीतिक से अधिक आध्यात्मिकवादी ही रहे हैं। उनकी कानून सम्बन्धी अवधारणा में राज्य की सामग्री नहीं बल्कि मन्दिर की ही सामग्री निहित है।

13.6 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सिसरो ने अपने राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, विधि का शासन, अधिकारों पर बल देकर अपने दर्शन को व्यावहारिक तथा मानवता पर आधारित बनाया है।

13.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सिसरो के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सिसरों के विचार बताओं।
2. सिसरो मिश्रित संविधानों का सिद्धान्त किस प्रकार प्रस्तुत करता है ?
3. सिसरो वे व्यक्ति के अधिकारी के बारे में क्या विचार देता है ?
4. 'सिसरो आदर्शवादी था' सिद्ध करो।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सिसरो का जन्म कब और कहाँ हुआ।
2. सिसरो किस शासन प्रणाली का समर्थन करता है ?
3. सिसरो की ग्रन्थों के नाम बताओ।
4. सिसरो राज्य की उत्पत्ति के संबंध में किस सिद्धान्त का समर्थन करता है ?
5. सिसरो स्वतन्त्रता की कौनसी महत्त्वपूर्ण बातें बताता है।

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बी. एल. फड़िया, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' (प्लेटो रठे बर्क) साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. के. एन. वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई - 14

सन्त आगस्टाइन

संरचना

14.1 उद्देश्य

14.2 प्रस्तावना

14.3 जीवन परिचय

14.4 रचनाएँ और उनका महत्त्व

14.5 आगस्टाइन के प्रमुख राजनीतिक विचार

- 14.5.1 मानव समानता संबंधी विचार।
- 14.5.2 दासता संबंधी विचार।
- 14.5.3 सम्पत्ति संबंधी विचार।
- 14.5.4 इतिहास की दार्शनिक व्याख्या।
- 14.5.5 राज्य विशेषक विचार।
- 14.5.6 चर्च पर विचार।
- 14.5.7 चर्च व राज्य के बीच संबंध।
- 14.5.8 कानून न्याय व शांति पर विचार।

14.6 आगस्टाइन का प्रभाव

14.7 सारांश

14.8 अभ्यास प्रश्नावली

14.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

14.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सन्त आगस्टाइन के विचारों को जानना है, जिसके अन्तर्गत उनहोंने राजनीति को धर्म पर आधारित करने पर बल दिया है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे कि—

- आगस्टाइन ने अपने राजनीतिक विचारों में धर्म को प्रधान माना है,
- समानता के सिद्धान्त का समर्थन किया है,
- राज्य की उत्पत्ति संबंध में देवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है,
- सम्पत्ति के समर्थक होते हुए भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का विरोध किया है,
- आगस्टाइन राज्य को चर्च का ही राजनीतिक अंग मानता है,
- इसमें आपको दो सत्ता का सिद्धान्त जिसमें चर्च व राज्य को बनाया गया है जो जान सकेंगे,
- आगस्टाइन ने न्याय, कानून एवं शांति पर विशेष बल दिया है।

14.2 प्रस्तावना

''सन्त आगस्टाइन का दर्शन केवल थोड़ा सा ही व्यवस्थित था, पर उसने प्राचीनकाल के समस्त ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात कर लिया था।''- प्रो. सेबाइन

ईसाइयत का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना थी इस धर्म के उदय होने का प्रमुख कारण तत्कालीन धर्म (यहूदीधर्म) का अत्यधिक बुराईयों से ग्रस्त हो जाना था। इसमें सामाजिक भावना का पतन हो चुका था तब सुधार करने के उद्देश्य महात्मा ईसा द्वारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसमें सुधार करने का प्रयास किया गया। यद्यपि ईसा की हत्या कर दे गयी परन्तु यह धर्म और अधिक फलता फुलता गया। ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करने के बाद के प्रचारकों की असाधारण भूमिका रही है। ईसाई धर्म का सर्वप्रथम प्रभाव रोम साम्राज्य पर पड़ा और वहां का राजधर्म बन गया। इस प्रकार 5वीं शताब्दी में रोम के पोप को चर्च के सर्वोच्च पदाधिकार के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

14.3 जीवन परिचय

सेंट एम्ब्रोस का शिष्य सेंट आगस्टाइन 5वीं शताब्दी के ईसाई पादरी लेखकों में सबसे महान व्यक्ति था। उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार एवं चिन्तन जगत को प्रदान किये। उसका जन्म अल्जीरिया के थिगस्ते नामक स्थान पर एक मूर्तिपूजक (जमीदार) के यहां हुआ था। उसकी माता मोनिका ईसाई थी। वह बचपन से बड़ा ही होनहार था। 370 ई.में कार्थेज के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया है। 384 में वह इटली के मिलान में अलंकार शास्त्र का अध्यापक बना परन्तु उसको यहां पर मानसिक शान्ति नहीं मिली। इसी बीच उसका सम्पर्क सेंट एम्ब्रोज से हुआ और 33 वर्ष की आयु में उसने ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद उसने अपने जीवन का शेष समय ईसाईत के प्रचार-प्रसार में किया। 388 ई. में अफ्रीका लौट गया और 7 वर्ष बाद वह हिप्पो का विशप बना और वह इस पद पर आजीवन कार्य करता रहा। 430 ई. में जब वण्डालनामा ब्रर्बर जाति की सेना ने उसके हिप्पो नगर पर आक्रमण किया तब उसकी मृत्यु हो गयी।

14.4 रचनाएं और उनका महत्त्व

अपनी रचनाओं तथा दार्शनिक ग्रन्थों के माध्यम से आगस्टाइन के विचारों का प्रचार समस्त ईसाई विश्व में हुआ। उसके विचारों की छाप न केवल मध्यम युग के विचारों पर ही पड़ी, बल्कि आधुनिक युग के चिन्तकों पर भी पड़ी। 400 ई. में उसने अपनी सुप्रसिद्ध आत्मकथा लिखी तथा 412-427 ई. में ईश्वर का नगर नामक ग्रन्थ लिखे।

14.5 आगस्टाइन के प्रमुख राजनीतिक विचार

यहां आगस्टाइन के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सीटी ऑफ गॉड' के आधार पर उसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्तों या विचारों का परिचय दिया जा रहा है —

14.5.1 मानव समानता सम्बन्धी विचार

आगस्टाइन के मानव समानता सम्बन्धी विचारों का सारांश यह है कि ईश्वर ने मानव को केवल पशु जगत पर शासन करने का अधिकार दिया है। मानव, मानव पर शासन करे यह ईश्वर को कदापि स्वीकार न था। फिर भी आगस्टाइन यह अवश्य मानता है कि विवेकशील मानव का अविवेकशील (पशु जगत) पर शासन का औचित्य तो है किन्तु विवेकशील (मानव) पर शासन उसे स्वीकार नहीं। उसके विचारानुसार प्रारम्भिक मानव की स्थिति गडरिये की स्थिति थी न कि मनुष्य समुदाय पर शासन करने वाले शासक की, संक्षेप में आगस्टाइन ने प्रारम्भिक मानव समाज को मानव समानता की बुनियाद पर अवस्थित माना है।

14.5.2 दासता सम्बन्धी विचार

सन्त आगस्टाइन दास प्रथा को यूनानी विचारकों की भांति प्राकृतिक नहीं मानता है। उसके अनुसार दासता मानव पाप का परिणाम है। पापात्मा पर डाली हुई यह उचित अवस्था है। यह ईश्वरीय न्याय के कारण ही मानव को भुगतनी पड़ती है। दासत्व का औचित्य इस आधार पर है कि यह ईश्वरीय न्याय पर आधारित है। यदि मानव में पाप का अभाव होता है तो दण्डस्वरूप प्राप्त दासता का भी पूर्ण अभाव होता है। इस प्रकार सन्त आगस्टाइन की यह धारणा है कि दासता मानवकृत पाप के बदले ईश्वर द्वारा किया गया दण्ड विधान है। यह प्राकृतिक संस्था ही नहीं है।

14.5.3 सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

अन्य ईसाई सन्तों की तरह आगस्टाइन के द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया गया है। उसकी धारणा है कि सम्पत्ति के बिना मानव अपने लौकिक व आध्यात्मिक जीवन के उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकता। किन्तु उसका कथन है कि प्रत्येक मानव को उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितनी की इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। अगर इससे अधिक सम्पत्ति किसी के पास है तो उसका प्रयोग स्वहित में नहीं वरन् जनहित में किया जाना चाहिए।

राज्य व दासत्व की भांति सम्पत्ति को भी वह ईश्वरीय इच्छा के आधार पर निर्मित संस्था के रूप में स्वीकार करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.5.4 इतिहास की दार्शनिक व्याख्या

सन्त आगस्टाइन ने इतिहास की दार्शनिक व्याख्या की है। जिसमें यह बताया गया है कि चर्च का विकास विश्व में भगवान की उत्पत्ति है। सारी मानवता एक ही परिवार है। जिसका अन्तिम उद्देश्य और यह उद्देश्य भागवत राज्य की प्राप्ति है। यह उपलब्धि उसे विश्व में नहीं हो सकती, यह परलौकिक उत्पत्ति है। जिसका प्रारम्भ तो इसी विश्व से होता है पर अन्तिम उपलब्धि स्वर्गीय जगत में इस दृष्टि से मानव जीवन की एक यात्रा है। वह इतिहास इसी यात्रा की एक कहानी है और यात्रा भगवान के राज्य से आरम्भ होती है। एडम वकोक के पतन के साथ मानव इस धरती पर आया और उसकी यात्रा आरम्भ हुई। इस विश्व में वह पूर्ण स्वर्ग राज्यों को प्राप्त करना चाहता है क्योंकि उसी राज्य में उसे देवता प्राप्त होता है। मानव इस यात्रा को अस्थाई स्थिति मानता है जिसे पार करके उसके अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति स्वर्गीय राज्य ही हो सकता है।

इस विश्व में देवता व पशुत्व में संघर्ष होता है पर विजय देवता की होती है। इस प्रकार मानव कल्याण की सारी योजना है। कुछ दर्शय है, कुछ अदर्शय। दर्शय योजना यह विश्व है जिसके आगे जाता है। क्यों कि सांसारिक उद्देश्य तो मानव का अन्तिम उद्देश्य है। वह तो संघर्ष की एक अवस्था है। इतिहास प्रकृति की इस रहस्यमयी योजना की आंशिक अभिव्यक्ति है। राज्य व चर्च इस विश्व के दो प्रमुख संघ है। जो इस प्राकृतिक योजना के ही अंग है। मानव उद्देश्य की छावनी है। चर्च इस योजना का अंग है। इसीलिए राज्य निर्माण भी मानवीय पाप के परिणाम स्वरूप उसके लिए उपचार के लिए हुआ है। इस आध्यात्मिक योजना के बाद वही राज्य तो भगवान द्वारा निर्मित है। मानव के बीच सामन्जयस्य शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करता है। अत: उसे एक भागवत योजना के बाहर कैसे मान लिया जाए। इस स्थिति में राज्य चर्च का प्रतिद्वंदी नहीं है वह तो चर्च की एक भुजा है।

आगस्टाइन के इन विचारों से स्पष्ट है कि 'राज्य चर्च का ही राजनीतिक अंग है।' और यदि वह चर्च की व्यवस्था के अन्दर आता है तो यह भी स्पष्ट है कि उसे इसाइयत के अन्दर कार्य करना होगा। राज्य को एक ईसाई राज्य भी होना आवश्यक माना जाता है। क्योंकि प्रकृति ही ऐसी योजना है जो राज्य ईसाइयत को स्वीकार कर चर्च के निर्देशन को प्राप्त करना नहीं चाहते। वास्तव में वे भगवान की इस योजना से अभिगम है। एक सही राज्य वही हो सकता है। जिसमें सही धर्मों के तत्त्वों से लोगों को अवगत करवाया जाए। यदि राज्य वासियों को उनके अन्तिम उद्देश्य के बारे में नहीं बताता तो वे निरुद्देश्य होकर शैतान के निर्देशन में कार्य करते हैं। इसलिए राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिए लोगों में सही धर्म की भावना जागृत करना। इस प्रकार राज्य की सार्वभौमिक चर्च के अंग के रूप में ही कार्य करना चाहिए। राज्य न्याय व शान्ति कायम करने में तभी ही सफल हो सकता है, जब वह न्याय व शांति के तत्त्व को समझने का प्रयास करे। यह प्रशिक्षण तो ईसाई धर्म संघ में ही उपलब्ध हो सकता है। अत: बिना ईसाई धर्म के राज्य में शांति व न्याय प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

14.5.5 राज्य विषयक विचार

राज्य का प्रादुर्भाव मानव की समूह में रहने की भावना से तथा आदम के आदिम पाप के कारण हुआ है। मानव की कुछ प्रवृतियों पर विरोध के लिए भगवान की ओर से हुआ है। किन्तु फिर भी यह शैतान का राज्य है जबकि ईश्वरीय नगर में ईसामसीह का राज्य है। पहले का सम्बन्ध मानव शरीर से है। उसमें वासनाओं की प्रधानता होती है। दूसरे का सम्बन्ध मानव की आत्मा से आगस्टाइन राज्य को पूर्ववर्ती ईसाई विचारकों को भांति अनिवार्य बुराई न मानते हुए चर्च की उसकी सम्पत्ति के अधिकारों की मतों की रक्षा के लिए आवश्यक मानता था। दैवीय उत्पत्ति के कारण राज्य की आज्ञाओं को स्वीकार करना चाहिए। किन्तु यदि वह धर्म के विरूद्ध होती उनका पालन नहीं होना चाहिए।

सांसारिक राज्य पर शैतान का स्वामित्व होने से उसमें न्याय नहीं रह सकता। उसके मतानुसार राज्य अन्याय पर प्रतिष्ठित है वह अन्य राज्यों के अधिकारों का अपहरण करता है और ईश्वरीय अधिकारों का उल्लंघन करता है व राज्य अपने नागरिकों से यह मांग करता है कि वे भगवान के प्रति की जाने वाली उपासना को विमुख करना रोमन साम्राज्य में ईसाईयों पर अत्याचार के समय, ऐसा हुआ सच्चे भगवान से गिरफ्त करने वाला तथा शैतान की समर्पित रहने वाले राज्य में न्याय कैसे रह सकता है। फॉस्टर के मतानुसार आगस्टाइन के शब्दों में प्राचीन यूनानी व रोमन जगत में अज्ञान किन्तु मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन जगत में एक मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यह सिद्धान्त जीवन को धर्म निरपेक्ष व धार्मिक क्षेत्रों में बांटना तथा धार्मिक क्षेत्र पर राज्य का प्रभुत्व स्वीकार करता है।

सांसारिक राज्यों में इसलिए भी न्याय नहीं हो सकता है कि वे बड़ी चोरियों व डकैतियों के समान है। यदि चोरों का संगठन इतना विकसित हो जाएगें वे किलों पर नियन्त्रण में रखते हैं तो बसाये नगरों पर अधिकार करें पड़ौसी राज्यों की जीत ले तो उनके

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संगठन को चोरों का संगठन नहीं कहा जाएगा। किन्तु उसे राज्य का सम्मानित नाम दिया जाएगा। इस विषय में सिकन्दर का दृष्टान्त देते हुए कहता है कि उसने समुद्री डाकू को पकड़ लिया। डाकू ने इस सन्दर्भ में बड़े ही सुन्दर ढंग से उत्तर दिया। सिकन्दर ने डाकू से यह पूछा की तुम समुद्र में दूसरे व्यक्तियों को उत्पीड़न क्यों करते हो। तब डाकू ने कहा कि तुम सारे विश्व के लोगों को उत्पीड़न क्यों करते हो। मैं यह कार्य एक जहाज से करता हूं इसलिए मैं एक डाकू हूं और तुम विशाल बेड़े के साथ करते हो। इसलिए तुम सम्राट कहलाते हो। आगस्टाइन के मत में यदि राज्य में न्याय की व्यवस्था ठीक है तो वह डाकू का बड़ा गिरोह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार डाकूओं का अन्यायपूर्ण लौकिक, राज्य ईश्वरीय नगर या राज्य से सब दृष्टियों में निकृष्ट है। इसकी आज्ञाओं का पालन केवल इसलिए करना चाहिए कि राजकीय सभा द्वारा स्थापित शांति व्यवस्था में धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन विशुद्ध रीति से होता रहे। जब तक राज्य सत्ता धार्मिक नियमों का पालन करने के लिए प्रत्यनशील हो तब तक उसके आदेशों का पालन करना चाहिए। किन्तु यह आदेश धर्म विरूद्ध हो तो इनकी अवज्ञा की जानी चाहिए। यद्यपि आगस्टाइन ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं लिखा है कि राज सत्ता धर्म सत्ता के अधीन होनी चाहिए। किन्तु उसने राज सत्ता को इतना अन्यायपूर्ण एवं आसुरी–वृत्ति वाला बताया है कि धर्म सत्ता के पंथ प्रदर्शन के बिना उसका कल्याण सम्भव नहीं है। ईसाई शासन को आध्यात्मिक कल्याण के लिए चर्च का तथा चर्च की सांसारिक विषयों के लिए राज्य का सहयोग आवश्यक है किन्तु सहयोग न होने पर धार्मिक सत्ता अधिक उत्कृष्ट होने के कारण बंधनीय है। मध्य युग में पोप की प्रभूता के समर्थन में एक बड़ी युक्ति यह थी कि जिस प्रकार आत्मा शरीर से उत्कृष्ट है और उस पर शासन करती है वैसे ही पोप की धार्मिक सत्ता राज्य की शक्ति से श्रेष्ठ होने के कारण उसको अनुशासित करती है।

14.5.6 चर्च पर विचार

सेन्ट आगस्टाइन के चर्च संबंधी विचार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका तर्क है कि भगवान के नगर में प्रवेश के लिए सही दिशा दिखाने के लिए इस जगत में कोई स्पष्ट निकाय होना चाहिए। आगस्टाइन के अनुसार यह निकाय चर्च है। चर्च को आगस्टाइन स्वर्ग के नगर का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानता है। चर्च के माध्यम से समस्त मानवता संगठित हो सकती है। मानवता के संगठन का तात्पर्य चर्च के नेतृत्व में ईसाईयों के संगठन से है। इस प्रकार आगस्टाइन चर्च को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

14.5.7 चर्च व राज्य के बीच सम्बन्ध

आगस्टाइन ने राज्य की उपयोगिता को स्वीकार किया है और चर्च तथा उसके बीच मधुर संबंधों की आवश्यकता का अनुभव किया है। प्रथम तो यह दो तलवारों के सिद्धान्तों पर विश्वास करते रहे जो चर्च के एक स्वतन्त्र आस्तत्व के औचित्य को सिद्ध करता है। दूसरे ने धार्मिक मामलों में राज्य से यह अपेक्षा करते हैं कि चर्च से सलाह ले वे कहते हैं कि इस संसार में शान्ति की बड़ी आवश्यकता है न केवल सांसारिक मनुष्य के लिए बल्कि उनके लिए भी जिनकी आत्मायें ईश्वरीय राज्य में विश्वास करती है और इस विश्व में उनकी यात्रा चलती रहती है उसके लिए सुरक्षा की आवश्यकता है जिसने अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को बिना किसी अड़चन के पूरा कर सके, और जब राज्य से सुरक्षा प्राप्त करते हैं तो सुरक्षा सम्बन्धी सारे कानूनों का पालन करना भी अनिवार्य है। कानून के पालन में मानवीय राज्य और ईश्वरीय राज्य के निवासियों किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया जाता लेकिन दोनों में अन्तर उन आज्ञाओं को पालन करने की धारणा में है। एक के लिए सांसारिक जीवन में सुरक्षा ही ध्येय होता है और दूसरे के लिए स्वर्गीय जीवन का एक साधन है। इस साधन का उपयोग ने अपने पशुत्व को धोने के लिए करते हैं। इस दृष्टि से राज्य भागवत के जीवन की तैयारी का एक साधन है लेकिन चर्च की सत्ता राज्य की आज्ञाओं का पालन एक सीमा के अन्दर ही करेगी। आज्ञा का पालन तभी तक उचित है जब तक आज्ञा इस शांति को कायम करने के लिए दी जाती है। लेकिन यदि राज्य धार्मिक क्षेत्र में भी अपने कानून की शक्ति के बल पर लादना चाहे तो ईसाई कानून या आज्ञा को अवज्ञा करने के लिए बाध्य होगा। ईश्वरीय राज्य सांसारिक शान्ति का सम्मान करता है और इस दिशा में राज्य परिवर्तनों का निरीक्षण करता है और यह देखता है कि स्वर्गीय शान्ति की उपलब्धि के लिए उसका उपयोग किया जा रहा है।

14.5.8 कानून–न्याय व शान्ति पर विचार

सेंट आगस्टाइन के अनुसार स्वर्गीय राज्य में दो तत्त्वों की प्रधानता है। प्रत्येक समाज में एक व्यवस्था होती है और इस व्यवस्था व अनुशासन के लिए न्याय की आवश्यकता है परिवार में अनुशासन होता है। जिसका पालन सभी सदस्य करते हैं तथा वे परिवार अपने से एक बड़ी संस्था राज्य के अन्दर है। जिसका पालन सभी सदस्य करते हैं तथा वे ही न्यायी है। परिवार अपने से एक बड़ी संस्था राज्य के अन्दर है। राज्य की अपनी व्यवस्था है और उसके लिए राज्य का अनुशासन है। इसलिए यदि ऐसा उस अनुशासन का पालन करता है तो राज्य के सन्दर्भ में उसे न्याय ही कहा जाएगा पर यदि आन्तरिक मामलों में परिवार में कितना भी न्यायिक क्यों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

न हो लेकिन राज्य के अनुशासन की अवहेलना करता है। तो वह राज्य के संदर्भ में अन्यायी है। न्याय राज्य स्वयं भी एक सार्वभौमिक समाज के अन्दर है यह समाज है, भगवान के शाश्वत राज्य, जिसकी अपनी व्यवस्था व अनुशासन है। राज्य अपने क्षेत्र में चाहे कितने ही न्याय क्यों न हो पर यदि वह उस ईश्वरीय व्यवस्था का पालन करने में उस शाश्वत अनुशासन का पालन नहीं करता। ईश्वरीय राज्य के सन्दर्भ में वह अन्यायी कहा जाएगा, तब कोई व्यवस्था इस शाश्वत व्यवस्था के अनुरूप हो जाती है तथा यह कहां जा सकता है कि उस व्यवस्था में ईश्वर की इच्छा का पालन किया जा रहा है।

सेंट आगस्टाइन की सहमति में राज्यों में न्याय नहीं था क्योंकि उनमें शाश्वत इच्छा को जानने की जिज्ञासा थी। जहां न्याय नहीं होता है वहां कोई सही कानून नहीं होता है। जहां अन्याय होता। वहां कानून की भी अवज्ञा की जाती है। इसलिए न्याय व सही कानून एक दूसरे के अलग नहीं रह सकते। कानूनों की उत्पत्ति ही न्याय है और तब राज्य का सही अस्तित्व भी नहीं हो सकता। यदि ऐसा राज्य अस्तित्व में है तो वह भीड़ के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला है कि जहाँ न्याय नहीं, वहां कानून नहीं है, और वहां कोई राज्य भी नहीं है।

सेंट आगस्टाइन ने न्याय की परिभाषा करते हुई लिखा है कि न्याय यह सद्गुण है जो प्रत्येक को उसका सही अधिकार प्रदान करता है। ईश्वर की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है जो राज्य उन्हें ईश्वर से विमुख करता है और शैतान के अधीन है। वह न्यायी नहीं हो सकता। आगस्टाइन के अनुसारवही राज्य न्यायी है जो नागरिकों में ईश्वर के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न कर जिस व्यक्ति में ईश्वर के प्रतिनिष्ठा नहीं वह अन्यायी है। आगस्टाइन की न्याय की व्याख्या केवल ईश्वरीय मापदण्ड से नापी जा सकती है। आगस्टाइन के अनुसार यह आवश्यक नहीं की न्याय धनी व समृद्धशाली है। न्याय का धन शान्ति है और जिसके पास शान्ति नहीं हे। उसके पास अपार धन होने पर वह रंक व अन्यायी है। आगस्टाइन के के अनुसार भौतिक समृद्धि के लिए न्याय का विस्तार करने वाले शासन न्यायी नहीं, बल्कि बड़े डाकू व चारे हैं।

इसके सदस्य ईश्वर की कृपा पाने वाले फरिश्ते व मृत व्यक्ति भी होते है। यह सिसरो के विश्वव्यापी राज्य से भिन्न-भिन्न है क्योंकि उसके सदस्य मनुष्य जाति के सभी व्यक्ति थे किन्तु इसमें ऐसा नहीं है भगवान की इच्छा थी कि मनुष्य इसमें सदस्य होते किन्तु आदम के आदिम पाप के कारण सभी मनुष्य पापी हो गये। उनमें आसुरी प्रवृत्तियों का प्रद्यान्य हो गया। इन से व्यक्ति की मुक्ति भगवत कृपा से सम्भव है। ईश्वरी नगर का सदस्य होने के लिए किसी विशेष जाति या वर्ग का बंधन आवश्यक नहीं है इसकी एक ही शर्त भगवत कृपा है। ऐसी कृपा पाने वाले सभी देशों के व्यक्ति ईश्वरीय नगर के नागरिक होते हैं। आगस्टाइन का ईश्वरीय नगर रोमन कैथोलिक चर्च से धनिष्ठ रूप से सम्बन्ध होने के बाद भी इससे भिन्न है। दोनों के सदस्य एक जैसे नहीं है। ईसाई चर्च को, ईसा में विश्वास करने वाले सभी व्यक्ति होते हैं। किन्तु ईश्वरीय नगर के सदस्य केवल भागवत कृपा वाले होते हैं। इस नगर के वासी ईश्वर के प्रति प्रेम के कारण एकता के दृढसूत्र में आबद्य होते हैं। ऐसी एकता सांसारिक राज्यों में नहीं होती।

इस नगर की दो प्रमुख विशेषता है न्याय व शान्ति आगस्टाइन का न्याय का विचार प्लेटो के विचार से सादृश्य रखता है। उसके मतानुसार व्यवस्था के प्रति अनुकूलता और इससे उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का पालन ही न्याय है। यदि मनुष्य इन कर्त्तव्यों का पालन करता है तो वह न्याय है प्रत्येक समाज में तथा समाज की विभिन्न ईकाईयों में परिवार राज्य आदि में एक विशेष प्रकार की व्यवस्था होती है और इनसे ऊपर सार्वभौमिक समाज में सार्वभौम व्यवस्था व न्याय होता है।

यदि परिवार व राज्य में संघर्ष हो तो मानव को राज्य की व्यवस्था का पालन करना चाहिए। राज्य व सार्वभौम समाज की व्यवस्था के विरोध में पिछली व्यवस्था को श्रेष्ठ मानना चाहिए। राज्य, सार्वभौमिक समाज की व्यवस्था व न्याय की तुलना में घटिया दर्जे का है। निरपेक्ष व पूर्ण न्याय सार्वभौम समाज में ही मिलता है। प्लेटो का व्यक्ति और राज्य के विभिन्न वर्गों में पाया जाता है किन्तु आगस्टाइन के मतानुसार न्याय की धारणा देश व काल अपरिचिन्ह अमूर्त विचार है। ईश्वरीय नगर की दूसरी विशेषता शान्ति है यह अभावात्मक युद्ध का न होना नहीं किन्तु भावात्मक विचार है भगवान के प्रति प्रेम के कारण इस नगर में शान्ति का साम्राज्य रहता है।

14.6 आगस्टाइन का प्रभाव

आगस्टाइन की पुस्तक 'ईश्वर का नगर' तथा उसकी विचारधारा अनेक शताब्दियों तक यूरोप के विचारकों को प्रभावित करती है। उस समय रोमन साम्राज्य की सत्ता क्षीण हो रही थी। उसके स्थान पर उसने एक स्वर्गीय राज्य के आदर्श को तथा इसके प्रतिनिधि चर्च को गौरव पूर्ण स्थान दिया। इस विषय के सिद्धान्त को बड़ी स्पष्टता का साथ रखते हुए चर्च की सर्वोच्च सत्ता के विचार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का बीजारोहण तथा उसकी प्रभुसत्ता का मार्ग प्रशस्त किया। उसकी विशेषता यह है कि उसने प्राचीन यूनानी तथा रोमन विचार धारा के उत्कृष्ट अंशो को ग्रहण करके तथा उनका इसाइयत के साथ समन्वय कर उसे नूतन आयाम प्रदान किया। वे राजनैतिक विचार के क्षेत्र में नव युग का श्री गणेश करने वाला था। मध्य युग की अनेक परिभाषायें की गई किन्तु उसकी सर्वोत्तम परिभाषा यह है कि यह आगस्टाइन के विचारों के साथ प्रारम्भ होता है और उनकी समाप्ति के साथ इसका अन्त हो जाता है। आगस्टाइन के बाद लम्बे समय तक यूरोप पर उसके धार्मिक मतों बाईबल के प्रमाण वाद चर्च की प्रभुता, आदिम पाप विधर्मियों के दमन आदि के विचारों की प्रधानता बनी। उसकी रचनायें विद्वानों के लिए प्रेरणा का मूल स्रोत बनी रही। सुप्रसिद्ध पोप ग्रेकरीक संतम, इनोसेंट तृतीय, बेने फेस्ट अंरुम ने उसके विचारों का अनुसरण किया। थामस एक्वीनास आदि सभी विचारक आगस्टाइन के ऋण प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ उसके ग्रंथ 'ईश्वर का नगर' को बहुत चाव से पढ़ते थे। रोमन सम्राट शार्लभगत तथा ओटो महान पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

मूरे के अनुसार सम्भवत वे यह समझते थे कि पवित्र रोमन साम्राज्य द्वारा इस भूतल पर स्वर्गीय राज्य की स्थापना कर रहे हैं।

लार्ड ब्राइस ने यह सत्य ही लिखा है कि इस कथन में कोई अतिशोक्ति नहीं है कि पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण दिव्य नगरी की नींव पर हुआ। मैक्सी के मत में मध्य युगीन यूरोप की राजनीतिक विचारधारा पर किसी अन्य व्यक्ति ने इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला जितना आगस्टाइन ने 4 शताब्दी में डाला है। धर्म व राज्य की दो सत्ता का विचार यद्यपि आगस्टाइन के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों ने भी रखा था किन्तु उसने उस दैव नगरी में इतना प्रबलता के साथ रखा की यह सर्वमान्य हो गया और मध्य युग का एक प्रधान विचारक बन गया।

14.7 सारांश

आगस्टाइन के विचारों को उसके बाद के विचारकों पर अत्यधिक प्रभाव रहा है तथा उसके अत्यधिक विचार मौलिक रहे हैं। लेकिन उसके सम्पत्ति व दासता पर विचार बचकाने लगते हैं। उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति आज की समाज वादी विचारधारा के पूर्णतया विपरीत है यद्यपि यह तत्कालीन परिस्थितयों में उपयुक्त होगा। उसका दासता को न्यायोचित ठहराना ईसाई विचारों पर एक धब्बा है उसके दासता की सही ठहराने के पीछे कोई ठोस आधार नहीं हैं। और इस आधार दास पर मालिक की निरंकुशता स्थापित कर देता है उसका यह कहना कि दास ईश्वर की कृपा से मुक्त होगें अजीब लगता है। उपरोक्त विचारों में दोष होते हुई भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह मध्य युग का प्रथम विचारक है तथा दूसरे सभी मध्ययुगीन विचारकों ने उससे बहुत कुछ ग्रहण किया।

14.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सन्त आगस्टाइन के प्रमुख राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आगस्टाइन द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आर्थिक व्याख्या का उल्लेख कीजिए।
2. आगस्टाइन चर्च व राज्य के बीच किस प्रकार के संबंधों की बात करता है ?
3. आगस्टाइन के सम्पत्ति संबंधी विचार स्पष्ट करो।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आगस्टाइन का जन्म कब और कहाँ हुआ था ?
2. दासता के विषय में आगस्टाइन की क्या धारणा है ?
3. आगस्टाइन की पहचान किस विचारक के रूप में की जाती है ?

14.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ.पी. गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'' मयूर पेपर बेक्स, नौएडा
2. बी.एल. फड़िया, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
3. नागेश्वर प्रसाद, ''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' जयराज प्रकाशन, बरेली
4. के. एन. वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचार'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स मेरठ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई - 15

संत टॉमस एक्वीनास (1225-1247 ई.)

संरचना

15.1 उद्देश्य

15.2 प्रस्तावना

15.3 जीवन परिचय

15.4 टॉमस एक्वीनास की प्रमुख रचनाएँ

15.5 टॉमस एक्वीनास : महानतम मध्यकालीन विचारक

15.6 सन्त टॉमस एक्वीनास : राजनीतिक विचार

15.6.1 राज्य संबंधी विचार

15.6.2 शासन प्रणालियों का वर्गीकरण

15.6.3 शासक के कर्त्तव्य

15.6.4 सरकार के कर्त्तव्य

15.6.5 संपत्ति संबंधी विचार

15.6.6 दासता संबंधी विचार

15.6.7 राज्य तथा चर्च

15.7 कानून पर एक्वीनास के विचार

15.7.1 कानून की परिभषा

15.7.2 कानून की व्याख्या

15.7.3 कानून की विशेषताएँ

15.8 एक्वीनास के विचारों की समीक्षा एवं सरांश

15.9 अभ्यास प्रश्नावली

15.10 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

15.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य संत टॉमस एक्वोनास के राजनीति, शासन, कानून, चर्च, सम्पत्ति इत्यादि संबंधी विचारों को जानना है, इस अध्याय से आप जान सकेंगे —

- टॉमस एक्वीनास का दर्शन समन्वय पर आधारित था,
- राष्ट्रीय राज्य के आधुनिक विचार का समर्थन किया,
- राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली माना है,
- एक्वीनास सीमित राजतंत्र का समर्थक है जो इस बात पर बल देता है कि शासक को जनकल्याण को आधार मानकर अपने दायित्वों का निर्वाह करना चाहिए,
- दासतों को सैनिकों की वीरता में अभिवृद्धि करने वाला मानता है,
- कानून का चरम उद्देश्य सामान्य सुख,
- कानून तथा न्याय के मध्य घनिष्ठ संबध होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.2 प्रस्तावना

''संत टॉमस एक्वीनास को मध्य काल का महानतम् क्रमबद्ध दार्शनिक माना जाता है, क्योंकि वह उस युग के समग्र विचार का प्रतिनिधित्व करता है।'' – फॉस्टर

सेंट टॉमस एक्वीनास मध्ययुग का सबसे महान् राजनीतिक चिन्तक था। फॉस्टर के शब्दों में ''टॉमस के दर्शन का मूलमंत्र यह था कि उसने समरूपता और मतैक्यता पर आधारित सार्वभौमिक संश्लेषण और सर्वांगीण पद्धति के निर्माण का प्रयत्न किया।'' संत टॉमस के दर्शन का मुख्य कार्य समन्वय था। उससे पहले की शताब्दियों में विधिवेताओं, धर्मशास्त्रीयों, टीकाकारों, ईसाई प्रचारकों, चर्च और राज्य के समर्थकों आदि के अपने-अपने विचार थे। वे सभी दृष्टिकोणों में व्यक्त करते थे। सन्त टॉमस ने इन विभिन्न विचारों और दृष्टिकोणों में एकता और क्रमबद्धता स्थापित करके, इनको एक 'पद्धति' का रूप प्रदान किया।

प्रो. मैकलवेन ने ठीक ही कहा है कि ''थॉमस अपने समय के उपयुक्त व्यक्ति थे और यह समय वह था जब राज्य को कानून के माध्यम से समझा जाता था कानून को राज्य के माध्यम से नहीं अतएव उनकी राजनीतिक विचारधाराओं के मूल कानून और उसकी प्रकृति में ढूढना होगा।

15.3 जीवन परिचय

थॉमस एक्वीनस का जन्म 1225 ई. में इटली के एक्वीनो नगर में हुआ था। उसके पिता का नाम काउण्ट लण्डोल्फ ऑफ एक्वीनो डो फ्रांस के राजा के संबंधी थे। इस प्रकार उसका बाल्यकाल ऐश्वर्य से परिपूर्ण था। उसने कम आयु में अध्ययन शुरु कर दिया था। वह अपनी इस अल्प आयु में भी अपनी प्रतिभा का परिचय देने लगा था। उसके माता-पिता उसे उच्च राज्याधिकारी बनाना चाहते थे। पर उसके जीवन में वैराग्य प्रधान धार्मिक प्रवृत्ति थी। अत: उसने अपने विलासितापूर्ण जीवन का परित्याग कर वैराग्य जीवन जीने का निश्चिय किया। उसके माता-पिता उसके इस कार्य से सन्तुष्ट नहीं थे। उसके बाद पेरिस में आध्यात्मिक शिक्षा लेने लगे और अपने गुरु अलबर्ट से बहद प्रभावित हुआ। इसके पश्चात् उसने अपना सम्पूर्ण जीवन ईसाइयत के नाम समर्पित कर दिया। सन् 1274 को 47 वर्ष की आुय में उनकी मृत्यु हो गई।

15.4 टॉमस एक्वीनास की प्रमुख रचनाएं

केटलिन के अनुसार टॉमस एक्वीनास की कुल मिलाकर 60 ग्रंथों की रचना की। उसके प्रमुख ग्रंथों में इथिक्स, पॉलिटिक्स, आनर्किगशिप, टू दि किंग ऑफ साइप्रस, सुम्मा थियोलोजिया, रूल ऑफ प्रिन्सेज सुम्मा कण्ट्रा जेटाइल्स आदि उल्लेखनीय थी –

फांस्टर के शब्दों में – ''एक्वीनास विश्व के महानतम व्यवस्थित दार्शनिकों में से एक था। उसका कार्य उन सबको साथ-साथ रखना था जो कि पहले अलग-अलग पड़ा हुआ था, और जो पहले कम या अधिक रूप से टुकड़े-टुकड़े में था। उससे एक भव्य भवन निर्मित करना था।'' सेबाइन ने उसे सम्पूर्ण मध्य युग में ''इतिहास में बहुत थोड़े विद्वान हुए हैं जिन्होंने एक साथ विचार के इतने विशाल क्षेत्र को इतने क्रमबद्ध और स्पष्टता के साथ प्रकाशित किया हो।''

15.5 टॉमस एक्वीनास : महानतम मध्यकालीन विचारक

यदि थामस एक्वीनास को मध्य युग का महानतम विचारक कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। उसने अनेक विरोधी तत्त्वों के बीच में समन्वय करने का काम किया। जिस प्रकार ईटों का ढ़ेर घर नहीं होता ठीक उसी प्रकार छोटे-छोटे टूकड़ों में बिखरा हुआ साहित्य दर्शन नहीं हो सकता है। सन्त थॉमस एक्वीनास ने इन सभी को क्रमबद्धता प्रदान की। वह धर्म शास्त्र, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र और राजनीति शास्त्र का अपने युग का श्रेष्ठ अधिकारी विद्वान माना जाता है। बड़े शासक उससे शासकों के कर्त्तव्य को बताने की प्रार्थना करते थे। इसीलिए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है– ''महान धर्माचार्य और तेजस्वी दार्शनिक संत टॉमस एक वीनास मध्ययुग की एक अतिशय प्रचण्ड विभूति है। समस्त ईसाई जगत में उसके उच्चाशय उत्तुंग व्यक्तित्व को छूने वाला दूसरा व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता है।''

15.6 संत टॉमस एक्वीनास के राजनीतिक विचार

सन्त थॉमस एक्वीनास के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित है :-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.6.1 राज्य सम्बन्धी विचार

सन्त टॉमस एक्वीनास ने अपनी कृति 'सुग्मा थियोलोजिका' में प्रस्तुत किया है। उसने सर्वप्रथम सेंट आगस्टाइन के विचारों को प्रस्तुत किया और फिर उनको राज्य के औचित्य विषयक अरस्तू के तर्क के अनुसार संशोधित करने का प्रयास किया।

आगस्टाइन आदि ईसाई विचारकों का यह मत था मनुष्य के आरम्भिक पाप के कारण राज्य, सम्पत्ति व दास प्रथा की उत्पत्ति हुई है परन्तु टॉमस ने इस विचार का पूर्णतया खण्डन करते हुए बताया है कि राज्य तो एक स्वाभाविक संस्था है। जो मानव के लिए अतिआवश्यक मानी जाती है। उसने अरस्तू के इस सिद्धान्त पर पूरी तरह बल दिया है कि मानव स्वभाव से सामाजिक व राजनीतिक प्राणी है। समाज कल्याण के लिए राज्य आवश्यक है। राज्य से सम्बन्धी विचारों में उसने अरस्तू से तीन विचार ग्रहण किये हैं कि–

1. कई, नगर राज्यों से मिलकर बनने वाले राज्य का उत्तम आधार होता है।
2. थॉमस एक्वीनास ने 'राष्ट्रीय राज्य' के आधुनिक विचार का समर्थन करता है।
3. उसका मत था कि रीति–रिवाजों की एकता तथा समानता राज्य का उत्तम आधार होता है।

15.6.2 शासन प्रणालियों का वर्गीकरण

सेंट टॉमस एक्वीनास ने शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया है। अरस्तू की भांति वह राजतंत्र, कुलीनतंत्र तथा सर्वजन तंत्र को शासन का श्रेष्ठ रूप मानता है क्योंकि वे सामान्य हित लक्ष्य की ओर उन्मुख शासन प्रणालियां है। इसके विपरीत वह निरंकुशतंत्र, धनिकतंत्र तथा जनतन्त्रात्मक शासन प्रणालियों को शासन का विकृत रूप मानता है क्यों कि इनका लक्ष्य वर्गहित अथवा व्यक्ति विशेष का साधन है। राजतंत्र और प्रजातंत्र शासन प्रणालियों में अरस्तू का झुकाव प्रजातंत्र की ओर था, किन्तु एक्वीनास निम्नलिखित कारणों से राजतंत्र को श्रेष्ठ समझता है।

1. जिस प्रकार विश्व में एक ईश्वर का शासन है, शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय का साम्राज्य है, मधु मक्खियों पर रानी मक्खी का शासन होता है। वैसे ही राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है।
2. समाज का सबसे बड़ा हित इस बात में है कि उसमें एकता और शांति बनी रहे, यह राजतंत्र में ही सम्भव है।
3. मध्यकाल की अशान्त और अराजक परिस्थिति में शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य रखने वाले राजतंत्र की श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक है।
4. राजतंत्र में शान्ति व्यवस्था बनी रहती है।
5. वे राजतंत्र को तानाशाही व्यवस्था नहीं मानते हैं।

15.6.3 शासक के कर्त्तव्य

टॉमस का झुकाव राजतंत्र की ओर है। राजा की परिभाषा देते हुए वह कहता है– ''राजा वह है जो एक नगर या प्रान्त के अनेक निवासियों पर शासन करता है और यह शासन वह सार्वजनिक हित में करता है।'' इसीलिए सोलोमन कहते है– 'राजा उसके अधीनस्थ समस्त पृथ्वी पर शासन करता है। वह शासक की निरंकुशता को स्वीकार नहीं करता है। राजा को असीमित रूप में शासनाधिकार प्राप्त नहीं है। यह अधिकार तो उसे ईश्वर द्वारा प्रदत्त है। इसकी प्रमुख शर्त यह है कि इसके द्वारा ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करे जो मानव के लिए अच्छा जीवन सम्भव बन सके।' वह स्वतंत्रात्मक व्यवस्था को जन–कल्याण की दृष्टि से अच्छा मानता है।

15.6.4 सरकार के कार्य

एक्वीनास ने राज्य, सरकार या शासक के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये हैं —

1. शासक को राज्य का जीवन को नियमित करने के लिए जनसंख्या पर नियन्त्रण रखना चाहिए।
2. बाहरी आक्रमण व आक्रान्ताओं से अपने देश के नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए।
3. सड़कों को सुरक्षित और चोर डाकूओं के उपद्रवों से मुक्त रखा जाना चाहिए।
4. शासक को अपने राज्य की विशेष मुद्रा निश्चित करनी चाहिए।
5. नाप–तौल की उचित प्रणाली निश्चित करनी चाहिए।
6. शासक को राज्य के विभिन्न कार्यों का सफलता पूर्वक संचालन करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।
7. कानून, आदेश, दण्ड व पुरस्कार की उचित व्यवस्था करनी चाहिए एवं आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति भी करनी चाहिए।
8. गरीबों के भरण–पोषण का भी कार्य करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.6.5 सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

टॉमस एक्वीनास ने जो सम्पत्ति के सम्बन्ध में जो विचार रखे है वे भी काफी महत्त्वपूर्ण माने जाते है, जिसके बारे में उल्लेख करते हुए वह कहता है कि सम्पत्ति मानव की आवश्यकता है। परन्तु वह निजी सम्पत्ति का विरोध करता है तथा वह बतलाता है कि सम्पत्ति का उपयोग सामूहिक रूप से करना चाहिए। इसके बारे में वह 'प्राकृतिक कानून' के स्थान पर मानवीय कानून पर बल देता है। उसके मतानुसार सम्पत्ति की अधिकता पाप का कारण है। पर साथ ही उसका यह भी कहना है कि सम्पत्ति पर धर्म की छाप लग जाती है, तब उसके सब दोष नष्ट हो जाते हैं।

15.6.6 दासता संबंधी विचार

टॉमस एक्वीनास इस दृष्टिकोण को अपनाते हुए दासता विषयक विचार प्रकट करता है कि दासता का भय दिखाकर वह सैनिकों में निडरता एवं साहस का संचार करे। सैनिक युद्धक्षेत्र में दास बनाये जाने के भय से वीरता और साहसपूर्वक लड़कर विजेता बनने का प्रयत्न करते हैं। इस मत के समर्थन में एक्वीनास ने इतिहास और 'ओल्ड टे स्टामेण्ट' की 'डिट्रानमी' नामक पुस्तक से प्रमाण भी दिए हैं।

15.6.7 राज्य तथा चर्च

एक्वीनास चर्च को सामाजिक संगठन का मुकुट मानता है और वह उसको राज्य से उच्च स्थान प्रदान करता है। उसने मानव के दो लक्ष्य बताये हैं– भौतिक सुख की प्राप्ति और पारलौकिक सुख। भौतिक सुख राज्य द्वारा प्राप्त होता है तथा पारलौकिक सुख चर्च द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इनमें से वह पारलौकिक सुख को उच्च मानता है। राज्य के अधिकारियों को चर्च के दैवी कानून के तथा पादरियों के शासन में रहना चाहिए।

टॉमस एक्वीनास राज्य तथा चर्च की उपमा एक जहाज के यन्त्रों के बढ़इयों तथा चालक से करता है। जहाज के संचालन में लक्ष्य प्राप्ति तक बढ़ई बराबर यंत्रों को ठीक करते रहते हैं परन्तु वे चालक के अधीन कार्य करते हैं जो जहाज को गन्तव्य स्थान पर ले जाता है। इस प्रकार लौकिक सत्ता जहाज के बढइयों की भांति है और चर्च चालक की भांति। जिस प्रकार जहाज पर बढ़ई चालक के अनुशासन में रहता है, उसी प्रकार राज्य को चर्च के नियन्त्रण में रहना चाहिए।

15.7 कानून पर एक्वीनास के विचार

एक्वीनास के समस्त राजनीतिक विचारों में उनके कानून सम्बन्धी विचारों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक्वीनास कानून की पवित्रता की मध्ययुगीन परम्परा से प्रभावित थे। प्रो. सेबाइन के शब्दों में, 'कानून के प्रति उनकी आदर-भावना इसलिए थी कि वे इसकी सत्ता को अन्तर्निहित मानते थे न कि मनुष्य द्वारा उत्पन्न। इसलिए इसका प्रत्यन दैवी कानून के साथ मानव निर्मित कानून का सम्भवतया निकर सम्बन्ध स्थापित करना था।' इस प्रकार एक्वीनास कानूनों को व्यापक अर्थों में लेते थे। वे केवल इसे मानव सम्बन्धों को नियमित करने का साधन नहीं मानते थे।

15.7.1 एक्वीनास के अनुसार कानून की परिभाषा

एक्वीनास के अनुसार, ''कानून सामान्य हित के लिए विवेक का आदेश है तथा उस व्यक्ति के द्वारा प्रसारित किया जाता है जो समाज की देखभाल करता है।''

15.7.2 एक्वीनास द्वारा कानून की व्याख्या

एक्वीनास ने कानून की व्याख्या करते समय यूनानी अवधारणा के विपरीत इसमें 'इच्छा शक्ति' का समावेश करके 'सकारात्मक कानून' के विचार का प्रतिपादन किया। उनके विचार में कानून राजा में 'व्यावहारिक विवेक' का प्रतीक है जो कुछ पूरे समाज पर शासन करता है।

15.7.3 एक्वीनास के अनुसार कानून की विशेषताएँ

एक्वीनास की कानूनी की धारणा की एक विशेषता यह भी है कि वह इसे सार्वभौमिक, अपरिवर्तनीय तथा प्राकृतिक मानते है। उनके विचार में कानून सर्वोपरि है। यह मानव प्रकृति के पूर्णरूपेण अनुरूप है। एक्वीनास कानून को केवल विवेक अथवा राजा का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आदेश नहीं मानते। उनके विचार में यदि मनुष्यकृत 'सकारात्मक कानून' न्याय के मूलभूत सिद्धान्तों के विपरीत है तो निश्चय ही ऐसा कानून भ्रष्ट है। प्रो. सेवाइन के शब्दों, टॉमस एक्वीनास की दैवी अथवा मानवीय इच्छा की कोई धारणा नहीं थी जिसके आदेशानुसार कानून का निर्माण या तो प्रकृति के लिए अथवा समाज के लिए किया गया था। उसके चारों प्रकार के कानून विवेक के चार प्रकार हैं जिनकी अभिव्यक्ति 'ब्रह्माण्डीय वास्तविकता' के चार स्तरों पर होती है परन्तु विवेक चारों पर विद्यमान रहता है।''

15.8 एक्वीनास के विचारों की समीक्षा एवं सारांश

एक्वीनास कानून को विवेक की अभिव्यक्ति मानते है। उनके अनुसार विवेक की प्रकृति का मूल सत्य है। उनके अनुसार कानून मनुष्य के कार्यों का मापदण्ड है और इस प्रकार यह आवश्यक रूप से विवेक से सम्बन्धित है। एक्वीनास की कानून सम्बन्धी परिषाभाषा के समीक्षा के पश्चात् हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं : —

1. यह मनुष्य के समस्त कार्यों का मापदण्ड है तथा इसका विवेक के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।
2. चूंकि कानून मानव आचरण का नियम है अत: इसका चरम उद्देश्य 'सामान्य सुख' है। इसका निर्माण ही सामान्य सुख के लिए हुआ है।
3. चूंकि कानून का चरम उद्देश्य सामान्य सुख है अत: इसका निर्माण किसी व्यक्ति अथवा शासक के द्वारा नहीं वरन् विवेक के द्वारा होता है।
4. चूंकि कानून का निर्माण ऐसे नियम के द्वारा होता है जासे उन लोगों पर लागू होता है जिनके लिए इसका निर्माण हुआ है अत: कानून के लिए बाध्यकारी शक्ति का होना आवश्यक है।

इसे उन लोगों में प्रचारित किया जाना चाहिए तथा उन्हें समझाया जाना चाहिए, जो इसके अधीन है। इस प्रकार हम देखते है कि एक्वीनास के कानून को विवेक की अभिव्यक्ति बताकर कानून सम्बन्धी धारणा को नई दिशा दी। उन्होंने कानून तथा न्याय में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया।

उनके विचार में कानून विवेक की अभिव्यक्ति है तथा न्याय कानून पर आधारित है। एक्वीनास ने न्याय की कॉमन धारणा का अनुसरण किया कि 'न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उनके अधिकारों को प्रदान करने की स्थिर तथा सतत् इच्छा है।' कानून न्याय की अभिव्यक्ति है और यदि धर्म-निरपेक्ष शासक न्यायानुकूल नियमों का निर्माण करता है, जो जनता को उनका पालन करना चाहिए। यदि शासक न्याय के विरूद्ध नियमों का निर्माण करता है तो जनता को उसके आदेशों की अवज्ञा करनी चाहिए तथा उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि एक्वीनास मध्ययुगीन विचारकों में न्याय का समर्थन करने वाले विचारक है।

15.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. एक्वीनास के प्रमुख राजनीतिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
2. एक्वीनास के कानून संबंधी विचारों को स्पष्ट करते हुए उसके विचारों की समीक्षा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।
2. एक्वीनास ने राज्य-चर्च के बीच किस प्रकार के संबंध बताए है।
3. एक्वीनास किस शासन प्रणाली की सर्वश्रेष्ठ मानता है।
4. चर्च के संबंध में एक्वीनास के क्या विचार है ?

15.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बी. एल. पुरोहित, ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' (राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)
2. अर्नेस्ट बार्कर, ''यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त'' (हिन्दी, दिल्ली वि. वि. प्रकोष्ठ द्वारा अनुवाद)
3. प्रभुदत्त शर्मा, ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 16

मैकियावेली प्रथम आधुनिक विचारक

(1469-1527 ई.)

संरचना

16.1 उद्देश्य

16.2 प्रस्तावना

16.3 मैकियावेली का जीवन-परिचय

16.4 मैकियावेली की अध्ययन पद्धति

16.5 युग शिशु के रूप में (पुनर्जागरण का प्रतिनिधि)

- 16.5.1 पुनर्जागरण का शिशु
- 16.5.2 शक्तिशाली निरंकुश राजतंत्र की स्थापना
- 16.5.3 इटली का राजनीतिक विभाजन और उसकी दुर्दशा
- 16.5.4 इटालियन समाज की दुर्दशा
- 16.5.5 धर्म और नैतिकता
- 16.5.6 मानव स्वभाव संबंधी धारणा

16.6 मैकियावेली प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में

- 16.6.1 राष्ट्रीय राज्य का सन्देशवाहक
- 16.6.2 राज्य की आधुनिक स्थिति का निरूपण
- 16.6.3 राज्य की सम्प्रभुता का पोषक
- 16.6.4 राजनीति का धर्म व नैतिकता से पृथक्करण
- 16.6.5 शक्तिवादी राजनीति का प्रणेता
- 16.6.6 व्यक्तिवाद का समर्थक
- 16.6.7 भौतिकता और उपयोगिता का प्रवर्तक
- 16.6.8 संघ राज्य का प्रथम विचारक
- 16.6.9 आधुनिक अध्ययन प्रद्धति के प्रणेता

16.7 सारांश

16.8 अभ्यास प्रश्नावली

16.9 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

16.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य मैकियावेली के उन विचारों को जानना है, जिनकी बदौलत उनहें आधुनिक राजनीतिक विचारधारा का जनक कहा जाता है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे —

- मैकियावेली ने न केवल चर्च की सत्ता का विरोध किया अपितु राज्य के स्वतन्त्र औचित्य को स्वीकार किया,
- इसमें मैकियावेली द्वारा प्रयोग में लायोगई ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति की भी जानकारी उपलब्ध होगी,

- तत्कालीन इटली की राजनीतिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए विचारों का प्रतिपादन काय गया है। इसीलिए मैकियावेली की तुलना कौटिल्य के साथ की जाती है,
- राज्य की सम्प्रभुता को सर्वोच्च मानता है,
- राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक् किया उससे भी यह जानकारी मिलेगी कि ऐसा होने से ही राजनीति अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकती है,
- शक्ति के औचित्य को स्वीकार किया गया है,
- व्यक्तिवाद का समर्थन कर व्यक्ति की गरिमा को बनाए रखने तथा व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतंत्रता पर बल दिया,
- मैकियावेली ने सुखवाद पर बल दिया है इसलिए उसको उपयोगितावादी के रूप में जाना जाता है,
- इस प्रकार मैकियावेली के विचारों से राष्ट्रीय एकता, अखण्डता तथा सम्प्रभुता को बनाए रखने की प्रेरणा मिलती है, जो आधुनिक राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

16.2 प्रस्तावना

मैकियावेली को यदि आधुनिक राजनीतिक विचारधारा का जनक या पिता कहा जाए तो इसमें अतिशोक्ति नहीं होगी। क्योंकि मध्ययुग के सभी विचारक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से पोप से प्रभावित थे। इनमें से कोई भी ऐसा विचारक नहीं था जो स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रस्तुत करे। मध्ययुग में चर्च का बोलबाला था, चर्च के द्वारा ही सम्प्रभुता की शक्ति के प्रयोग का दावा किया जाता था। राज्य की स्थिति चर्च के सम्मुख बहुत ही गौण थी। अनेक राजनीतिक चिन्तकों जिसमें आगस्टाइन, सन्त टॉमस एक्विनास इत्यादि शामिल है उन्होंने चर्च का पूरा समर्थन किया। लेकिन मैकियावली ऐसा चिन्तक था जिसने चर्च के दावे का न केवल खण्डन किया अपितु पूरी शक्ति के साथ विरोध किया। यहीं से आधुनिक युग राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ होता है। इसलिए मैकियावेली प्रथम आधुनिक विचारक कहा जाता है।

1. सेबाइन के अनुसार ''मैकियावेली का शासक चालाकी और आत्म नियन्त्रण का पूर्ण प्रतीक है। वह गुणों और अवगुणों दोनों का समान रूप से लाभ उठाता है। इस प्रकार से वह सोलहवीं शताब्दी के इटली के अत्याचारी शासक का आदर्शीकृत चित्र है।''
2. **मैक्सी** ने मैकियावेली को सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिन्तक कहकर पुकारा है।
3. डर्निंग के अनुसार 'प्रिन्स' सबसे पहली महान रचना है जिसमें मध्ययुगीन चिन्तन प्रणाली का परित्याग किया गया है।
4. गेटेल के शब्दों में ''मैकियावेली आधुनिक राजदर्शन का जनक था।''
5. सेबाइन के मुताबिक ''सम्पूर्ण पुनरुत्थान मैकियावेली में आ गया है।''
6. जोन्स लिखते हैं कि मैकियावेली अपने समय का एक उत्कृष्टतम निचोड़ है।
7. गेटेल के शब्दों में ''वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी या जिससे बताया कि राज्य को स्वयं के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने संरक्षण तथा हित संवर्द्धन का उद्देश्य रखना चाहिए।''

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मैकियावेली आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का पिता या प्रणेता था, जिसने पहली बार निगनात्मक पद्धति का अन्त कर ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया। उसने अपने विचारों में इटली की तत्कालीन परिस्थितियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया क्योंकि उस समय इटली अशान्ति का क्षेत्र बना हुआ था। इटली के साम्राज्य के विभिन्न राज्यों में आपसी युद्ध होते रहते थे। उस समय उसने राष्ट्रीय एकता का सपना संजोया था। इस प्रकार मैकियावेली की तुलना भारतीय राजनीतिक चिन्तन कौटिल्य से की जा सकती है। जिस प्रकार कौटिल्य ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के मध्य विचार व्यक्त किये थे, प्रकार उसी के विचार मैकियावेली ने भी प्रस्तुत किये थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.3 मैकियावेली का जीवन परिचय

मैकियावेली का जन्म इटली के फ्लोरेन्स नगर में सन् 1469 में हुआ। उसने कोई उच्च शिक्षा तो ग्रहण नहीं की थी किन्तु वह इतना योग्य, चतुर व बुद्धिमान था कि फ्लोरेन्स के गणराज्य में उसे गृह एवं विदेश कार्यालय में क्लर्की प्राप्त हुई। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे फ्लोरेन्स का दूत बनाकर विशेष कार्य के लिए विदेशी राज्यों में भेजा गया। इसी दौरान उसकी मुलाकात अनेक शासकों व विचारकों से हुई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण **ड्यूक सीजर बोर्जिया** था उससे वह बहुत प्रभावित हुआ और उसे अपना आदर्श महापुरुष मान लिया और अपनी महान् रचना 'प्रिन्स' के नायक के रूप में चित्रित किया। 1512 ई. में फ्लोरेन्स के गणराज्य में राजनीतिक परिवर्तन के साथ मैकियावेली के भाग्य ने पलटा खाया। रेवेना की जंग में स्पेन के मुकाबले फ्रांस की पराजय हुई। फ्लोरेन्स में इसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। इसी बीच राजद्रोह के षड़यन्त्र के आधार पर उसे जैल में डाल दिया। मित्रों के प्रयत्नों से उसे जेल से छुटकारा मिल गया परन्तु यह शर्त लगा दी की वह सार्वजनकि जीवन में किसी भी प्रकार से भाग नहीं लेगा। इसके बाद 15 वर्ष तक उसने समाज सेवा व लेखन कार्यों में व्यतीत किये। 1527 में 58 वर्ष की आयु में मृत्यु हो गई।

16.4 मैकियावेली की अध्ययन पद्धति

मैकियावेली से पूर्व मध्ययुगीन विचारकों ने जो अध्ययन पद्धतियाँ अपनायी, वह धर्म से प्रभावित थी। इसी कारण वे धर्म व अन्धविश्वास से मुक्त नहीं हो पाये। इसको मैकियावेली ने स्वीकार नहीं किया। अर्थात् मध्ययुगीन निगमनात्मक पद्धति का अन्त कर दिया और इसके स्थान पर ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। मैकियावली को आधुनिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति अपनाने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि उसने कौटिल्य एवं अरस्तू की भांति तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए विचार प्रस्तुत किये थे लेकिन इन्हीं विचारों के समान आधुनिक अध्ययन पद्धति अपनाकर राजनीतिक चिन्तन में महान स्थान प्राप्त कर सका।

सेबाइन के अनुसार अरस्तू के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र में **अनुभूतिमूलक पद्धति अपनाने वाला वह प्रथम विचारक** था।

मैकियावेली एक राष्ट्र भक्त विचारक था। वह इटली की अशान्ति, निर्धनता व अस्थिरता का अन्त कर के शान्ति व एकता का सूत्रपात करना चाहता था। इसके लिए वह इतिहास, विशेष रूप से रोमन, इतिहास की ओर आकर्षित हुआ। मैकियावेली को विश्वास था कि भूतकाल के गम्भीर अनुशीलन से हम सफलता के कारणों का पता लगा सकते है और भविष्य का मार्ग निर्धारित कर सकते हैं।

16.5 युग शिशु के रूप में (पुनर्जागरण का प्रतिनिधि)

साधारणतया प्रत्येक दार्शनिक एवं विद्वान अपने युग का शिशु होता है। जिस प्रकार एक बच्चा जन्म जात न तो बोलता है और न ही चलता है। इस प्रकार की अनेक गतिविधियां समाज के ढांचे व सामाजिक परिस्थितियों से सिखता है। ठीक इसी प्रकार एक चिन्तक पर समकालीन परिस्थितियों, घटनाओं एवं प्रचलित विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता है। परन्तु फिर भी राजनीतिक विचारों के इतिहास में मैकियावेली को ही 'अपने युग का शिशु' की संज्ञा दी जाती है। इसका कारण यह है कि मैकियावेली पर अपने समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक विचारों की छाप सबसे अधिक सुस्पष्ट रूप से अंकित है, इसीलिए उसे यह श्रेय दिया गया।

मैकियावेली को पुनर्जागरण के युग का प्रतिनिधि कहा जाता है। उस पर जितना प्रभाव अपने युग का पड़ा उतना किसी पर भी नहीं पड़ा। उसने अपना समस्त लेखन कार्य समकालीन परिस्थितियों के आधार पर किया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदिवह भिन्न परिस्थितियों में रहता तो उसके विचार भी भिन्न होते और यह भी सच है कि यदि मैकियावेली इटली में 15वीं शताब्दी में पैदा न होता तो उसे राजदर्शन के इतिहास में वह स्थान प्राप्त न होता जो उसे आज प्राप्त है।

मैकियावेली की सभी प्रमुख रचनाएं– दी प्रिन्स, डिस्कोर्सेज ऑन लिवि आदि समकालीन स्थितियों के विश्लेषण से परिपूर्ण है।

प्रो. डर्गिन का तर्क है कि ''यह प्रतिभासम्पन्न फ्लोरेन्सवासी वास्तविक अर्थों में अपने युग का शिशु था।''

जोन्स का मत था कि ''मैकियावेली फ्लोरेन्स व पुनर्जागरण का शिशु था।''

मैकियावेली को निम्नलिखित तर्कों के आधार पर अपने युग का शिशु कहा जाता है।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Lucknow

16.5.1 पुनर्जागरण का शिशु

जोन्स, मैकियावेली को पुनर्जागरण का शिशु के रूप में स्वीकार करते हैं। इस समय मध्ययुग के आदर्शों का अन्त हो चुका था। जहां पहले अंधविश्वास, रूढिवादिता अपनी पराकाष्ठा पर थी, जो अब समाप्त हो गई थी। सामन्तवाद का अन्त होकर राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो रही थी। धर्म सत्ता का राजसत्ता से प्रभाव समाप्त हो गया था। इस प्रकार पुनर्जागरण आन्दोलन की मुख्य विशेषता यह थी कि वह मध्य युग के प्रभाव से मुक्ति के उद्देश्यों से प्रेरित था। मैकियावेली पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उससे प्रेरित होकर मध्य युगीन धार्मिक मान्यताओं से मुक्त होकर प्राचीन इतिहास को अपने अध्ययन का आधार माना और विचारों का प्रतिपादन किया, जो नई दिशा देने वाला थे।

जोन्स का कथन है कि ''उसकी कृतियों में उसके युग की वास्तविक स्थिति के दर्शन होते हैं। व्यक्ति का महत्त्व और उसका सौन्दर्य, बौद्धिक-तर्कवाद और सांसारिक मर्यादा का निरूपण, उद्‌गमनात्मक पद्धति का अनुशरण, राष्ट्रीयता की भावना का नेतृत्व तथा पारलौकिक के स्थान पर लौकिक उद्देश्यों की उपलब्धि का औचित्य आदि इतने सारे तथ्य हैं। जिनका वर्णन मैकियावेली ने अपने विचारों और कृतियों में किया है।'' यह सारे सिद्धान्त पुनर्जागरण की देन है।

16.5.2 शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना

मैकियावेली शक्तिशाली निरंकुश राजतंत्र का पक्षधर था उसकी पुस्तक 'प्रिन्स' में इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है। इस समय परिषदी आन्दोलन समाप्त हो चुका था। शक्तिशाली शासकों ने सामन्तों व उनकी प्रतिनिधि मूलक संस्थाओं का दमन कर निरंकुश राजतंत्र की स्थापना की। इस समय सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप की यह स्थिति हो गयी थी।

मैकियावेली इटली में एकता व शांति कायम करना चाहता था ताकि उसको गरीबी व अव्यवस्था के दौर से मुक्त कराया जा सके। इसके लिए वह शक्तिशाली निरंकुश राजा को उपयुक्त मानता था। उसकी आंकाक्षा थी कि इटली में भी ऐसे राजा का उदय हो जो सम्पूर्ण जनता को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बांध सके।

16.5.3 इटली का राजनीतिक विभाजन और उसकी दुर्दशा

मैकियावेली के समय पश्चिमी यूरोप में एकीकरण का दौर चल रहा था। इंग्लैण्ड, फ्रांस व स्पेन में एकीकरण की प्रक्रियापूर्ण हो चुकी थी। वही इटली पांच टुकड़ों में बंटी हुई थी। जिनके बीच पारस्परिक संघर्ष होते रहते थे। परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण इटली में अशांति व अराजकता का वातावरण था। मैकियावेली इस बात से बहुत चिन्तित थे। इसके अलावा पोप इन पारस्परिक संघर्षो में हस्तक्षेप कर लाभ उठाने का प्रयास करते थे। इसके अलावा अन्य पड़ौसी राज्य इटली पर अधिकार स्थापित करने की तैयारी में थे। मैकियावेली एक राष्ट्र भक्त होने के नाते सम्पूर्ण इटली को एक शक्तिशाली राजा के नेतृत्व में एकता के सूत्र में बांधना चाहता था ताकि यह दुरावस्था का दौर रोका जा सके। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने 'प्रिन्स' की रचना की।

16.5.4 इटालियन समाज की दुर्दशा

मैकियावेली के समय इटालियन की दशा बड़ी सोचनीय हो चुकी थी। तत्कालीन इटालियन समाज भ्रष्टाचार, दल बंदी, स्वार्थता, बईमानी का बोलबाला था तथा राष्ट्र भक्ति, नैतिकता व परिपूर्ण व्यक्तित्व का पूरी तरह पतन हो चुका था। स्वयं पोप तक का चरित्र अपवत्रिता की सीमा लांघते लग गया था। इस सामाजिक दुर्दशा का उसके मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। देश के एकीकरण के लिए वह शक्ति का पुजारी बना और उसने राष्ट्रीय सेना की स्थापना की आवश्यक बताया। उसने निरंकुश राजतंत्र की आवश्यकता अनुभव की। उसके अनुसार राजा का उद्देश्य देश को सबल बनाना और उसे संगठित करना है। वह अपने इस महान पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उचित व अनुचित सभी प्रकार के साधन अपना सकता है। मैकियावेली का मत है कि शासक जनता पर प्रेम की अपेक्षा शक्ति से शासन करें। इस बात में कोई संकोच नहीं है कि इटली की इसी सामाजिक दुर्दशा के कारण उसने उसके एकीकरण की बात कही। इसको पूरा करने के लिए बुद्धि और बल के उचित समन्वय पर जोर दिया।

16.5.5 धर्म और नैतिकता

14वीं सदी में पोप के विश्व साम्राज्य का स्वप्न नष्ट हो चुका था। उसके विलासितापूर्ण जीवन एवं कुकर्मों ने लोगों के हृदय में

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lalitpur

धर्म के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा समाप्त कर दी। पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ का उदाहरण देते हुए, मैकियावेली ने लिखा है कि उसने जीवन भर धोखा देने के अतिरिक्त ओर कोई कार्य नहीं किया। राजाओं ने नैतिक आदर्शों को तिलांजलि दे दी थी और साधारण नागरिक भी नैतिकता के नियमों के अनुसार आचरण नहीं करते थे।

मैकियावेली पर अपने युग की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही उसने शासक को सलाह दी कि राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आचार तथा धर्म के सिद्धान्तों की चिन्ता नहीं की जानी चाहिए और लोक कल्याण के लिए इन सिद्धान्तों की अवहेलना करने को भी तत्पर रहना चाहिए। धर्म व नैतिकता विरोधी मैकियावेली की यह विचारधारा अपने युग के नितान्त अनुरूप थी क्योंकि यूरोप के राष्ट्रीय राज्य धर्म और नैतिकता को तिलांजली अपने स्वार्थों को सिद्ध कर रहे हैं।

16.5.6 मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा

मैकियावेली ने अपने समय में विशेषत: इटली में शासक, धर्माधिकारी, सरकारी कर्मचारी और साधारण नागरिक सभी को भ्रष्ट आचरण में लिप्त देखा था। शासक व पोप के संघर्षों, पोप के षड़यन्त्रों और साधारण नागरिकों के पतित तथा स्वार्थी आचरण ने उसके मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों को प्रभावित किया और उसने यह विचार व्यक्त किया कि न तो मानव में ईश्वरीय गुण है और न वह नैतिक प्राणी है। वह एक जानवर है, जिनकी प्रवृत्ति उसमें दिखलायी पड़ती है।

16.6 मैकियावेली प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में

राजनीतिक दर्शन में मैकियावेली को युग का शिशु कहने के साथ-साथ आधुनिक युग का प्रणेता भी कहा जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि मैकियावेली पुनर्जागरण के शिशु है और पुनर्जागरण आधुनिकता का प्रारम्भ है। मैकियावेली को आधुनिक युग का जनक कहने का तात्पर्य यही है कि आधुनिक युग का प्रारम्भ उसी से होता है। इस युग के प्रारम्भ के साथ ही उसका अन्त हो जाता है। मध्ययुगकालीन राजनीति की विशेषताएं थी- सामन्तवाद, पोपतन्त्र और पवित्र रोमन साम्राज्य का वर्चस्व।

मैकियावेली ने धार्मिक आधार पर राजनीतिक साम्राज्य का विरोधी था और दांते की भांति विश्व साम्राज्य की कल्पना नहीं की। वह तो राष्ट्रीय राज्य को मानव मस्तिक की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मानता था। इसलिए वह इटली को एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में विकसित होते हुए देखना चाहता था। मध्य युग के दैवीय कानून में उसकी कोई आस्था नहीं थी तथा विधि-निर्माता या शासक द्वारा निर्मित कानून की सर्वश्रेष्ठ मानता था। इस प्रार मैकियावेली के विचार मध्य युग से भिन्न थे। हम निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर मैकियावेली को प्रथम आधुनिक विचारक के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं —

16.6.1 राष्ट्रीय राज्य का सन्देशवाहक

आधुनिक युग के प्रारम्भ में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुआ। पवित्र रोमन साम्राज्य तथा पोप तन्त्र दोनों के सम्मान एवं शक्तियों में कमी आई। यूरोप में शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ। इन राजाओं ने निरंकुश सत्ता एवं सर्वोच्च शक्ति को अपने हाथ में ले लिया तथा धर्म की सत्ता को समाप्त कर दिया गया। आधुनिक युग के प्रत्येक विचारक ने इस राष्ट्रीय राज्य की कल्पना का प्रतिपादन किया। मैकियावेली उनमें प्रथम था। डॉयल के शब्दों में ''मैकियावेली प्रथम विचारक था जिसने राष्ट्रीय राज्य के लक्ष्णों की विवेचना की और विश्लेषण किया और इस राजनीतिक सावयव की धारणा को जन्म देने की चेष्टा की।'' उसकी श्रेष्ठ कृति 'द प्रिंस' इस बात का प्रमाण है। वह अपने समय के राष्ट्रीय राज्य- जर्मनी, स्पेन, फ्रांस और इंग्लैण्ड को बड़े सम्मान से देखता था। उसके विचारों का उद्देश्य इटली का राजनीतिक एकीकरण करना था।

16.6.2 राज्य की आधुनिक स्थिति का निरूपण

आधुनिक युग का एक प्रमुख लक्ष्ण राज्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति है और अरस्तू के बाद मैकियावेली सबसे पहले विचारक है, जिन्होंने राज्य की महत्त्वपूर्ण स्थिति का निरूपण किया। मैकियावेली ने राज्य की महत्ता को सिद्ध करते हुए उसे साध्य बना दिया। मैकियावेली ने ही सबसे पहले यह बताया कि राज्य एक ऐसी सर्वोपरि सत्ता है जिसकी अधीनता से अन्य सारी संस्थाएं और संगठन फल-फूल सकते हैं। समाज की अन्य सभी संस्था और समुदाय राज्य के नियंत्रण में सुरक्षित रहकर कार्य कर सकते हैं। वर्तमान समय में भी ऐसी स्थिति है। सेबाइन के शब्दों में ''राजनीतिक विकास की दिशा में होने वाले परिवर्तन को पहले से भाँप लिया जाता है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.6.3 राज्य की सम्प्रभुता का पोषक

सम्प्रभुता की अवधारणा आधुनिक युग की प्रतीक धारणा है। यद्यपि मैकियावेली ने सम्प्रभुत्ता के बारे में अपने स्पष्ट विचार प्रस्तुत नहीं किये है, परन्तु राज्य को उन्होंने सर्वोपरि संस्था माना है। सेबाइन के मतानुसार ''सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में 'राज्य' शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषाओं में उसी की रचनाओं से प्रारम्भ हुआ। मैकियावेली केसमय राज्य को सम्प्रभु कहा जाने लगा और बाद में सम्प्रभुता का सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया गया।'' इस तरह भले ही मैकियावेली ने सम्प्रभुता शब्द की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की हो, लेकिन फिर भी उसके विचारों के सार से राज्य के संबंध में उनके दृष्टिकोण से राज्य सर्वोपरि है उससे ऐसा आभास होता है कि मैकियावेली सम्प्रभुता के हित पोषक को राज्य के लिए अनिवार्य मानते थे।

16.6.4 राजनीति का धर्म व नैतिकता से पृथक्त्व

मैकियावेली आधुनिक युग का प्रथम विचारक था जिसने धर्म व नैतिकता को राजनीति से पृथक करने की आवश्यकता पर बल दिया था। मध्ययुग की राजनीति पर धर्म और नैतिकता बहुत हावी रही। धर्म और नैतिकता की आड़ में राजनीतिक संस्थाओं का विकास अवरूद्ध किया गया। मध्ययुग के अन्त में इस बात का अनुभव किया जाने लगा कि राजनीतिक धर्म व नैतिकता के प्रभाव से मुक्त रखा जाए। इसके लिए प्रथम साहसिक कदम मैकियावेली ने ही उठाया। कोकर के शब्दों में ''मैकियावेली को प्रथम आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तवेत्ता कहने का सर्वप्रथम कारण धर्म और नैतिकता के प्रति उसकी उदासीनता और उसके द्वारा केवल लौकिक अनुभव और मानवीय विवेक को की गयी अपील है।''

16.6.5 शक्तिवादी राजनीति का प्रणेता

शक्ति, राजनीति विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। शक्तिवादी राजनति को मैकियावेली ने प्रारम्भ किया। उसने एक केन्द्रीय सत्ता की स्थापना पर जोर दिया है और शक्ति की सर्वोच्चता की पूजा की है। उसके अनुसार शक्ति का औचित्य स्वयं शक्ति ही है। मैक्सी के अनुसार इस संबंध में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने वाला वह प्रथम विचारक था।

16.6.6 व्यक्तिवाद का समर्थक

आधुनिक युग की एक बिशेष प्रबृत्ति व्यक्तिबादी विचारधारा है। इस बिचारधारा के अनुसार राज्य को व्यक्ति के आर्थिक अवस्था में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। मैकियावेली ने इस विचारधारा के अनुसार शासक को यह परामर्श दिया कि प्रजाजन के धन का किसी भी दशा में अपहरण नहीं किया जाना चाहिए तथा व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के लिए सभी आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए। उसने इस प्रवृत्ति के अनुरूप ही शासक को यह परामर्श दिया कि उसे स्वयं व्यापार वाणिज्य के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। मैकियावेली इस दृष्टि से भी व्यक्तिवाद का सन्देशवाहक है कि उसने मानवीय व्यक्तित्व को रोमन चर्च के प्रभाव से मुक्त कर उसे पुनर्प्रतिष्ठत करने का प्रयास किया।

16.6.7 भौतिकता और उपयोगिता का प्रवर्तक

आधुनिक युग में भौतिकवाद और उपयोगितावाद का भी एक विशिष्ट स्थान है और मैकियावेली इस संबंध में भी अग्रणी चिन्तक के रुप में उभरा। उसने इस बात का प्रतिपादन किया कि मानव को एक इकलौकिक सुख की ही कामना करनी चाहिए और उसके लिए सारे प्रयत्न किये जाने चाहिए। राज्य और प्रभुता, कला और सौन्दर्य, नारी और मदिरा–ये भोग के येाग वस्तुऐं है। मैकियावेली का यह सुखवादी सन्देश आधुनिक मानव के लिए अत्यधिक प्रीतिकर है और इस आधार पर उसे उपयोगितावाद का प्रवर्तक कहा जा सकता है।

16.6.8 संघ राज्य का प्रथम विचारक

मैकियावेली ने इटली के लिए एक 'कामन वैल्थ' के निर्माण का विचार भी रखा है। उसका कहना था कि एक बार शासक इकाई राज्यों को विभाजित कर उन्हें अपनी अधीनता में कर लेगा, फिर एक ऐसा संघ राज्य बनायेगा, जिसमें शासन की शक्ति कुछ सीमा तक इकाईयों में विभाजित होगी। आधुनिक युग में विशाल राज्यों के लिए संघीय व्यवस्था ही अधिक व्यावहारिक है और मैकियावेली ने चाहे संघ राज्य के सारे तत्त्व पर विचार न किया हो, लेकिन उसने इस कल्पना को अवश्य ही लिया था।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

16.6.9 आधुनिक अध्ययन प्रद्धति के अनुयायी

इन सबके अलावा मैकियावेली पद्धति की दृष्टि से भी आधुनिक युग के जनक हैं। उनके चिन्तन में आधुनिक अध्ययन पद्धति के प्रमुख लक्षण देख सकते हैं। पर्यवेक्षण, यथार्थवादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिक तटस्थता, विश्लेषण और ऐतिहासिक आधार। मैकियावेली ने अपनी अध्ययन पद्धति में मध्य युग के अति धार्मिकतावादी दृष्टिकोण का बहिष्कार किया और बहुत सीमा तक आधुनिक अध्ययन पद्धतियों को अपनाया। उसने अपनी तत्त्कालीन परिस्थितियों को आधार मानते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया।

16.7 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मैकियावेली आधुनिक राजनीति शास्त्र के जनक थे। उन्हें आधुनिक राजनीतिक तथा यथार्थवादी चिन्तक के रुप में भी प्रतिपक्ष प्राप्त है।

16.8 प्रश्नवाली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'मैकियावेली पुनर्जागरण के प्रतिनिधि' है, सिद्ध कीजिए।
2. मैकियावेली को प्रथम आधुनिक विचारक क्यों कहा जाता है।?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मैकियावेली की अध्ययन-पद्धति को स्पष्ट कीजिए।
2. ''मैकियावेली का उद्देश्य इटली का एकीकरण था'' सिद्ध कीजिए।
3. मैकियावेली को राष्ट्रीय राज्य का सन्देश वाहक क्यों कहा जाता है।
4. मानव स्वभाव के संबंध में मैकियावेली की क्या धारणा है?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मैकियावेली की प्रमुख रचना कौन सी है?
2. ''मैकियावेली आधुनिक राजदर्शन का जनक था'' ये कथन किसने दिया।
3. मैकियावेली का जन्म कब और कहां हुआ।
4. मैकियावेली द्वारा प्रस्तुत विचारों का मूल उद्देश्य क्या था?
5. मैकियावेली को युग शिशु कौन कहता है।
6. प्रिन्स का महानायक मैकियावेली ने किसे बनाया?

16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अनेस्ट बार्कर ''यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त (हिन्दी दिल्ली वि.वि. प्रकोष्ठ द्वारा अनुवाद)''
2. प्रभुदत्त शर्मा ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कोलेज बुक डिपो जयपुर
3. बी.आर.पुरोहित, ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपूर'
4. डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह ''प्रतिनिधि राजनीति त्रिचारक'' ज्ञानदा प्रकाशन, नई दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई -17

थॉमस हॉब्स

संरचना

17.1 उद्देश्य

17.2 प्रस्तावना

17.3 जीवन परिचय

17.4 हॉब्स की रचनाएँ

17.5 सम्प्रभुता का सिद्धान्त

- ➢ भूमिका

17.5.1 सम्प्रभुता की परिभाषाएं

17.5.2 सम्प्रभुता की विशेषताएं

17.5.2.1 सम्प्रभुता निरंकुश

17.5.2.2 सम्प्रभुता अविभाज्य

17.5.2.3 सम्प्रभुता अदेय

17.5.2.4 सम्प्रभुता असीमित

17.5.2.5 सम्प्रभुता अपरिवर्तनशील

17.5.2.6 सम्प्रभुता अदण्डनीय

17.5.2.7 सम्प्रभुता अनुत्तरदायी

17.5.2.8 सम्प्रभु कानून का स्रोत

17.5.2.9 सम्प्रभु न्यायी और हानि रहित होता है

17.5.2.10 बहुमत, सम्प्रभुता का निर्माण करता है

17.5.2.11 सम्प्रभु पूर्व समझौते से मुक्त

17.5.3 सम्प्रभु की शक्तियाँ व कार्य

17.6 सामाजिक समझौता सिद्धान्त

- ➢ भूमिका

17.6.1 मानव स्वभाव

17.6.2 प्राकृतिक अवस्था

17.6.3 सामाजिक समझौता

17.6.4 राज्य तथा सम्प्रभुता

17.6.5 व्यक्ति और राज्य

17.7 नागरिक कानून

17.7.1 नागरिक कानून की परिभाषा

17.7.2 नागरिक कानून के प्रकार

17.7.2.1 निषेधात्मक कानून

17.7.2.2 आज्ञात्मक या दण्डात्मक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

17.7.3 नागरिक कानून की विशेषताएँ
17.7.3.1 सम्प्रभु कानून का निर्माता
17.7.3.2 कानून सम्प्रभु का आदेश
17.7.3.3 कानून की शक्ति सम्प्रभु से प्राप्त
17.7.3.4 सम्प्रभु कानून से ऊपर
17.7.3.5 प्राकृतिक नियम समझौते को प्राय: नागरिक कानून बनाता है
17.7.3.6 रीति-रिवाज कानून का अंग
17.7.3.7 शासन परिवर्तन में साथ कानून में बदलाव
17.7.4 नागरिक कानून और प्राकृतिक कानून में संबंध
17.7.4.1 असमानताएँ
17.7.4.2 समानताएँ
17.8 वैयक्तिक स्वतन्त्रता
17.8.1 स्वतन्त्रता का अर्थ
17.8.2 स्वतन्त्रता के प्रकार
17.8.2.1 प्राकृतिक स्वतन्त्रता
17.8.2.2 नागरिक स्वतन्त्रता
17.8.3 नागरिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र
17.8.3.1 आर्थिक क्षेत्र
17.8.3.2 आत्मरक्षा हेतु
17.8.3.3 शिक्षा
17.8.4 सम्प्रभु के विरूद्ध स्वतन्त्रता
17.8.4.1 प्राण रक्षा हेतु
17.8.4.2 अपराध स्वीकार करने के विरूद्ध
17.8.4.3 हत्या करने की आज्ञा का विरोध
17.8.5 सम्प्रभु के विरूद्ध अभियोग लगाने की स्वतन्त्रता
17.8.5.1 सम्पत्ति के स्वामित्व हेतु
17.8.5.2 आर्थिक या शारीरिक दण्ड हेतु
17.9 हॉब्स के दर्शन में व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी और निरंकुशतावादी तत्त्व
17.10 सारांश
17.11 अभ्यास प्रश्नावली
17.12 सन्दर्भ सूची

17.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य थॉमस हॉब्स के मुख्य विचारों को जानना है, जिनके माध्यम से उन्हें राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, निरंकुशतावाद, सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। इस अध्याय से आप जान सकेंगे—

- हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता का सिद्धान्त का सिद्धान्त जो राज्य की सर्वोच्च सत्ता को असीमित, निरंकुश, अविभाज्य, अदेय इत्यादि मानता है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- सम्प्रभु के कार्यों का जो प्रतिपादन किया गया है, उनसे यह सिद्ध होता है कि सम्प्रभु राज्य तथा नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए सदैव तत्पर रहेगा,
- हॉब्स राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जिसमें यह सिद्ध किया गया है। राज्य एक मानव निर्मित संस्था है, जिसका निर्माण मानव ने अपनी असुविधाओं को ध्यान में रखकर किया है।
- हॉब्स ने व्यक्ति तथा राज्य दोनों में सन्तुलन बनाने का कार्य किया है। जहाँ एक ओर वह व्यक्ति के अधिकारों की पर्याप्त सम्मान देता है, वहीं कानून को प्रभुसत्ता का आदेश मानता है।
- कानून सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति होता है, जो स्वयं उनसे बंधा नहीं है,
- आत्म-रक्षा हेतु सम्प्रभु के कानून का विरोध करने का अधिकार देकर एक क्रान्तिकारी कदम उठाया है, जिससे सम्प्रभु को दायित्वबोध हो सकेगा,
- इस प्रकार हॉब्स के विचारों से यह जान सकेंगे कि तत्कालीन इंग्लैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हॉब्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि राज्य विहीन अवस्था सम्भवतया ऐसी ही होगी, साथ ही साथ वह अव्यवस्था व अराजकता की स्थिति से ऊपर उठने के लिए शक्तिशाली सम्प्रभु की बात करता है।

17.2 प्रस्तावना

हॉब्स इग्लैण्ड का महान राजनीतिक विचारक है और 'लेवियाथन' उसकी विश्व प्रसिद्ध कृति है। उसका संबंध इंग्लैण्ड के केवेण्डिश और यार्ल्स के राज परिवार से था। उसने देश के दो गृह युद्धों से निष्कर्ष निकाला की इंग्लैण्ड की सुरक्षा राजतन्त्र से ही सम्भव है। अत: हॉब्स आनुवंशिक राजतंत्र का प्रणेता है। देवी सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उसने यह सिद्धान्त दिया कि राज्य एक मानवकृत संस्था है। उसने प्राकृतिक कानूनो, प्राकृतिक अधिकारों, नागरिक कानूनों और भौतिक विज्ञानवाद पर विचार व्यक्त किये हैं। उसने चर्च को राज्य के अधीन बताकर, मार्सिलियों के आन्दोलन का समर्थक सिद्धकर दिया। हॉब्स को व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद और निरंकुशवाद का मुख्य प्रणेता माना जाता है।

आत्म रक्षा हेतु हॉब्स व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है। उसके समय इंग्लैण्ड नाजुक दौर से गुजर रहा था तथा वहाँ गृह युद्ध, हिंसा, अशांति का वातावरण बना हुआ था। उसका प्रभाव उसके राजनीतिक एवं अन्य विचारों पर देखा जा सकता है। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि राज्य विहिन अवस्था अर्थात् प्राकृतिक अवस्था, अव्यवस्था एवं अराजकता की थी। अत: उससे मुक्ति पाने के लिए मानव द्वारा किये गये समझौते से राज्य का निर्माण करता है।

यद्यपि राज्य की उत्पत्ति में देवी व शक्ति सिद्धान्तों को चुनौती देने वाले सामाजिक समझौते में सिद्धान्त का रिचर्ड हुकर ने 16वीं शताब्दी में अन्त में, 1610 ई. में अल्यूसियस और 1625 ई. को ह्यगो ग्रोशियस ने इसका समर्थन किया लेकिन इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय हॉब्स, लॉक व रूसों को जाता है। इसमें हॉब्स का नाम अग्रणी है।

17.3 हॉब्स का जीवन परिचय

हॉब्स का जन्म 5 अप्रेल, 1588 को इंग्लैण्ड के मालसबरी नामक नगर में हुआ था। इस समय इंग्लैण्ड में स्पेनी आर्मडा से युद्ध का भय सर्वत्र व्याप्त था। इसने उनके जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। 15 वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा के लिए ऑक्सफोर्ड में प्रवेश किया। वह तत्कालीन शिक्षा एवं शिक्षा पद्धति से सन्तुष्ट वहीं था। अपनी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथन' में इसकी आलोचना की है। 1608 ई. में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् विलियम केनेडिश के उत्तराधिकारी तथा डोवेनशायर के अर्ल के संरक्षक एवं शिक्षक के रूप में नियुक्ति हुई। 1632 ई. में उसने इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध देखा जो राजा व पार्लिपामेन्ट के बीच चल रहा था। इसमें हॉब्स ने निरंकुश राजतंत्र का समर्थन किया। 1642 ई. को उसने अपने ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ किया और 1679 ई. को उसकी जीवन लीला समाप्त हो गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.4 हॉब्स की रचनाएँ

हॉब्स की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित है– 1. डी सिले, 2. कानून के तत्त्व, 3. लेवियाथन, 4. डीकारपोट, 5. डी होमाकून, 6. गृह युद्ध पर एक वार्ता।

17.5 सम्प्रभुता का सिद्धान्त

➢ भूमिका

आधुनिक युग में सम्प्रभुता के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है। सम्प्रभुता के लिए बोदां का यह दावा करना उचित नहीं कि उससे पूर्व किसी भी दार्शनिक द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं हुआ।

प्राचीन काल के यूनानी दार्शनिकों तथा मध्यकाल के रोमन न्यायविदों ने तथा चर्च, राज्य एवं सामन्तों के संघर्ष में भी अनेक लेखकों ने इस सिद्धान्त का बराबर प्रतिपादन किया है।

राजतन्त्र के शासन में शासक की सर्वोच्चता की बात वास्तव में अरस्तू की सम्प्रभुता की झलक दिखाती है। वह कुलीन तन्त्र में कुछ सामन्तों में, प्रजातन्त्र में समस्त जनता में राजसत्ता का वास बताता है।

मध्यकाल में इस राजसत्ता के प्रचार के लिए स्थिति अनुकूल न थी, क्योंकि राज्य में सर्वोच्चता राजा में होनी चाहिए या पोप में, इस विषय पर मतभेद था। 16वीं शताब्दी में बोदां एवं हॉब्स ने इसका पुन: नये ढंग से प्रतिपादन करना प्रारम्भ किया।

बोदां ने 'दि रिपब्लिक' में राज्य को परिवार का एक विकसित रूप बताया है। जिस प्रकार परिवार में मुखिया का आदेश सभी परिवार के सभी सदस्यों को मानना आवश्यक होता है, उसी प्रकार राज्य का मुखिया राजा होता है जिसकी आज्ञा का पालन करना नागरिकों का कर्त्तव्य होता है।

बोदां प्रभुता की परिभाषा देते हुए कहता है, ''नागरिकों एवं प्रजाजनों पर सर्वोच्च सत्ता है जो कानूनों से नियन्त्रित नहीं होती।''

बोदां सभ्यता की परिभाषा भी इस प्रकार करता है– ''सभ्यता का मुख्य लक्षण समस्त नागरिकों को सामूहिक एवं व्यक्तिक कानून प्रदान करने की क्षमता है।''

हॉब्स का सार्वभौमिकता का सिद्धान्त बोदां के सिद्धान्तों पर ही आधारित है, परन्तु हॉब्स ने उसमें कुछ नवीनता जोड़ दी है। हॉब्स का मत है कि सार्वभोमिक शक्ति सर्वोपरि होती है तथा कानून का स्वोत भी यही सर्वोपरि शक्ति है। कानूनों से सर्वोपरि शक्ति ऊपर होती है।

बोदां सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को राजदर्शन का प्रमुख अंग समझता है। राज्य तथा अन्य समुदायों में केवल सार्वभौमिक शक्ति ही अन्तर करती है।

बोदां का कथन है कि नागरिक वही है जो सार्वभौमिकता की अधीनता स्वीकार करता है। नागरिकता पाने के लिए राजनीतिक सम्बन्ध ही आवश्यक होते हैं, धार्मिक अथवा नैतिक नहीं।

बोदां का कहना है कि प्रत्येक समुदाय की प्रथायें अलग-अलग होती है, परन्तु राष्ट्र में समस्त मानव-प्रथायें तथा सामाजिक नियम समान होने आवश्यक है।

एक राजनीतिक समाज के लिए एक ही सामान्य सम्प्रभु का होना आवश्यक है।

हॉब्स राजतन्त्र का समर्थक था। उसके समय में इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध चल रहा था। वह राजतन्त्र का समर्थन करना चाहता था, अत: उसने बोदां के सार्वभौमिक सिद्धान्त की नई व्याख्या की। हॉब्स मैकियावेली के समान मानव को स्वार्थी, झगड़ालू तथा डरपोक समझता था। प्राकृतिक जीवन संघर्षमय था। अत: मानव शान्ति पाने के लिए अपने प्राकृतिक अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को देना चाहता था जो झगड़ों का अन्त कर दे। हॉब्स के मतानुसार समझौते या संविदा के सिद्धान्त के पीछे यही भावना काम कर रही थी।

मानव ने अन्य मानवों से मिलकर एक समझौता इस आधार पर किया कि मैं अपने अधिकार अमुक व्यक्ति को सौंपता हूं कि तुम भी ऐसा ही करो। मानवों ने प्राकृतिक अवस्था का कलहमय जीवन समाप्त करने के लिए समझौते के सिद्धानत को स्वीकार किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस समझौते की शर्तों को भंग करने का अर्थ या पुन: प्राकृतिक अवस्था को लौटना था। समस्त शक्तियां इसलिए एक व्यक्ति को सौंप दी गयी, ताकि समाज में शान्ति स्थापित हो।

हॉब्स समुदाय को अप्राकृतिक मानता था। वह समुदाय का संगठन एक व्यक्ति की इच्छा समझता था। एक व्यक्ति की इच्छा ही सब व्यक्तियों की इच्छा बन जाती है। समाज के लिए भी एक सम्प्रभु की आवश्यकता रहती है जो समाज में विभिन्न वर्गों को नियन्त्रित रखता है।

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में हॉब्स की सबसे बड़ी देन उसका सम्प्रभुता सिद्धान्त है। सम्प्रभुता, राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते का प्रतिफल है। प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यों में आपसी समझौते के परिणाम स्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई, लेकिन इस समझौते को सुरक्षित रखने के लिए एक सर्वोच्च शक्ति को आवश्यकता हुई। अत: इससे सम्प्रभुता का निर्माण हुआ। जो समझौते की पवित्रता को सुरक्षित रखकर शांति की स्थापना करें तथा समझौते का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करे।

17.5.1 सम्प्रभुता की परिभाषाएँ

हॉब्स सम्प्रभुता को उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित मानता है, जिसे लोग समझौते के अनुसार सब अधिकारों को हस्तांतरित कर देते है। हॉब्स के शब्दों में, ''सम्प्रभुता वह शक्ति है, जिसको एक विशाल जन समूह ने एक-दूसरे से पारस्परिक समझौता करके इस उद्देश्य से अपने कार्यों का कर्त्ता बता लिया है कि वह उनकी शांति और सुरक्षा के लिए उन सबकी शक्तियों और साधनों की आवश्यकता अनुसार प्रयोग कर सकता है।''

17.5.2 सम्प्रभुता की विशेषताएँ

हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ है-

17.5.2.1 सम्प्रभुता निरंकुश : हॉब्स जिस सम्प्रभुता का उल्लेख करता है वह अपने-आप में निरंकुश है क्योंकि उसके पास सारी शक्तियाँ है। वह कानूनों का निर्माता और प्राकृतिक अधिकारों का प्रदाता है। वह प्रशासन का प्रमुख व न्याय का स्रोत है। वेपर ने लेवियाथन की धमण्डी राजा रहा है।

17.5.2.2 सम्प्रभुता अविभाज्य : हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता की शक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता। विभाजन का अर्थ है सम्प्रभुता एवं राज्य के अस्तित्व की समाप्त का देना। अत: हॉब्स का मत है कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका की शक्तियों एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होनी चाहिए।

17.5.2.3 सम्प्रभुता अदेय : राज्य में जिस व्यक्ति के पास सम्प्रभुता है उससे ले कर यह किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जा सकती, क्योंकि लोगों ने राज्य के निर्माण के समय ही इस बात का समझौता किया है कि सम्प्रभु के कार्यों को वे स्वयं अपने द्वारा किए गए मानेंगे और वह जो निर्णय करेगा उसे अपने द्वारा किया गया निर्णय मानेंगे।

17.5.2.4 सम्प्रभुता असीमित : हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वह नागरिक और संवैधानिक कानूनों का स्रोत है तथा प्राकृतिक नियमों का व्याख्याता है। वह कानून की सीमा से ऊपर है। उसे कानून के द्वारा बांधा नहीं जाएगा।

17.5.2.5 सम्प्रभुता अपरिवर्तनशील : सम्प्रभुता अपरिवर्तनशील इस अर्थ में है कि एक बार जिन लोगों ने समझौते द्वारा किसी व्यक्ति को अपना सम्प्रभु बना लिया है, बिना उसकी पूर्व स्वीकृति के उसकी सम्प्रभुता को अस्वीकार नहीं कर सकते।

17.5.2.6 सम्प्रभु अदण्डनीय : हॉब्स के अनुसार सम्प्रभु को किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता क्योंकि सम्प्रभु कोई अपराध नहीं करता है। वह तो दूसरों को दण्डित कर सकता है।

17.5.2.7 सम्प्रभु अनुत्तरदायी : हॉब्स के अनुसार सम्प्रभु स्वयं समझौते का कोई पक्ष नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रभु की शक्ति देने के लिए प्रत्येक दूसरों व्यक्ति से समझौता करता है, सम्प्रभु से नहीं अत: सम्प्रभु अपने कार्य के लिए किसी दूसरों में प्रति उत्तरदायी नहीं है। उसके द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य उचित एवं हितकारी होता है।

17.5.2.8 सम्प्रभु कानून का स्रोत : हॉब्स के अनुसार कानून के निर्माण का मुख्य स्रोत सम्प्रभु ही होता है। अत: उसके द्वारा दिया गया प्रत्येक आदेश कानून ही होता है। सम्प्रभु राज्य के हितों की ध्यान में रखकर कानूनों का निर्माण करता है। इसलिए वह जैसा भी कानून बनाता है उसे लोगों को स्वीकार किया जाना चाहिए।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

17.5.2.9 सम्प्रभु न्यायी और हानि रहित होता है : सम्प्रभु राज्य में न्यायी होता है। वह किसी भी व्यक्ति को हानि नहीं पहुँचा सकता है।

17.5.2.10 बहुमत सम्प्रभुता का निर्माण करता है : हॉब्स का मत है कि सामाजिक समझौते के आधार पर राज्य का निर्माण किया गया और बहुमत ने सम्प्रभुता का निर्माण किया। अल्पमत इसका विरोध करने योग्य नहीं है। बहुमत का निर्णय अन्तिम होता है।

17.5.2.11 सम्प्रभु पूर्व समझौते से मुक्त : हॉब्स का सम्प्रभु पूर्व के सभी समझौतों से मुक्त रहता है। उसके रहते राज्य में कोई दूसरा सम्प्रभु नहीं हो सकता है।

17.5.3 सम्प्रभु की शक्तियाँ व कार्य

हॉब्स के मतानुसार सम्प्रभु की शक्तियाँ व कार्य निम्नलिखित है-

1. प्रशासन को सुचारू चलाने के लिए महत्त्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति किया।
2. सम्प्रभुता की शक्ति का प्रयोग करता है।
3. राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखना
4. सम्प्रभु राज्य की सम्पत्ति का भोक्ता होने के कारण कर लगाता है।
5. सम्प्रभु राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर युद्ध व सन्धि करता है।
6. यदि कोई व्यक्ति अव्यवस्था उत्पन्न करता है तो उन्हें दण्ड देता है।
7. राज्य के नागरिकों के बीच उत्पन्न झगड़ों या विवादों का निपटारा व न्याय देगा।
8. सम्प्रभु सभी कानूनों का स्रोत होने के कारण कानूनों की व्याख्या भी करता है।
9. सम्प्रभु इस बात पर भी ध्यान देता है कि संपत्ति का असमान वितरण न ही, जिससे आर्थिक असमानता का बढ़ाता मिले।
10. सम्प्रभु राज्य में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अर्जित करने वालों को सम्मान व पुरस्कार प्रदान करता है।

17.6 सामाजिक समझौता सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में सामाजिक समझौता (संविदा) सिद्धान्त का प्रमुख स्थान है। यह सिद्धान्त दैवीय शक्ति सिद्धान्त की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया। इसके अनुसार राज्य का निर्माण मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया है। सभ्य जीवन के लिए राज्य अनिवार्य है। इसका औचित्य यह है कि यदि राज्य नहीं होगा तो शांति, सुरक्षा तथा व्यवस्था नहीं होगी और यदि शांति, सुरक्षा तथा व्यवस्था नहीं होगी तो सभ्य जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं है इसीलिए राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की इच्छा के अनुसार हुई है अर्थात् राज्य ईश्वरीय या दैवी सत्ता नहीं है। इस प्रकार का तर्क देकर इस सिद्धान्त ने उस समय प्रचलित रूढिवादी धारणाओं पर कडा प्रहार किया, जिनके द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तिलांजली दे दी गई थी। यह सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि राज्य एक मानव निर्मित संस्था है अर्थात् राज्य व्यक्ति के लिए बना है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। इस प्रकार इसे उदारवादी सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।

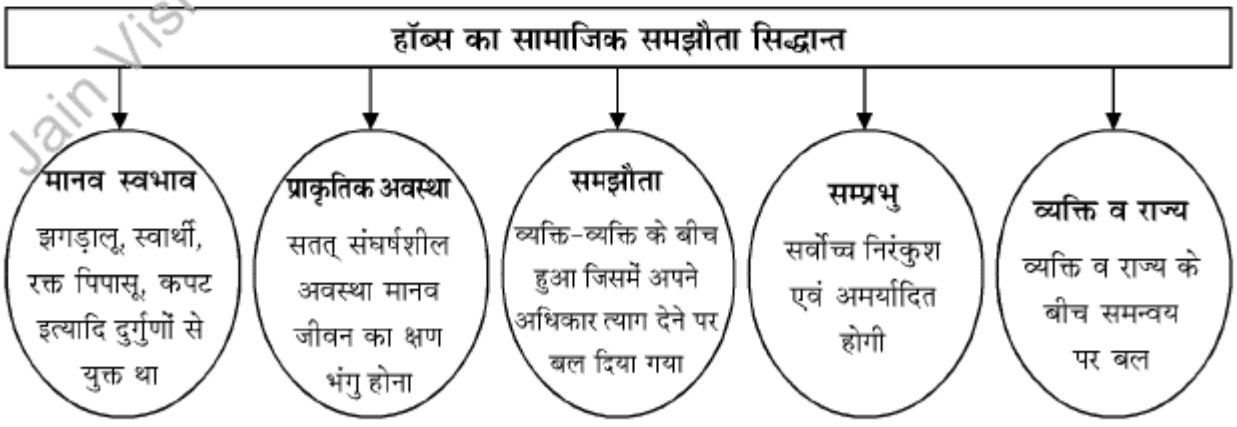

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सामाजिक संविदा सिद्धान्त के प्रतिपादकों में हॉब्स (1588–1679) लॉक (1632–1704) रूसो (1712–1778) का उल्लेखनीय योगदान रहा है। लेकिन तीनों ने अपने–अपने ढंग से सामाजिक समझौते का प्रतिपादन किया। हॉब्स का मता है कि प्राकृतिक अवस्था (राज्य उत्पत्ति की पूर्व अवस्था) में समाज में अव्यवस्था व अराजकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। व्यक्ति को सम्पत्ति व जीवन की सुरक्षा का भय सता रहा था। अत: इससे मुक्ति पाने के लिए राज्य की स्थापना की जाती है। लॉक के मतानुसार मनुष्य के सामने ऐसी संस्था का अभाव था, जो कानूनों का निर्माण, क्रियान्वयन तथा व्याख्या कर सके। अत: इस उद्देश्य के लिए राज्य अस्तित्व में आया। रूसो के अनुसार राज्य सामान्य इच्छा का परिणाम है। इस प्रकार तीनों विचारकों ने 17 वीं तथा 18 वीं शताब्दी में बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के अनुसार इस सिद्धान्त की व्याख्या भिन्न–भिन्न प्रकार से की है। फिर भी उनके विश्लेषण का तरीका व आधार एक ही है। इसके पाँच मुख्य तत्त्व है – (1) मानव स्वभाव, (2) प्राकृतिक अवस्था, (3) सामाजिक समझौता, (4) राज्य और सम्प्रभुता, (5) राज्य और व्यक्तियों का संबंध।

हॉब्स इंग्लैण्ड का एक महान दार्शनिक था। उनका अपने जन्म के विषय में कहना था कि **''मैं और मेरा भय जुडवां भाई है।''** अव्यवस्था का भय हॉब्स के सिद्धान्त की आधारशिला है। उसके समय इंग्लैण्ड में गृह युद्ध हुआ था जो 1642–1649 तक चला। इससे हॉब्स के मन में यह धारणा घर कर गई कि इंग्लैण्ड में शक्तिशाली राजतन्त्र ही स्थाई शांति स्थापित कर सकता है। इस तरह हॉब्स के विचारों को इंग्लैण्ड की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने बहुत प्रभावित किया, जिसकी छाप उसके सामाजिक संविदा के सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। हॉब्स सामाजिक समझौता सिद्धान्त अपनी पुस्तक लेवायथन (1651) में प्रस्तुत करता है, जिसमें वह शक्तिशाली व निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करता है और कहते है कि समाज में व्याप्त अव्यवस्था अराजकता तथा अशांति को रोकने के लिये तथा मानव जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए राज्य का ऐसा होना बहुत आवश्यक है। वास्तव में देखा जाए तो हॉब्स का उद्देश्य तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण प्रस्तुत करते हुए राजतन्त्र को शक्तिशाली बनाना था। हॉब्स के सामाजिक समझौते के सभी पक्षों का निम्नलिखित रुप से विश्लेषण कर सकते हैं –

17.6.1 मानव स्वभाव

हॉब्स मानव स्वभाव का चित्रण प्रस्तुत करते हुए कहता हैं कि मानव हिंसक, स्वार्थी, लोभी, तृष्णा–प्रधान, अहंकारी, आत्माभिमानी आदि था। उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना थी उससे समाज में असंतोष अविश्वास, जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा का भय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। मानव अपने निहित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए किसी हद तक जाने को तैयार था, चाहे उसे किसी दूसरे मानव की जान लेनी भी क्यों पड़े, इस तरह मानव का स्वभाव निकृष्ट कोटि का था। जो आत्म केन्द्रित था या संकुचित सोच को आधार मानकर चलता था।

17.6.2 प्राकृतिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था से तात्पर्य राज्य की उत्पत्ति की पूर्व स्थिति से था हॉब्स के अनुसार मानव की संकुचित प्रवृत्ति के कारण समाज में अव्यवस्था व अराजकता का वातावरण था। व्यक्ति की जीवन व संपत्ति की सुरक्षा क्षणभंगुर थी अर्थात् कानून का अभाव, दण्ड का अभाव, तथा सम्प्रभुता धारी का अभाव था। इस तरह मानव अपनी तृष्णा को शांत करना अपना परम कर्त्तव्य मानता। उस पर कोई बाध्यकारी या नियन्त्रणकारी शक्ति नहीं थी। हॉब्स अपने व्यक्ति प्रसिद्ध ग्रन्थ लेवायथन में प्राकृतिक अवस्था का चित्रण इसी प्रकार से किया है। सभी व्यक्ति एक दूसरे से लड़ते थे। इस अवस्था में उचित व अनुचित, न्याय व अन्याय को कोई स्थान नहीं था। धोखा और शक्ति ही व्यक्ति के गुण समझे जाते थे और उसके जीवन के आधार थे। इस तरह प्राकृतिक अवस्था में निरन्तर संघर्ष व युद्ध की स्थिति बनी हुई थी। हॉब्स के अनुसार यह अवस्था अराजकता भी है। इसलिये सभ्य जीवन की मांग थी कि मानव अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिये राज्य की व्यवस्था करें और उसकी आज्ञा के अनुसार अपनी तृष्णा की पूर्ति करें। इन्हीं के लिए मानव राज्य की उत्पत्ति की सोचता है और इसके लिये वे समझौता करते है।

17.6.3 सामाजिक समझौता (संविदा)

मानव इन परिस्थितियों से उब चुका था। वह एक ऐसी व्यवस्था की तलाश में था जो उसे इन स्थितियों से निजात (मुक्ति) दिला सके। हॉब्स के अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा यह सम्भव हो सकता है। सामाजिक समझौता, हॉब्स के मत में एक धारणा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कोई घटना नहीं इसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से इस प्रकार कहता है ''**मैं अपने ऊपर शासन करने का अधिकार इन व्यक्ति या जन सभा को इस शर्त पर सौंपने की स्वीकृति देता हूँ कि तुम भी अधिकार उसको सौंपोगे और इस तरह उसके कार्यों की स्वीकृति दोगे।**'' इस प्रकार समझौतों के फलस्वरूप सभी लोग अपने अधिकार सभा को सौंपते है। उससे राज्य का निर्माण होता है। इस प्रकार समझौता व्यक्ति और प्रभुसत्ताधारी के बीच नहीं हुआ बल्कि हर व्यक्ति का हर व्यक्ति या सारे व्यक्तियों के साथ हुआ है। इस तरह समझौते का अंग प्रभुसत्ताधारी नहीं होने के कारण उसकी शक्तियाँ असीमित एवं अनियन्त्रित हैं।

17.6.4 राज्य तथा प्रभुसत्ता

हॉब्स के अनुसार समझौते के परिणाम स्वरूप राज्य और उसकी प्रभुसत्ता स्थापित हुई। समझौते का भाग न होने कारण प्रभुसत्ताधारी की शक्तियाँ असीमित व निरंकुश है और समाज में व्याप्त अराजकता पर अंकुश लगाने के लिए ऐसा होना आवश्यक था। एक बार समझौता होने के बाद व्यक्ति सम्प्रभु की आज्ञा मानने को बाध्य है। हॉब्स का तर्क है कि प्रभुसत्ता निरंकुश, अविभाज्य, असीम, सर्वव्यापक तथा अहस्तांतरणीय है। प्रभुसत्ता के वास के अनुसार शासन व्यवस्था निर्धारित होती है। यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति (राजा) में निहित है तो राजतन्त्र, कुछ विशेष समूह में निवास करती है तो कुलीनतंत्र और यदि नागरिकों को प्रभुसत्ता प्राप्त है, तो लोकतन्त्र कायम होता है लेकिन इंग्लैण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक था।

17.6.5 व्यक्ति और राज्य

व्यक्ति और राज्य राजनीति शास्त्र के दो आधार स्तम्भ है। इसीलिए अधिकांश सिद्धान्तों का प्रतिपादन इन्हीं दोनों को दृष्टिगत रखकर किया गया है। हॉब्स ने अपने सामाजिक समझौता सिद्धान्त में इनकी स्पष्ट विवेचना प्रस्तुत की है। हॉब्स का मत है कि व्यक्ति अपनी सुविधा अर्थात् जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए राज्य का निर्माण करता है। अत: राज्य का दायित्व बनता है कि इसके लिए वह हर सम्भव कोशिश करें। यदि शासक (सरकार) इनकी अनदेखी कर, आम जनता के साथ अन्याय व अत्याचार करता है तो यह स्थिति प्राकृतिक अवस्था से भी बदतर हो जाएगी अर्थात् खेत को बाड़ ही(सुरक्षा के लिए मिट्टी की दीवार) खाने लग जाएगी तो खेत का क्या होगा ?अत: ऐसी सरकार का समर्थन नहीं करना चाहिए।

लेकिन हॉब्स का कहना है कि व्यक्ति की तृष्णा पर अंकुश लगाने के लिए और राज्य (समाज) को अत्याचार व्यवस्था, अनिश्चितता के गहरे गर्त में जाने से रोकने के लिए राज्य का निरंकुश, सर्वोच्च, असीमित तथा अनुत्तरदायी होना आवश्यक है। समझौते का उद्देश्य व्यवस्था स्थापित करना है। व्यवस्था प्रभुसत्ता की मांग करती है। प्रभुसत्ता कानून द्वारा अभिव्यक्त होती है और जहाँ कानून का पालन नहीं होगा तो वहाँ अराजकता फैलेगी। इस तरह कानून प्रभुसत्ता का आदेश है जो व्यक्ति को बांधता है। इस प्रकार हॉब्स द्वारा उदारवादी विचार देते हुए व्यक्ति और राज्य दोनों के अधिकार व शक्ति के बीच सन्तुलन स्थापित किया गया। परन्तु वह राज्य को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देता है।

17.7 नागरिक कानून

नागरिक कानून, हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिफल है। हॉब्स नागरिक कानूनों को ही वह साधन मानता है, जिनके द्वारा सम्प्रभु राज्य की सीमाओं के अन्दर अपने कार्यों को संपादित करता है, जैसे उद्योग व व्यापार की उन्नति, शिक्षा का संकल्प धार्मिक उपासना की विधि का निर्धारण तथा शांति व सुरक्षा की स्थापना।

17.7.1 नागरिक कानून की परिभाषा

हॉब्स सम्प्रभु के आदेश को ही कानून मानता है। उसके शब्दों में ''कानून उचित रूप से उस मनुष्य का आदेश है, जिसे दूसरे मनुष्यों पर शासन करने का अधिकार है।''

हॉब्स का विचार है कि शासन करने की शक्ति केवल सम्प्रभु को प्राप्त है। उसे यह शक्ति उस समझौते से प्राप्त हुई है जिसके द्वारा राज्य की स्थापना होती है। इस मत के आधार पर, हॉब्स के नागरिक कानून की परिभाषा इस प्रकार की है–''नागरिक कानून सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्तियाँ है, जो स्वयं उनसे बंधा नहीं है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.7.2 नागरिक कानून के प्रकार

हॉब्स ने नागरिक कानून के दो प्रकारों का उल्लेख किया है–

17.7.2.1 निषेधात्मक कानून : इसमें समस्त नागरिकों को कानूनों और गैर कानूनी कार्यों का ब्यौरा बताया गया है।

17.7.2.2 आज्ञात्मक या दण्डात्मक : इसमें राज्य का सम्प्रभु ही कानूनों का एक मात्र स्रोत एवं व्याख्याकार होता है।

17.7.3 नागरिक कानून की विशेषता

हॉब्स के नागरिक कानून की विशेषताएँ निम्नलिखित है–

17.7.3.1 सम्प्रभु कानून का निर्माता : सभी राज्यों में सम्प्रभु ही कानून का निर्माता होता है, चाहे वह राज्य राजतंत्र हो या कुलीन तंत्र ही या प्रजातंत्र हो। इसके अलावा सम्प्रभु ही राज्य होता है। अत: कानून का निर्माता राज्य ही होता है। सम्प्रभु किसी भी प्रकार के कानून से बंधा हुआ नहीं होता है।

17.7.3.2 कानून सम्प्रभु का आदेश : हॉब्स के अनुसार सम्प्रभु द्वारा दिया गया प्रत्येक आदेश कानून होता है जिसका पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

17.7.3.3 कानून को शक्ति सम्प्रभु से प्राप्त : कानून को शक्ति सम्प्रभुता से प्राप्त होती है। कानून का नियन्त्रध संसद नहीं कर सकती, केवल सम्प्रभु ही करता है। संसद कानून की नियन्त्रण शक्ति तभी हो सकती है, जब वह स्वयं में सम्प्रभु हो।

17.7.3.4 सम्प्रभु कानून से ऊपर : हॉब्स के अनुसार स्वयं सम्प्रभु कानून से बंधा हुआ नहीं होता अपितु, कानूनों से परे होता है क्योंकि वह स्वयं कानूनों का निर्माता, संशोधन एवं स्थगन कर्त्ता होता है। इसके अलावा जो कानून उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। वह उन्हें समाप्त कर सकता है।

17.7.3.5 प्राकृतिक नियम समझौते के द्वारा नागरिक कानून बनता है : प्राकृतिक कानूनों का आधार न्यायप्रियता, न्याय कृतज्ञता और दूसरे नैतिक गुण नहीं बल्कि वे गुण है जिनके द्वारा लोगों में शांति और आज्ञाकारिता की वृद्धि होती है। जन समझौते द्वारा राज्य का निर्माण होता है, तब सम्प्रभु के आदेश को पालन करने के लिए बाध्य करता है।

17.7.3.6 रीति-रिवाज, कानून का अंग : रीति-रिवाजों को बहुत वर्षों तक प्रयोग होते रहने के कारण कानून की सत्ता प्राप्त हो जाती है, लेकिन सत्ता भी सम्प्रभु के समर्थन के बिना प्राप्त नहीं होती है।

17.7.3.7 शासन परिवर्तन के साथ कानून बदलता है : शासन में परिवर्तन होने से कानून में भी परिवर्तन होता रहता है। राज्य की विजय के कारण पुराने कानूनों का प्रचलन बना रहता है लेकिन वहां भी विभिन्न कानून विजेता-सम्प्रभु के दिये गए कानून ही मान्य होते है। कानून की प्रकृति परिवर्तनशील होती है।

17.7.4 नागरिक कानून और प्राकृतिक कानून में संबंध

नागरिक एवं प्राकृतिक कानून के बीच पाये जाने वाले आपसी संबंधों को उसमें पाई जाने वाली समानता एवं असमानता द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है न दोनों के बीच की असमानताओं को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित किया जा सकता है जो इस प्रकार है —

17.7.4.1 असमानता–

1. प्राकृतिक और नागरिक कानून का पालन क्रमश मानव और नागरिक के रूप में किया जाता है।
2. प्राकृतिक कानून विवेक का आदेश है, वहीं नागरिक कानून सम्प्रभु का आदेश होता है।
3. नागरिक कानून प्रजा पर बन्धनकारी होते है जबकि प्राकृतिक कानून के लिए ऐसा नहीं है।
4. नागरिक कानून का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है जबकि प्राकृतिक कानूनों के पीछे कोई दण्डात्मक शक्ति नहीं होती है।

17.7.4.2 समानताएँ - नागरिक व प्राकृतिक कानूनों में पारस्परिक असमानताएँ होने के बाद भी उनमें व्यापक समानताएं पायी जाती है तथा दोनों एक-दूसरे के अभिन्न अंग है। इस के सन्दर्भ में हॉब्स का मत है कि प्राकृतिक कानून नागरिक कानून के प्रतिफल नहीं हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.8 वैयक्तिक स्वतन्त्रता

हॉब्स ने व्यक्ति को स्वतन्त्रता दी है या नहीं ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। उसका सामाजिक समझौता सिद्धान्त जनता की स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र न होकर उसकी दासता का दस्तावेज है। इस समझौतें के अनुसार जनता अपने सब अधिकार सम्प्रभु को समर्पित कर देती है। अत: हॉब्स के विचार में जनता की स्वतन्त्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। हॉब्स ने स्वतन्त्रता संबंधी जो विचार व्यक्त किये है वे निम्नलिखित है–

17.8.1 स्वतन्त्रता का अर्थ

हॉब्स ने जिस स्वतन्त्रता का वर्णन किया है वह भौतिकवादी है। वह स्वतन्त्रता की गति से सम्बद्ध करता है। हॉब्स के शब्दों में ''उचित रूप से स्वतन्त्रता, गति के बाहरी अवरोधों के अभाव की व्यक्त करती है।''

स्वतन्त्रता के इस अर्थ के अनुसार हॉब्स ने स्वतन्त्रता, की परिभाषा निम्न प्रकार से ही है– ''स्वतन्त्र मनुष्य है वह है जो उन कार्यों को, जिनको करने की उसमें शक्ति और बुद्धि है तथ जिनको, वह अपनी इच्छानुसर चाहता है, करने से रोका नहीं जाता है।''

17.8.2 स्वतन्त्रता के प्रकार

हॉब्स ने दो प्रकार की स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है–

17.8.2.1 प्राकृतिक स्वतन्त्रता– प्राकृतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने को पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। वह जो चाहे कर सकता है। वह किसी भी शासन के अधीन नहीं रहता है। यह स्वतन्त्रता उसे प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त होती है।

17.8.2.2 नागरिक स्वतन्त्रता– नागरिक स्वतन्त्रता वे होती है जिसमें सामाजिक समझौते के फलस्वरूप जिस सम्प्रभु का निर्माण होता है उसके द्वारा प्रदान की जाती है।

सके सन्दर्भ में हॉब्स का मत है कि ''प्राकृतिक स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता है, नागरिक स्वतन्त्रता कृत्रिम स्वतन्त्रता है। प्रजाजनों की स्वतन्त्रता केवल वह स्वतन्त्रता है, जो उनको सम्प्रभु की आज्ञा से प्राप्त होती है।''

17.8.3 नागरिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र

हॉब्स सम्प्रभु को निरंकुश एवं असीमित शक्तियाँ प्रदान करता है लेकिन फिर भी निम्नलिखित तीन क्षेत्रों में व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है–

➢ **आर्थिक क्षेत्र में**– प्रत्येक व्यक्ति को बेचने, खरीदने एवं आर्थिक समझौते करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

➢ **आत्म रक्षा हेतु**– प्रत्येक व्यक्ति की अपना भोजन, निवास स्थान और जीवन का व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता है।

➢ **शिक्षा**– प्रत्येक व्यक्ति को अपने बच्चों को अपनी इच्छानुसार शिक्षा देने की स्वतन्त्रता है।

17.8.4 सम्प्रभु के विरूद्ध स्वतन्त्रता

सम्प्रभु का प्रबल समर्थक होते हुए भी, हॉब्स ऐसी चार परिस्थितियों का उल्लेख करता है जिनमें प्रजा अपनी आत्म रक्षा हेतु सम्प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए स्वतन्त्रता है।

17.8.4.1 प्राण रक्षा हेतु– यदि सम्प्रभु किसी व्यक्ति को ऐसा आदेश देता है जिससे उसको शारीरिक होता ही या उससे उस के प्राणों को खतरा उत्पन्न होता हो तो ऐसी स्थिति में वह सम्प्रभु के आदेश का उल्लंघन कर सकता है।

17.8.4.2 अपराध स्वीकार करने के विरूद्ध– यदि किसी व्यक्ति को जबदस्ती सम्प्रभु द्वारा अपराध स्वीकार करने को बाध्य किया जाता है तो वह उसका विरोध कर सकता है।

17.8.4.3 हत्या करने की आज्ञा का विरोध– यदि सम्प्रभु उस व्यक्ति या किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या करने का आदेश देता है तो वह उसका विरोध कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.8.5 सम्प्रभु के विरूद्ध अभियोग लगाने की स्वतन्त्रता

हॉब्स का मता है कि व्यक्ति कुछ विशेष परिस्थितियों में सम्प्रभु के विरूद्ध अभियोग लगा सकता है जैसे–

17.8.5.1 सम्पत्ति से स्वामित्व हेतु– यदि ऋण का या जमीन और संपत्ति के स्वामित्व का प्रश्न हो, तो प्रजा सम्प्रभु पर अभियोग लगा सकती है।

17.8.5.2 आर्थिक या शारीरिक दण्ड हेतु– यदि आर्थिक या शारीरिक दण्ड के प्रश्न पर प्रजा और सम्प्रभु में संघर्ष हो तो सम्प्रभु पर अभियोग लगाया जा सकता है।

17.9 हॉब्स के दर्शन में व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी और निरंकुशतावादी तत्त्व

राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में हॉब्स निरंकुशतावाद का प्रबल समर्थक माना जाता है। तत्कालीन इंग्लैण्ड में व्याप्त अराजकतापूर्ण परिस्थितियों के निराकरण के लिए वह एक सुदृढ और निरंकुश शासन–व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है। लेकिन उसका निरंकुशतावाद एक सर्वाधिकारवादी राज्य का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसने व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन माना है तथा यह कहता है कि राज्य का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की आत्म रक्षा की सुरक्षा करना है। इस प्रकार हॉब्स प्रथम विचारक था जिसने व्यक्ति के जीवन रहने के अधिकार की सर्वोपरि सिद्ध किया। और कहा कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के इस अधिकार की रक्षा के लिए हुई है अत: हॉब्स निरंकुशतावाद का प्रबल समर्थक होते हुए भी व्यक्तिवादी था। सेबाइन का मत है कि ''सम्प्रभु की निरंकुश सत्ता का सिद्धान्त जिसको स्थान सामान्यता हॉब्स का नाम जोड़ा जाता है, वास्तव में, उसका व्यक्तिवाद का आवश्यक पूरक था।''

17.10 सारांश

क्या हॉब्स ने असीम या पूर्ण प्रभुसता का सिद्धान्त प्रस्तुत करके 'पूर्णसत्तावाद' का समर्थन कर दिया है– यह एक विवाद का विषय है ?एक फ्रांसीसी लेखक जोसेफ वायलातों ने हॉब्स को सर्वाधिकारवाद का प्रथम सिद्धान्तकार घोषित किया गया है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि हॉब्स के अनुसार किसी मनुष्य के ऊपर ऐसा कोई दायित्व नहीं हो सकता जो उसके किसी कृत्य से पैदा नहीं होता है।

अत: सम्पूर्ण वैधता और राजनीतिक दायित्व का मूल स्रोत अनुबंध में ढूँढ़ना या हिंसा, हॉब्स शासन के विरूद्ध विद्रोह की अनुमति नहीं देता परन्तु व्यक्ति की आत्मरक्षा की सर्वोपरि मानता है हॉब्स के शब्दों में ''जब मेरे ऊपर बल प्रयोग हो तब मैं अपनी रक्षा के लिए बल प्रयोग न करूं–ऐसा प्रतिज्ञा पत्र सदैव निरर्थक है।''

सारांश में, हॉब्स के राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है। व्यक्ति की इच्छा से राज्य का निर्माण होता है। व्यक्ति को रक्षा प्रदान करने के लिए ही सम्प्रभुताधारी अपनी पूर्ण सत्ता का प्रयोग करता है इस तरह व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है।

17.11 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त की व्यवस्था कीजिए।
2. हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
3. नागरिक कानून संबंधी विचारों पर लेख लिखिए।
4. ''व्यक्ति की आत्म रक्षा का अधिकार सर्वोपरि है।'' कथन के आधार पर हॉब्स में वैयक्ति स्वतन्त्रता संबंधी विचार प्रस्तुत कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ''इंग्लैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों ने हॉब्स को प्रभावित किया।'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
2. हॉब्स द्वारा प्रस्तुत सम्प्रभुता की विशेषताएं बताओं। (कोई तीन)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. सम्प्रभु के प्रमुख कार्य क्या है ?
4. मानव स्वभाव के संबंध में हॉब्स की क्या राय है ?
5. हॉब्स किस प्रकार की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण प्रस्तुत करता है ?
6. नागरिक कानून के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
7. नागरिक कानून व प्राकृतिक कानून की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
8. हॉब्स द्वारा प्रस्तुत स्वतन्त्रता के प्रकार बताओं ?
9. हॉब्स नागरिकों को किन आधारों पर सम्प्रभु का विरोध करने की स्वतन्त्रता देता है ?
10. ''हॉब्स के दर्शन में व्यक्तिवाद और निरंकुशवाद का उचित समन्वय है।'' सिद्ध कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. हॉब्स कहाँ का रहने वाला था ?
2. हॉब्स की प्रमुख कृति का नाम लिखिए ?
3. जीवन की स्वतन्त्रता का समर्थन करने वाला विचार था ?
4. डी-सिले का प्रकाशन कब हुआ ?
5. हॉब्स के समय इंग्लैण्ड की परिस्थितियों किस प्रकार की थी ?
6. आधुनिक युग में सम्प्रभुता पर बल किसने दिया ?
7. हॉब्स के अनुसार कानून का क्या अर्थ है ?
8. हॉब्स ने स्वतन्त्रता को किस प्रकार परिभाषित किया है ?
9. हॉब्स नागरिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र कौन-कौन से बताता है ?
10. हॉब्स को सर्वाधिकारवाद का प्रथम विचार किसने कहा है।

17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चन्द्रदेव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक टॉमस है।'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना
2. के. एन. वर्मा ''राजदर्शन भाग 1'' रस्तौगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
3. डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह ''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' ज्ञानता प्रकाशन, नई दिल्ली
4. प्रभुदत्त शर्मा ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई -18

जॉन लॉक

संरचना

18.1 उद्देश्य

18.2 प्रस्तावना

18.3 जीवन परिचय

18.4 लॉक के मानव-स्वभाव की विशेषतायें

- 18.4.1 मानव में सामाजिकता तथा सहयोग के तत्त्व पाये जाते है।
- 18.4.2 मानव सुख की कामना करता है
- 18.4.3 मानव विवेकशील प्राणी है

18.5 प्राकृतिक अवस्था

- 18.5.1 प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता तथा सामाजिक आदान-प्रदान
- 18.5.2 प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून
- 18.5.3 प्राकृतिक अवस्था में जीवन, स्वतन्त्रता तथा संपत्ति के अधिकार
- 18.5.4 प्राकृतिक अवस्था में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी।

18.6 लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त

- 18.6.1 समझौते की प्रक्रिया
- 18.6.2 लॉक के समझौते की विशेषताएँ
- 18.6.3 लॉक के समझौते सिद्धान्त की आलोचना

18.7 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त

भूमिका

- 18.7.1 प्राकृतिक अधिकारों के प्रकार
  - 18.7.1.1 जीवन का अधिकार
  - 18.7.1.2 स्वतन्त्रता का अधिकार
  - 18.7.1.3 सम्पत्ति का अधिकार

18.8 सरकार के संबंध में विचार

भूमिका

- 18.8.1 सरकार के कार्य
  - 18.8.1.1 व्यवस्थापिका संबंधी कार्य
  - 18.8.1.2 कार्यपालिका संबंधी कार्य
  - 18.8.1.3 न्यायिक कार्य

18.9 शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त

18.10 क्रान्ति या राज्य का विरोध करने का अधिकार

18.11 लॉक का व्यक्तिवाद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.12 लॉक का उदारवाद

भूमिका

18.12.1 विवेक में आस्था

18.12.2 व्यक्ति साध्य है, राज्य साधन

18.12.3 राज्य मानव निर्मित संस्था

18.12.4 प्राकृतिक कानून

18.12.5 प्राकृतिक अधिकार

18.12.6 शक्ति विभाजन

18.12.7 विद्रोह का अधिकार

18.12.8 सीमित सरकार

18.12.9 रूढ़िवादी विचारों में आस्था नहीं

18.12.10 धार्मिक सहिष्णुता और धर्म निरपेक्ष राज्य

18.12.11 प्रजातन्त्र का समर्थन

18.13 सारांश

18.14 अभ्यास प्रश्नावली

18.15 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

18.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य उदारवाद के प्रवर्तक जॉन लॉक के विचारों को जानना है, जिनमें वह प्राकृतिक अधिकारों, सामाजिक समझौते सिद्धान्तों में मानव का सकारात्मक पक्ष, सरकार के विभिन्न अंग तथा उनके पारस्परिक संबंध, नागरिकों को क्रान्ति के अधिकार इत्यादि विचार प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में आप जान सकेंगे—

- जॉन लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धान्त जो राज्य की उत्पत्ति के लिए प्राकृतिक अवस्था की उस स्थिति को मानता है जिसमें सरकार का अभाव था, जो कानूनों को भलीभाँति कर सके अत: इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राज्य का निर्माण किया गया।
- प्राकृतिक अवस्था में भी तीन प्राकृतिक अधिकारों (जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति) का होना बताया गया है, जो मानवीय गरिमा तथा स्वतन्त्रता को बढ़ाने वाले हैं। इससे स्वतन्त्रता, समानता व न्याय के सम्बन्ध में जानकारी मिलेगी जो लोकतंत्र को सबल प्रदान करती है,
- समझौते में शासक की भागीदारी होने के कारण वह निरंकुश नहीं बन सकता, वह एक ट्रस्ट के रूप में रहेगा,
- सरकार के अंगों के पारस्परिक संबंधों के संबंध में लॉक शक्ति पृथक्करण का समर्थन करता है,
- यदि राज्य अपने दायित्वों का निर्वाह भली भाँति नहीं करता है तो ऐसे राज्य के विरुद्ध क्रान्ति का अधिकार देता है, जो हमें यह प्रेरणा देता है कि हम भी सजग रहकर राज्य को सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करें,
- लॉक के विचार से आपको उदारवाद का दर्शन होगा जो एक आधुनिक राजनीतिक अवधारणा है जो स्वतन्त्रता, अधिकार, सीमित शासन, संविधानवाद, धर्मनिरपेक्षता, शक्तिपृथक्करण, लोकतंत्र आदि पर बल देती है।

18.2 प्रस्तावना

जॉन लॉक इंग्लैण्ड दार्शनिक था, जिसका संबंध लार्ड ऐशले और ह्विग पार्टी से था। उसने मानव को परमार्थी जीवन जीने वाला बताया है। लॉक भी राज्य को मानव कृत संस्था मानता है और कहता है कि यह सामाजिक समझौते के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आया है। प्राकृतिक अवस्था अर्थात् राज्य के पूर्व की अवस्था में एक ऐसी संस्था का अभाव था जो कानूनों का निर्माण कर सके,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कानूनों को लागू कर सके और उनकी व्याख्या कर सके। अत: इस अभाव की पूर्ति हेतु मानव समझौता करता है उसके परिणाम स्वरूप राज्य और सम्प्रभुता की स्थापना होती है।

लॉक का मत है कि प्राकृतिक अवस्था में मानव के पास तीन प्रकार के अधिकार होते थे – जीवन, संपत्ति और स्वतन्त्रता। ये लॉक की मौलिक देन मानी जाती है। उसने सीमित सरकार की व्याख्या की है, जो शक्ति पृथ्थकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को पृथक रूप में काम करना तथा अवरोध और सन्तुलन स्थापित करना एक राजनीतिक सत्य है।

लॉक की सहिष्णुता नीति और धर्मनिरपेक्ष राज्य की कल्पना–आधुनिकता का सन्देश है। उसका व्यक्तिवाद, उदारवाद और संपत्ति सिद्धान्त राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में क्रान्तिकारी सिद्धान्त माने जाते है। शासन जन इच्छा पर आधारित होता और यदि राज्य जन इच्छा और आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता है। तो उसके विरोध करने का अधिकार जनता को है। यह लोकतन्त्र की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ। व्यक्तिवाद, उदारवाद, संविधानवाद, सहिष्णुतावाद, धर्मनिरपेक्षता और शक्ति पृथ्थकरणवाद के मसीहा के रूप में राजनीतिक चिन्तन में जॉन लॉक का नाम अमर रहेगा।

18.3 जीवन परिचय

जॉन लॉक का जन्म सन् 1632 में इंग्लैण्ड के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। उसके पिता एक वकील थे तथा धार्मिक विचारों से 'प्युरिटन' थे। उनके पिता सन् 1642 में संसद की सेना में भर्ती हुए तथा गृह-युद्ध में भाग लिया। अत: उनके परिवार को राजतन्त्र के विरोध के कारण उनके कष्ट सहने पड़े।

लॉक की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। तत्पश्चात उन्हें वैस्ट मिनिस्टर स्कूल भेजा गया7 सन् 1952 में वे उच्च शिक्षा पाने के लिए ऑक्सफोर्ड के 'क्राइस्ट चर्च स्कुल' में भर्ती हुए। सन् 1656 में उन्होंने ऑक्सफोर्ड से बी.ए. तथा एम.ए. की परीक्षायें उत्तीर्ण की। इसी वर्ष वे ऑक्सफोर्ड में ग्रीक तथा दर्शन के अध्यापक नियुक्त हुए।

लॉक को अध्यापन कार्य रुचिकर नहीं लगा अत: उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया तथा डॉ. डेविड के साथ चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया और शीघ्र ही वे डॉक्टर के रूप में प्रसिद्ध हो गये। सन् 1667 में लार्ड ऐशले के सम्पर्क में आये, जो उनसे बड़ा प्रभावित हुआ। लॉर्ड ऐशले ने जो बाद में 'शेफ्टसबरी के अर्ल' बन गये, लॉक को लन्दन आने का निमन्त्र दिया। लॉर्ड ऐशले के निमन्त्रण पर लॉक लन्दन गये और लगभग 15 वर्ष तक उनके व्यक्तिगत चिकित्सक तथा सेकेटरी के रूप में कार्य किया।

सन् 1672 में लॉर्ड ऐशले को चार्ल्स द्वितीय ने लॉर्ड चान्सलर बनाया। लॉक भी उनके साथ रहे। 1681 में लॉर्ड ऐशले को लॉर्ड चान्सलर के पद से पृथक कर सन् 1679 में फ्रांस जाना पड़ा। 1681 में लॉर्ड ऐशले पर देशद्रोह तथा षड्यन्त्र का अभियोग लगाया गया। लॉक को भी अपने आश्रयदाता के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सन् 1696 में उनके जीवन में परिवर्तन आया तथा लॉर्ड औरेन्ज ने उन्हें 'कमिश्नर ऑफ दी बोर्ड ऑफ ट्रेड एण्ड प्लान्टेशन्स' बनाया। परन्तु स्वास्थ्य खराब होने के कारण वे अधिक दिनों तक इस पद पर न रह सके। सन् 1704 में उसकी मृत्यु हो गई। उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां –

1. 'टू ट्रीटाइजेज ऑन गवर्नमेंट',
2. 'एन एस्से कान्सनिंग ह्यूमन अण्डरस्टेंडिंग',
3. 'सम थॉट्स कान्सनिंग एजूकेशन।'

हाब्स एवं रूसो के अनुसार लॉक 'संविदावादी' थे। अन्य संविदावादियों की भांति उन्होंने भी मानव स्वभाव की व्याख्या की है परन्तु उनकी यह व्याख्या हाब्स एवं रूसो से भिन्न है। जहां हाब्स ने मानव को लड़ाकू, झगड़ालू, जंगली एवं संघर्षशील बताया है वहां लॉक के अनुसार मानव, सहयोगी है तथा उसमें सामाजिकता की भावना पाई जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि लॉक का मानव स्वभाव चित्रण हाब्स की अपेक्षा अधिक आशावादी है। लॉक प्राकृतिक अवस्था में मानव के स्वभाव का चित्रण करते हुए कहता है, सब मानव प्रकृतित: एक समानता की अवस्था में है, जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार–क्षेत्र पारस्परिक है तथा किसी को एक दूसरे से अधिक प्राप्त नहीं है, क्योंकि इससे अधिक स्पष्ट और कोई बात नहीं है कि एक ही नस्ल एवं वंश की सन्तान जिन्हें प्रकृति के सब लाभ समान रूप से प्राप्त होते हो, बीना किसी आधिपत्य के समान हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.4 लॉक के मानव स्वभाव की विशेषताएँ

यद्यपि लॉक के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि मानव शारीरिक एवं बौद्धिक रूप से समान है परन्तु उनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति नैतिक रूप से समान है तथा उसे अन्य व्यक्तियों के समान ही अधिकार प्राप्त है। 18वीं शताब्दी में काण्ट ने भी इसी प्रकार की धारणा व्यक्त की थी। काण्ट के अनुसार मानव एक विवेकशील प्राणी है तथा निरपेक्ष-आज्ञा के निर्देश के अनुसार कार्य करता है। लॉक के अनुसार भी व्यक्ति चाहे बौद्धिक एवं भौतिक दृष्टि से समान न हों, परन्तु वे नैतिक दृष्टि से कम से कम समान है। लॉक के अनुसार मानव-स्वभाव की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

18.4.1 मनुष्य में सामाजिकता तथा सहयोग के तत्त्व पाये जाते हैं

लॉक हाब्स के विपरीत मानव को सामाजिक मानते हैं। लॉक के मानव में सहयोग सामाजिकता, प्रेम, दया आदि गुण पाये जाते है। वह हाब्स के मानव के समान लड़ाकू, जंगली तथा संघर्षशील नहीं है। लॉक के व्यक्ति में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की भावना नहीं पायी जाती। इस प्रकार लॉक का व्यक्ति हाब्स के व्यक्ति से अधिक श्रेष्ठ तथा सभ्य है। वह अनुशासन में रहता है।

18.4.2 मानव सुख की कामना करता है

लॉक की धारणा है कि मानव दु:ख एवं कष्ट से बचना चाहता है तथा सुख के लिए प्रयत्नशील रहता है। सुख प्राप्त करने के लिए वह अन्य लोगों के साथ सहयोग करता है।

18.4.3 एक विवेकशील प्राणी है

लॉक विवेक को मानव को स्वभाव का आधारभूत लक्षण मानते हैं। उनके अनुसार मानव स्वयं साध्य है। अत: उसका साधन की भांति प्रयोग नहीं किया जा सकता। लॉक विवेक को मानव-स्वभाव का देवी गुण मानते हैं। विवेक शक्ति के द्वारा ही मनुष्य प्रकृति के नियम को समझता है। इसलिए प्राकृतिक अवस्था युद्ध की अवस्था नहीं हो सकती। मानव इस अवस्था में विवेकशील प्राणी था।

हाब्स के समान लॉक ने भी पूर्व राजनीतिक अवस्था की कल्पना की है, परन्तु उनकी प्राकृतिक अवस्था हाब्स से कहीं भिन्न है। लॉक के अनुसार यह अवस्था शान्ति, सहयोग, समानता, सम्पन्नता की अवस्था है। लॉक लिखते है कि ''यद्यपि यह अवस्था स्वतन्त्रता की अवस्था है तथापि यह स्वेच्छाचारिता की अवस्था नहीं है यद्यपि इस अवस्था में मनुष्य को अपने व्यक्तित्व या सम्पत्ति के प्रयोग करने की अमर्यादित स्वतन्त्रता है, पर उसे तब तक अपने को नष्ट करने की स्वतन्त्रा नहीं है, जब तक कि ऐसा करने की आवश्यकता जिन्दगी बनाये रखने के अतिरिक्ति किसी अन्य उद्देश्य के लिए आवश्यक न हो।''

18.5 प्राकृतिक अवस्था

लॉक अनुसार इस प्राकृतिक अवस्था में सामाजिक व्यवस्था थी। यद्यपि सभी लोग प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य करते थे, परन्तु समाज मे अव्यवस्था तथा अराजकता नहीं थी। लॉक की सामाजिक व्यवस्था 'कानूनविहीन' नहीं थी, क्योंकि समाज में प्राकृतिक कानूनों का अस्तित्व था तथा मानव उन्हीं नियमों के अनुसार कार्य करता था। समाज में राज्य का अस्तित्व नहीं था इसलिए लोगों में वे दायित्व नहीं थे जो एक राजनीतिक रूप से संगठित समाज में होते है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं थीं—

18.5.1 प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता तथा सामाजिक आदान-प्रदान होता था

लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था में सभी लोग स्वतन्त्र थे तथा वह प्राकृतिक वस्तुओं का स्वतन्त्र रूप से उपभोग करते थे। लोगों में कोई भेदभाव नहीं था। प्राकृतिक अवस्था में न तो कोई स्वामी था और न कोई दास। सभी लोग आपस में सहयोगपूर्वक रहते थे।

18.5.2 प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून थे

लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून थे। मानव विवेकशील था तथा वह अपने विवेक का प्रयोग करता था। इस अवस्था में कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को हानि नहीं पहुंचाता था। लॉक के अनुसार यह प्राकृतिक 'विवेक' था जो सभी व्यक्तियों के कार्यों को मर्यादित करता था।

Uttarakhand Open University, Haldwani, Uttarakhand, India (Deemed University) Ladakh

18.5.3 प्राकृतिक अवस्था में जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारी थे

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति जीवन अथवा उसकी स्वतन्त्रता का हरण करने का प्रयत्न नहीं करता था। सभी व्यक्तियों को अपनी सम्पत्ति रखने का अधिकार था।

18.5.4 प्राकृतिक अवस्था में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी

लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था की एक अन्य विशेषता यह थी कि इस अवस्था में लोगों में आपस में प्रतिस्पर्धा नहीं थी। सभी व्यक्तियों में समान क्षमताएं थी तथा सभी लोग प्रकृति के पदार्थों का सामूहिक रूप से उपभोग करते थे।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने जीवन की रक्षा का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। सभी लोग स्वतन्त्र थे।

➢ निष्कर्ष

लॉक के मानव की प्रकृति तथा उसके प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी विचारों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उसके विचरा हॉब्स की तरह निराशावादी नहीं है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्ति अपने-अपने अधिकारों तथा जान-माल की स्वयं रक्षा करते थे। उनमें उचित-अनुचित, पाप-पुण्य तथा धर्म-अधर्म का ज्ञान था तथा उसी के अनुसार वे आपस में व्यवहार करते थे। इस प्राकृतिक अवस्था में राज्य नहीं था फिर भी लोगों का जीवन व्यवस्थित एवं शान्तिमय था।

18.6 लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त

लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के स्वरुप को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित कर सकते हैं -

18.6.1 समझौते की प्रक्रिया

राजनीति शास्त्र के प्रसिद्ध चिन्तक का दर्शन मानव स्वभाव सम्बंधी दृष्टिकोण पर आधारित है। मानव स्वभाव के सम्बन्ध में लॉक विचार हाब्स तथा रूसों से भिन्न है। हाब्स के अनुसर मानव स्वार्थी, झगड़ालू तथा असभ्य था। लॉक के अनुसार मानव स्वभाव से सहयोगी होता है तथा उसमें सामाजिकता की भावना पायी जाती है।

लॉक प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते हुए कहता है कि मानव अपना कार्यकरना तथा सम्पत्ति और अपने शरीर का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति में रहते थे। यद्यपि यह स्वतन्त्रता कानूनों की सीमाओं के अन्तर्गत थी, तथापि उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति की अनुमति नहीं लेनी पड़ती थी, किसी इच्छा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। यह प्राकृतिक अवस्था सम्पूर्ण सहयोग एवं भातृत्व की भावना पर आधारित थी। लॉक के अनुसार मानव स्वभाव में प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की भावना नहीं पायी जाती है। मानव सदैव दु:ख तथा कष्टों से बचकर सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहता है। लॉक मानव को विवेकशील प्राणी मानता है। यद्यपि प्राकृतिक अवस्था में राज्य अस्तित्व में नहीं था। फिर भी मानव जीवन व्यवस्थित एवं शान्तिमय था। प्राकृतिक अवस्था में मानव का जीवन शान्तिमय एवं व्यवस्थित था लेकिन प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं ने मानव को सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य के निर्माण हेतु बाध्य किया। लॉक के अनुसार दो प्रकार के समझौते किये गये- 1. सामाजिक, 2. राजनैतिक।

सामाजिक समझौते के अन्तर्गत प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके सत्तापूर्ण समाज की स्थापना की गई। राजनैतिक समझौते के

लॉक का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

मानव स्वभाव	प्राकृतिक अवस्था	समझौते का स्वरूप	सम्प्रभु की स्थिति	व्यक्ति एवं राज्य
शान्त, दया, करुणा, प्रेम, वात्सल्य, सहयोगी, त्याग, समर्पण इत्यादि गुणों से युक्त था	उच्च स्तरीय अवस्था जिसमें मानव तीन प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था- स्वतंत्रता, सम्पत्ति, जीवन का अधिकार	समझौते को दो स्तर प्रथम व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जिससे नागरिक समाज बना द्वितीय शासक व्यक्ति के बीच जिससे राज्य बना	सीमित एवं मर्यादित रहेगा (सीमित, राजतंत्र, का समर्थन)	व्यक्ति की राज्य के विरुद्ध क्रान्ति का अधिकार होगा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्वारा सरकार की स्थापना की गई तथा शासक साथ समझौता किया गया। अर्थात् लॉक के समझौते में शासक भी सम्मिलित था तथा जब तक जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करता है उसे आज्ञा-पालन करवाने तथा शासन करने का अधिकार प्राप्त होगा। लॉक सामाजिक समझौते का उपयोग शासक की निरंकुश शक्ति के विरूद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में बताता है।

18.6.2 लॉक के समझौते की विशेषताएँ

लॉक के सामाजिक समझौते की विशेषताओं को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित किया जा सकता है -

1. सामाजिक समझौता निरकुंश शक्ति के विरूद्ध स्वतन्त्रता की घोषणा है।
2. यह समझौता द्विपक्षीय है तथा शासक इस समझौते का अभिन्न अंग है।
3. लॉक समझौते के अन्तर्गत जनता को क्रान्ति का अधिकार प्रदान करता है उसके अनुसार यदि संप्रभु समझौते की शर्तों के अनुसार कार्य नहीं करता है तो उसे पदच्युत भी किया जा सकता है।
4. यह समझौता सभी व्यक्तियों की सहमति पर आधारित था। यदि कोई समाज के अन्तर्गत नहीं रहना चाहता है तो वह प्राकृतिक दशा में रह सकता है।
5. शासक का कर्त्तव्य प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करना व इन अधिकारों की रक्षा करना है। अन्तिम सत्ता जनता के पास रहेगी।
6. लॉक के अनुसार समझौता स्थायी है तथा इसे स्थगित नहीं किया जा सकता है।

लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनमें जनता को शासक के विरूद्ध विद्रोह का अधिकार दिया गया है तथा शासक को समझौते का अंग मानगर उसकी निरंकुश शक्तियों पर अकुंश लगाया गया है।

18.6.3 लॉक के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की आलोचना

लॉक के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की आलोचना को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित किया जा सकता है-

1. लॉक के विचार अत्यधिक अस्पष्ट तथा विरोधाभास से युक्त है। एक और तो वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करता है व सरकार की शक्तियों पर अकुंश लगाता है तथा दूसरी ओर सरकार को ट्रस्टी मानकर जनता को क्रान्ति का अधिकार प्रदान करता है।
2. लॉक द्वारा प्रतिपादित राज्य की प्रभुसत्ता सम्पन्न न होकर मर्यादित है।
3. लॉक द्वारा प्राकृतिक अवस्था को अत्यन्त सुखमय एवं शान्तिमय बताया गया है। यदि प्राकृतिक अवस्था इतनी अच्छी थी, तो समझौते की क्या आवश्यकता थी ?
4. लॉक द्वारा प्रतिपादित समझौते का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है।
5. यह समझौता वैज्ञानिकता तथा तार्किकता से दूर है।

➢ सारांश

लॉक प्रथम राजनैतिक विचारक है जो मानव के मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार व्यक्त करता है। उसने प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर जीवन, स्वतन्त्रता तथा विद्रोह के अधिकारों को मान्यता प्रदान की है। लॉक द्वारा राजा के दैवीय अधिकारों को मान्यता प्रदान नहीं की गई है। इसके स्थान पर उसमें वैधानिक सरकार का समर्थन किया गया है। यद्यपि उसके सामाजिक समझौते से सम्बन्धित विचारों में ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है लेकिन इसी आधार पर उसके विचारों को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता है।

18.7 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त

लॉक के राजनीतिक विचारधारा में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का महानतम योगदान है। यदि उसके दर्शन से अधिकारों को निकाल दिया जाए, तो शासन पर दो निबन्ध अर्थहीन व व्यर्थ सिद्ध होगा। लॉक को इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688 ई.) का समर्थ होने

Uttarakhand Open University, Haldwani (Institute of Distance Education)

के कारण जनता के प्राकृतिक अधिकारों का पोषक होना स्वभाविक है। अत: उसने प्राकृतिक नियमों के अनुसार, समानता की सभी मनुष्यों का जन्म सिद्ध अधिकार घोषित किया, साथ ही समानता के आधार पर मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का प्रतिपादन किया।

फिलिख डॉयल का भी विचार है ''मानव समानता केस इस विचार के आधार पर लॉक ने यह निष्कर्ष निकाला कि सभी मनुष्यों के कुछ जन्मजात अधिकार होते है, जिनका किसी दूसरे मनुष्य को अपहरण नहीं करना चाहिए। ये अधिकार है–जीवन, शरीर, स्वतन्त्रता और संपत्ति की सुरक्षा।''

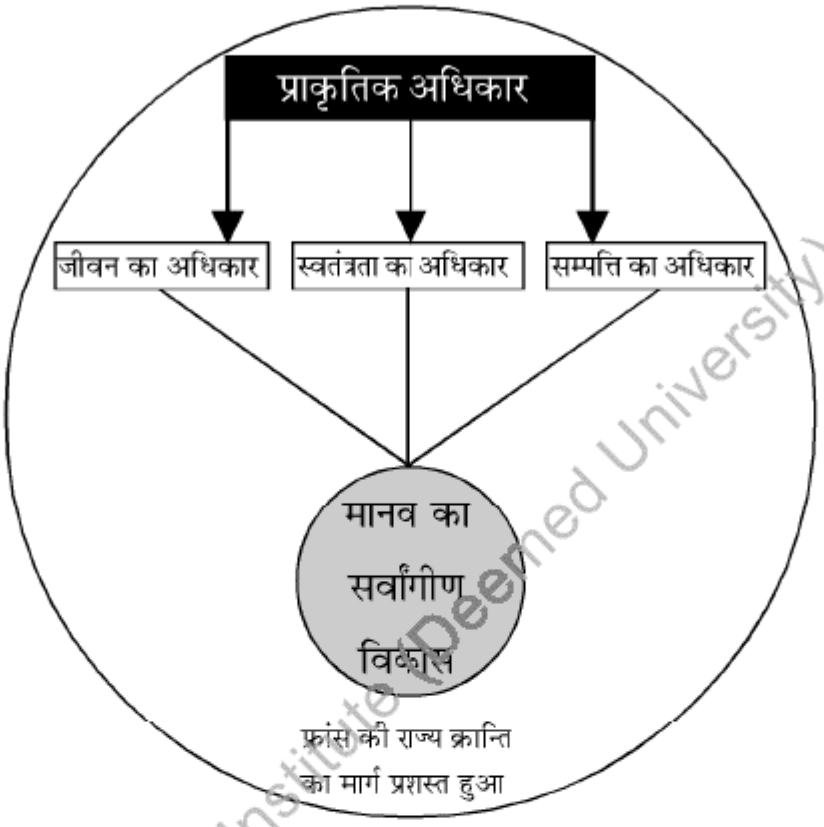

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.7.1 प्राकृतिक अधिकारों के प्रकार

जॉन लॉक ने मुख्यत: तीन प्राकृतिक अधिकारों का विशेष उल्लेख किया है —

18.7.1.1 जीवन का अधिकार :- लॉक के अनुसार आत्म-रक्षा मानव की सबसे प्रबल आकांक्षा है और उसकी समस्त क्रियाओं को प्रेरित करने वाला मुख्य तत्त्व है। अत: आत्म रक्षा की प्राप्ति के लिए मनुष्य जिन विवेक पूर्ण कार्यों को करता है, वे सब उसके विशेषाधिकार है और प्राकृतिक नियमों के अनुसार उसे प्राप्त होते है। लॉक के शब्दों में, ''चाहे हम विवेक तत्व का अनुसरण करें और यह मानें कि मनुष्य को जन्म लेते ही अपनी जीवन रक्षा का अधिकार प्राप्त ही जाता है, और फलस्वरूप, जीवित रहने के लिए प्रकृति द्वारा उपलब्ध भोजन, पेय तथा अन्य वस्तुओं का उपभोग का अधिकार हो जाता है।''

18.7.1.2 स्वतन्त्रता का अधिकार :- हॉब्स के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचारिता था। लेकिन, लॉक इससे असहमति प्रकट करते हुए कहता है कि प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों के द्वारा स्थापित नैतिक व्यवस्था के अनुसार कार्य करना ही स्वतन्त्रता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक सीमाओं में रहते हुए, अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करना प्राकृतिक अधिकार है। लॉक के शब्दों में ''प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर इच्छानुसार अत्याचार कर सके, तो स्वतन्त्र कौन रह सकेगा। अपने शरीर, कार्य और संपूर्ण संपत्ति की, अपने पर लागू विधानों की सीमा के अन्दर अपने इच्छानुसार व्यवस्था करना और इस प्रकार दूसरों को स्वेच्छाचारिता के अधीन

होकर अपनी इच्छा का अनुसरण करना ही स्वतन्त्रता है।'' इस प्रकार स्वतन्त्रता के अधिकार से लॉक का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपने इच्छानुसार केवल उन्हीं कार्यों को करने का अधिकार है, जो प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है।

18.7.1.3 संपत्ति का अधिकार :- लॉक ने शासन पर दो निबन्ध के दूसरे खण्ड के पाँचवे अध्याय में बड़े ही विस्तार पूर्वक संपत्ति अधिकार का वर्णन किया है। लॉक ने राज्य निर्माण के सन्दर्भ में संपत्ति का अर्थ इन शब्दों में किया है-

''अत: इन पर्याप्त कारणों के वशीभूत होकर वह ऐसे व्यक्तियों को जो संगठित हो या जिनमें अपने पारस्परिक जीवन, स्वतन्त्रता और संपदा की जिन्होंने संपत्ति के सामान्य नाम से पुकारता हूँ -सुरक्षा के लिए संगणित होने की इच्छा ही ढूंढकर उनके समाज में सम्मिलित हो जाता है।''

इस प्रकार लॉक के प्राकृतिक अधिकारों का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति (1680) अमरीका का स्वतन्त्रता संग्राम (1776), फ्रांस की राज्य क्रान्ति (1789), भारत का स्वतन्त्रता संग्राम, आधुनिक राज्यों के निर्मित संविधानों संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा (1948) इत्यादि पर प्रभाव देखा जा सकता है।

18.8 सरकार के संबंध में विचार

लॉक के सामाजिक समझौते की एक विशेष बात यह है कि जिसके द्वारा सरकार अपनी शक्ति और अधिकार प्राप्त करती है, उसे लॉक संविदा कहकर नहीं पुकारता, वरन् वह उसे ट्रस्ट या धरोहर कहता है। लॉक का आशय यह था कि सरकार समाज के अधीन रहे। हारमोन के शब्दों में लॉक की इस ट्रस्ट की धारणा के अनुसार ''सरकार को जनता के समान अधिकार प्राप्त नहीं है, वे तो जनता के प्रति कर्त्तव्य ही है।''

ट्रस्ट की स्थापना समाज के द्वारा अपने हित के लिए की गई है। अत: सरकार का ये कर्त्तव्य बनता है कि वह ट्रस्ट के अनुसार कार्य करे। यदि सरकार ट्रस्ट की मर्यादाओं का उल्लंघन करती है तो समाज का यह अधिकार बनता है कि वह सरकार को भंग कर दे। लॉक का कथन है कि ''मनुष्यों की राज्य में संगठित होने तथा अपने आप को सरकार के अधीर रखने का महान उद्देश्य अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।''

18.8.1 सरकार के कार्य

जॉन लॉक सरकार के निम्नलिखित तीन कार्य बताते है-

18.1.1.1 व्यवस्थापिका संबंधी कार्य :- प्राकृतिक अवस्था में निश्चित कानूनों का अभाव था। प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या करने वाली संस्था नहीं थी। अत: इसके लिए सरकार का गठन किया गया। इस तरह सरकार का प्रथम कार्य प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या करना और जीवन, संपत्ति तथा स्वतन्त्रता के प्राकृतिक अधिकारों के संरक्षण की उचित व्यवस्था करना है।

18.1.1.2 कार्यपालिका संबंधी कार्य :- सरकार को अपने समुदाय और नागरिकों की रक्षा करने, युद्ध की घोषणा करना शांति की स्थापना करने और दूसरे राज्य से संधियां करना जैसे कार्य को करना है। लॉक इस कार्यपालिका का कार्य मानते हैं। आजकल की भाषा में इसे कार्यपालिका संबंधी कार्य में सम्मिलित किया जाता है।

18.1.1.3 न्यायिक कार्य :- सरकार एक ऐसी निष्पक्ष सत्ता की व्यवस्था करती है, जो निश्चित कानूनों के आधार पर लोगों के बीच होने वाले सभी झगड़ों का निपटारा कर सके। यह कार्य न्यायपालिका करती है। इसे ही न्यायिक कार्यों की संज्ञा दी जाती है।

18.9 शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

लॉक ने शासन पर दो निबंध के दूसरे खंड में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। सरकार के कार्यों का उल्लेख करने के पश्चात् लॉक सरकार के तीनों अंगों की बात करता है। साथ ही वह इस बात पर भी बल देता है कि सरकार के अंगों के बीच किस प्रकार का संबंध होना चाहिए। उसका मत है कि यदि सरकार के तीनों अंग एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित होंगे, तो वह तानाशाहपूर्ण व्यवहार करेगा तथा

जिसका प्रभाव नागरिकों की स्वतन्त्रता व अधिकारों पर पड़ेगा। वह अपने स्वेच्छानुसार कानूनों का निर्माण करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करने का प्रयास करता है जो किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता। अत: सरकार के अंगों का पृथक्करण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

होना चाहिए, ताकि तीनों अंग सही ढंग से अपने दायित्वों का निर्वाह कर सके। लॉक व्यवस्थापिका की कार्यपालिका व न्यायपालिका से पृथक करने की आवश्यकता पर बल देता है और कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच पृथक्करण नहीं होने देना चाहता है।

18.10 क्रान्ति या राज्य का विरोध का अधिकार

जॉन लॉक का मत है कि राज्य का निर्माण मानव ने अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया है। अत: राज्य के निर्माण में जनइच्छा निहित होती है। यदि राज्य जनइच्छा और आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता है बल्कि अनेक प्रकार की चुनौतियाँ पैदा करता है तो लॉक का कहना है कि ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अधिकार है कि ऐसे राज्य या सरकार के विरूद्ध कांन्ति करें और उसका विरोध करें। जनता को ये अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार शासन में परिवर्तन करें। लॉक ने जनता के क्रान्ति करने के अधिकार पर दो सीमाएँ लगायी है–

1. क्रान्ति तभी की जानी चाहिए जब शासक जनता के अधिकारों की रक्षा करने में अक्षम हो और शासक वर्ग के अत्याचार ऐसे स्थिति में पहुँच जाए कि उन्हें सहन करना असम्भव हो।
2. क्रान्ति के अधिकार का प्रयोग बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है, अल्पमत द्वारा नहीं।

लॉक के क्रान्ति के इस सिद्धान्त की व्यापक आलोचना की जाती है। आलोचकों का मत है कि उसने शासन का सिद्धान्त नहीं दिया बल्कि क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जॉन लॉक के इस सिद्धान्त का अमरीकी स्वतन्त्रता सेनानी जैफरसन तथा अन्य राजनीतिज्ञों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसीलिए लॉक को क्रान्ति का दार्शनिक कहा जाता है। जॉन लॉक ने क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन 1688 की इंग्लैण्ड को गौरव पूर्ण क्रान्ति की न्यायोचित सिद्ध करने के लिए किया था।

18.11 लॉक का व्यक्तिवाद

जॉन लॉक को एक व्यक्तिवादी विचारक के रूप में जाना जाता है। वॉहन ने कहा है ''लॉक के दर्शन में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के चारों और चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की संप्रभुता अक्षुण्ण है। लॉक के विचारों में ऐसे अनेक तत्त्व है जो उसे व्यक्तिवादी विचार धारा की ओर झोकते है। वे इस प्रकार है–

1. राज्य की उत्पत्ति, व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा है।
2. व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है।
3. राज्य जन इच्छा पर आधारित है।
4. सरकार व्यक्ति के सुख और सुरक्षा के लिए अस्तित्व में है।
5. सीमित राजनीतिक शक्तियाँ प्रदान की गई।
6. शक्तियों के विभाजन का समर्थन किया गया है।
7. व्यक्ति को अधिकार है वह कानून की जाँच करें।
8. व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया है।
9. राज्य के विरूद्ध क्रान्ति करने का अधिकार दिया गया है।

इन विचारों से प्रतीत होता है कि लॉक व्यक्तिवादी विचारधारा के सूत्रधार थे।

18.12 लॉक का उदारवाद

लॉक के उदारवाद को जानने से पूर्व हमें ये जानना होगा कि उदारवाद क्या है ? उदारवाद एक ऐसी विचार धारा है जो व्यक्ति और राज्य दोनों के हितों की बराबर महत्त्व देते है। उदारवाद का मता है कि व्यक्ति के अधिकारों, स्वतन्त्रताओं और विवेक का उचित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सम्मान होना चाहिए। साथ ही राज्य को भी व्यापक शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहिए ताकि वह जनता की समस्याओं का समाधान कर सके और जन इच्छाओं व आकांक्षाओं पर खरा उतर सके। लॉक के विचारों में उदारवादी सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जॉन लॉक जिन प्राकृतिक अधिकारों की बात करता है वे उदारवाद की दिशा में अति महत्त्वपूर्ण माने जा सकते है। लॉक के उदारवाद के मुख्य आधार निम्नलिखित है–

18.12.1 विवेक में आस्था

उदारवादी विचारधारा का प्रमुख आधार विवेक और बुद्धि में मूलभूत आस्था है। तत्कालीन यूरोप में ईसाइयित ने मानव के विवेक की कठिन बंधनों में जकड़ रखा था। लेकिन लॉक ने इसका विरोध किया और लोगों को स्वयं अपने विवेक के आधार पर सोचने के लिए प्रेरित किया।

18.12.2 व्यक्ति साध्य, राज्य साधन

उदारवाद का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति होता है। लॉक ने भी व्यक्ति के हितों का उचित संरक्षण करते हुए उसे साध्य माना। लॉक का मत है कि व्यक्ति राज्य के लिए नहीं वरन् राज्य व्यक्ति के लिए बना है। अत: राज्य का ये दायित्व बनता है कि वह व्यक्ति के समझ आने वाली प्रत्येक समस्या का समाधान करें। ऐसे प्रयास करे जिससे व्यक्ति का जीवन उन्नत एवं खुशहाल हो सके।

18.12.3 राज्य मानव निर्मित संस्था

उदारवादियों की भांति जॉन लॉक राज्य को मानव निर्मित संस्था मानता है। उसका मत है कि मानव ने अपनी आवश्यकताओं के ध्यान में रखकर राज्य का निर्माण किया है। अत: राज्य मानव निर्मित होने के कारण मानव के प्रति समर्पित भाव से कार्य करेगी।

18.12.4 प्राकृतिक कानून

लॉक ने प्राकृतिक नियमों की सर्वोच्च नैतिक नियमों के रूप में स्वीकार किया है। उसने बोंदाँ और ग्रोशयस की तरह ही उन्हें प्रत्येक निरंकुश सत्ता की सीमित करने के लिए अस्त्रों के रूप में प्रयोग किया है। बार्कर के अनुसार ''हम सामान्यत: लॉक को सामाजिक समझौते का प्रवर्तक होना मानते है, लेकिन उसके बारे में यह सोचना अधिक न्याय युक्त होगा कि वह प्राकृतिक नियम की सप्रभुता का प्रवर्तक है।

18.12.5 प्राकृतिक अधिकार

जॉन लॉक ने तीन प्रकार के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख किया है ये हैं– जीवन, संपत्ति और स्वतन्त्रता का अधिकार। इनके सन्दर्भ में लॉक का मत है कि व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही इन तीन अधिकारों को लेकर पैदा होता है जिन पर प्रतिबन्ध लगाने का किसी भी शक्ति की अधिकार नहीं है। प्राकृतिक अवस्था में भी मानव इन अधिकारों का उपभोग करता था। प्राकृतिक अधिकारों का विचार प्रस्तुत कर लॉक ने केवल व्यक्ति के गौरव को बढ़ाया है अपितु उदारवाद का मुख्य आधार व्यक्ति के अधिकारों को प्रमाणित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

18.12.6 शक्ति-विभाजन

जॉन लॉक ने सरकार के अंगों के बारे में उल्लेख करते हुए साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि सरकार के अंग एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होना चाहिए। अर्थात् लॉक शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की आवश्यकता पर बल देता है। उसका मत है कि ऐसा न होने के स्थिति में अधिनायकवाद को बढ़ावा मिलता है जो व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के लिए घातककारी होती है। अत: शक्ति पृथक्करण होना चाहिए लॉक कार्य विचार उदारता का आधार स्तम्भ है। आगे चलकर माण्टेस्क्यू ने अपनी कृति दी स्पिरिट ऑफ लॉज में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। आधुनिक राज्यों ने भी इस विचार को स्वीकार कर ऐसे अपनाने की हर सम्भव कोशिश की हैं।

18.12.7 विद्रोह का अधिकार

जॉन लॉक का मत है कि राज्य का निर्माण मानव ने अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति के लिए किया है। यदि राज्य ऐसा करने में असफल रहा है और वह जन-इच्छा व आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरा है जो ऐसे राज्य या सरकार का विरोध करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का अधिकार है अर्थात् विद्रोह या क्रान्ति का माध्यम से ऐसी सरकारों को हटा सकती है। इस प्रकार लॉक ने विद्रोह को सुरक्षित रखने का प्रयास करता है।

18.12.8 सीमित सरकार

राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के हितों की रक्षा के लिए होती है। राज्य सत्ता के सुचारू रूप से संचालन हेतु सरकार की स्थापना की जाती है। जिसे जीवन, संपत्ति एवं स्वतन्त्रता के अधिकार की रक्षा का दायित्व सौंपा जाता है। शेष अधिकार जनता के पास होते है। इस प्रकार लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का माध्यम से राज्य व सरकार की स्वेच्छाचारी और अमार्यादित शक्ति पर घोड़े की लगाम का काम करता है। इसी आधार पर लास्की ने लॉक के राज्य को एक विशाल मर्यादित और भार वाली कम्पनी की संज्ञा दी है, जो संपत्ति की रक्षा करती है।

इस तरह सीमित सरकार का विचार उदारवाद एवं लोकतन्त्र की विचारधारा के अनुकूल है। सरकार को असीमित करने का अर्थ तानाशाही ही प्रोत्साहन देना है।

18.12.9 रूढ़िवादी विचारों में आस्था नहीं

उदारवाद मानवीय विवेक में विश्वास करता है और किसी भी ऐसे रूढ़िवादी विचार, सिद्धान्त या संस्था को स्वीकार करने को तैयार नहीं है जो बुद्धिसंगत है, चाहे वह कितना पुराना क्यों न हो या उस कितना भी पवित्र क्यों नहीं माना जाए। उदारवाद का विश्वास है कि यदि गति के लिए इतिहास और परम्पराओं के प्रति विद्रोह किया जाना आवश्यक हो, तो इस प्रकार का विद्रोह आवश्य ही किया जाना चाहिए। लॉक ने यूरोप के रूढ़िवादी असीमित राजतन्त्र तथा धार्मिक कट्टरता का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है।

18.12.10 धार्मिक सहिष्णुता और धर्मनिरपेक्ष राज्य

जॉन लॉक के समय यूरोप में धर्म के नाम पर अनेक बुराईयों को प्रोत्साहन मिल रहा था। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट में सर्वोच्चता के लिए जोरदार संघर्ष चल रहा था। जनता के ऊपर धर्म लादा जा रहा था जिससे लोगों की धार्मिक स्वतन्त्रता खतरें में पड़ चुकी थी। चर्च एवं पादरी धर्म की आड़ में कुकर्म कर रहे थे। जिसकी लॉक ने कड़े शब्दों में निन्दा की और धार्मिक सहिष्णुता एवं भाई-चारे की नीति का प्रतिपादन किया। उसने लोगों की आह्वान किया कि वे धर्म के मामले में पूर्ण स्वतन्त्र है।

लॉक के इस धर्म संबंधी विचार ने धर्म निरपेक्ष राज्य का बीजारोपण किया। लॉक का मत था कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता, न ही राज्य के द्वारा किसी धर्म विशेष को संरक्षण प्रदान किया जाएगा और नहीं राज्य धर्म के आधार पर भेदभाव करेगा। राज्य के अन्तर्गत सभी धर्मों को समान रूप से विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। लॉक के इस क्रान्तिकारी विचार का प्रभाव अमरीका, यूरोप सहित अनेक राष्ट्रों पर पड़ा और नव स्वतन्त्र राष्ट्रों ने अपने संविधानों में भी धर्म निरपेक्षता की नीति को स्वीकार किया।

18.12.11 प्रजातंत्र का समर्थन

प्रजातांत्रिक प्रद्धति का समर्थन, उदारवाद का स्थायी आधार है। उदारवाद का जन्म ही स्वेच्छाचारी शासन की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ और लोक प्रभुत्व उदारवाद का मूल तत्त्व है। उदारवादी विचार धारा के अनुसार सभी मानव स्वतन्त्र उत्पन्न होते है। इसलिए किसी को भी दूसरी पर उनकी सहमति के बिना शासन करने का अधिकार नहीं होता है। शासन की शक्ति जनता में निहित होती है। लॉक इस सिद्धान्त का आधुनिक युग का प्रवर्तक कहा जा सकता है। जिसने राज्य को मानवकृत बताकर सरकार को मर्यादित कर जनता को क्रान्ति का अधिकार तथा लोक सम्प्रभुता का सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिया। इससे लोकतन्त्र को बल मिला। इसमें साथ ही, संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (10 दिसम्बर, 1948) लॉक के प्रभाव की ओर इंगित करती है।

18.13 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सता है कि लॉक के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावी हैं जो व्यक्ति के अधिकार व स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने में सहायक हैं। लॉक के सम्पूर्ण दर्शन में उदारवाद की झलक दिखाई देती है, जिससे आधुनिक समय की अनेक राजनीतिक विचारधाराओं का सूत्रपात हुआ और लॉक उदारवाद के प्रवर्तक कहलाये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.14 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लॉक के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. ''प्राकृतिक अधिकारों का प्रतिपादन करके लॉक ने मानवीय गरिमा को बढ़ाया है।'' सिद्ध कीजिए।
3. ''लॉक उदारवाद के प्रवर्तक है।'' इस कथन के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मानव स्वभाव के संबंध में जॉन लॉक की क्या राय है ?
2. लॉक के अनुसार समझौते का कारण क्या था ?
3. ''शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त देकर लॉक ने सरकार को सीमित कर दिया है।'' सिद्ध कीजिए।
4. सरकार के संबंध में लॉक के विचार बताओ।
5. जॉन लॉक के जनता की क्रान्ति के अधिकार पर टिप्पणी लिखो।
6. लॉक के विचारों में व्यक्तिवादी तत्व कौन से तत्त्व है ?
7. ''जॉन लॉक धर्म निरपेक्षता के समर्थक थे।'' सिद्ध कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जॉन लॉक कौन से प्राकृतिक अधिकारों की बात करता है ?
2. जॉन लॉक का जन्म कब और कहाँ हुआ ?
3. लॉक की प्रमुख कृति का नाम लिखिए ?
4. लॉक के अनुसार समझौते का क्या स्वरूप बताया।
5. लॉक किस प्रकार की शासन पद्धति का समर्थन करता है।
6. विद्रोह का अधिकार देने वाला विचारक कौन है ?
7. इंग्लैण्ड की गौरव पूर्ण क्रान्ति कब हुई ?
8. लॉक सरकार को क्या कहकर पुकारता है ?
9. क्रान्ति का दार्शनिक किस विचारक को कहा जाता है ?
10. लॉक के राज्य की एक विशाल मर्यादित अर्थभार वाली कम्पनी की संज्ञा कौन देता है ?
11. मानवाधिकारों की सर्वोभौम घोषणा कब की गई ?

18.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चन्द्रदेव प्रसाद ''महान राजनीतिक विचारक –जॉन लॉक'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना।
2. के. एन. वर्मा ''राजदर्शन भाग।'' रस्तौगी पब्लिकेशन्स मेरठ
3. डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, ''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' ज्ञानदा प्रकाशन नई दिल्ली
4. प्रभुदत्त शर्मा, ''राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई -19

जीन जैक्स रूसो

संरचना

19.1 उद्देश्य

19.2 प्रस्तावना

19.3 रूसो का जीवन परिचय

19.4 रूसो की रचनाएँ

19.5 रूसो के सम्प्रभुत्ता संबंधी विचार

- 19.5.1 उदेयता
- 19.5.2 अविभाज्यता
- 19.5.3 अप्रतिनिधित्व
- 19.5.4 असीमितता
- 19.5.5 कानूनों का स्रोत
- 19.5.6 एकता की पोषक

19.6 रूसो के सरकार और शासन संबंधी विचार

19.7 रूसो के कानून संबंधी विचार

- 19.7.1 राजनीतिक कानून
- 19.7.2 दीवानी कानून
- 19.7.3 फौजदारी कानून
- 19.7.4 जनमत तथा नैतिकता

19.8 स्वतन्त्रता संबंधी विचार

19.9 रूसों के धर्म संबंधी विचार

19.10 रूसो के शिक्षा संबंधी विचार

19.11 व्यक्तिवादी, समाजवादी, निरंकुशतावादी एवं लोकतंत्र का समर्थक

19.12 रूसो के राजदर्शन की आलोचना

19.13 राजदर्शन को देन एवं उसका प्रभाव

19.14 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

- ➢ सामान्य इच्छा का अर्थ
- 19.14.1 वास्तविक या आदर्श इच्छा
- 19.14.2 यथार्थ या भावना प्रधान इच्छा
- 19.14.3 सामान्य इच्छा की विशेषताएँ
- 19.14.4 सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19.15 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

➢ प्रस्तावना

19.15.1 रूसो का सामाजिक समझौता

19.15.2 रूसो के सामाजिक समझौते की विशेषताएँ

19.15.3 रूसो के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की आलोचना

19.16 सारांश

19.17 अभ्यास प्रश्नावली

19.18 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

19.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य रूसो के प्रमुख विचारों को जानना है। इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप जान सकेंगे—

- रूसो स्वतन्त्रता के पुजारी के रूप में राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान रखता है,
- सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा में निहित बताकर लोकप्रिय सम्प्रभुता का समर्थन किया है,
- सम्प्रभुता संबंधी विचारों में लोकतंत्र एवं निरंकुशवाद का मिश्रण देखने को मिलेगा,
- रूसो लोकतन्त्र का प्रबल समर्थन करता है,
- स्वतन्त्रता व समानता को एक-दूसरे के पूरक मानता है,
- सामान्य इच्छा आदर्श या वास्तविक इच्छाओं का प्रयोग होती है,
- सामाजिक समझौता सिद्धान्त के तहत हव प्राकृतिक अवस्था को अच्छा मानता है परन्तु वह यह संकेत भी देता है कि धीरे-धीरे मानवीय जीवन में जटिलता आने लगती है और मानव समझौते की ओर अग्रसर होता है।

19.2 प्रस्तावना

रूसो को सामाजिक समझौते वादी महान विचारक के रूप में ख्याति है लेकिन उन्होंने अपनी कृति 'सोशल कॉटिक्ट' के माध्यम से जो विचार दिये वे राजनीति एवं मानवता के लिए अमर अजर सन्देश हैं। उनका ये कथन कि ''मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है परन्तु सर्वत्र बन्धनों से जकड़ा हुआ है।'' वे स्वतन्त्रता एवं समानता की विचारधारा के लिए महत्वपूर्ण है। यद्यपि उसके विचारों को उसके जीवन काल में स्वीकार नहीं किया गया लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् 1778 में जो फ्रांस की राज्य क्रान्ति हुई उस पर रूसो के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा गया। इस क्रान्ति ने ''स्वतन्त्रता समानता एवं विश्व बन्धुत्व'' का जो नारा दिया था वह रूसो की ही देन मानी जाती है। इस तरह रूसो ने मानवीय गरिमा तथा प्रतिष्ठा को स्थापित करने हेतु आवाज बुलन्द की। रूसो को ये विचार आधुनिक समय में भी प्रासंगिकता है उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त, लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा, व्यक्ति और राज्य के बीच स्वस्थ संबंधों का प्रतिपादन, राष्ट्रीयता की भावना का प्रतिपादन, संविधानवाद इत्यादि बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करते है। 10 दिसम्बर, 1948 की संयुक्त राष्ट्र संघ, द्वारा जो मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गई है। उसमें में रूसों के विचारों को सम्मानजनक स्थान दिया गया है। इस प्रकार राजनीतिक विचारों के इतिहास में समानता और सामान्य व्यक्ति के विकास की भावना से कोई विचारक इतना घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध नहीं, जितना की रूसो।

19.3 रूसो को जीवन परिचय

रूसो का जन्म 1712ई. में जेनेवा के एक घड़ीसाज के घर में हुआ। उसका बचपन साधारण रहा। पिता की लापरवाही के कारण रूसो अनेक बुराईयों का शिकार हो गया। अनेक वर्षों तक उसने आवारा लोगों की तरह जीवन व्यतीत किया। वह कुछ वर्षों तक जर्मनी तथा इंग्लैण्ड में भी रहा। ह्यूम और बर्क से भी रूसो का सम्पर्क हुआ। 1749 में एक निबन्ध प्रतियोगिता में रूसों को महत्त्वपूर्ण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सफलता मिली और उसकी ख्याति चारों और फैलने लगी। अपने जीवनकाल में रूसो ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। अन्त में 2 जुलाई 1778ई. को इस महान विचारक की मृत्यु हो गई।

19.4 रूसो की रचनाएँ

रूसों की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित है :- 1. लॉक नोवेल हाउस, 2. दि एमाइल, 3. सामाजिक संविदा सिद्धान्त, 4. कान्फैशन्स, 5. डायलाग्स, 6. पौलैण्ड तथा कोसिका का आदर्श संविधान।

उपर्युक्त ग्रन्थों में 'सोशल कांट्रेक्ट या सामाजिक संविदा सिद्धान्त' महत्त्वपूर्ण है।

19.5 रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार

रूसों के मतानुसार सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है क्योंकि वह समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है अत: यह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व इच्छा है। रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता का समर्थन किया और उसे अविभाज्य, अमर्यादित तथा अनश्वर बतलाया। रूसो ने सम्प्रभुता की निम्नलिखत विशेषतायें बतलाई -

19.5.1 अदेयता

सम्प्रभुता की पहली विशेषता यह है कि उसे कभी पृथक नहीं की जा सकती है और न ही किसी को दी जा सकती है, इस प्रकार यह अदेय है। रूसो स्वयं कहता है कि ''सम्प्रभुता सामान्य इच्छा का व्यवहारिक रूप में प्रयोग मात्र है। अत: यह किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जा सकती क्योंकि शक्ति या आधार तो दूसरे व्यक्ति को दिये जा सकते हैं, किन्तु अपनी इच्छा को किसी दूसरे को देना असम्भव है।''

19.5.2 अविभाज्यता

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। यह सम्प्रभुता सब में निवास करने के कारण विभाजित नहीं हो सकती।

19.5.3 अप्रतिनिधित्व

सम्प्रभुता प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, क्योंकि यह सामूहिक रूप से जनता में निवास करती है।

19.5.4 असीमितता

सम्प्रभुता असीमित होती है इस पर किसी का नियन्त्रण नहीं होता है। उसे सीमित नहीं किया जा सकता है।

19.5.5 कानूनों का स्त्रोत

सम्प्रभुता समस्त कानूनों का मूल स्त्रोत है। सम्प्रभु द्वारा दिया गया प्रत्येक आदेश कानून ही होता है।

19.5.6 एकता की पोषक

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता एकता का पोषण करती है। सम्प्रभुता के बिना तो राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इस तरह सम्प्रभुता राज्य का एकता के सूत्र में पिरोने का काम करती है।

सिजविक ने रूसो के सम्प्रभुता के सिद्धान्त को तीन बातों पर आधारित माना है, जो इस प्रकार है -

1. मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्र और समान है।
2. सरकार के अधिकार किस समझौते पर आधारित होने चाहिये, जिसे समान और स्वतन्त्र व्यक्तियों ने अपनी इच्छा से स्वीकार किया हो।
3. यह समझौता जिसे व्यक्तियों ने न्याय के लिये किया था, किसी समाज का अविभाज्य अंग बन जाता है और वह समाज अपने आन्तरिक संविधान तथा नियम निर्धारण को विनियमित करने का अखण्ड अधिकार बनाये रखता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार रूसो ने अपने सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों में **लोकतन्त्रवाद तथा निरंकुशवाद** का सम्मिश्रण किया है। रूसो ने सम्प्रभुता को अदेय कहकर राजतन्त्र का विरोध किया है।

19.6 रूसो के सरकार और शासन सम्बन्धी विचार

रूसो ने राज्य और सरकार के मध्य स्पष्ट अन्तर किया है। उसने लिखा है कि ''सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज जिसमें की सामान्य इच्छा का निवास होता है, राज्य है, जबकि सरकार केवल मनुष्य अथवा मनुष्य समूह है, जिसको समाज द्वारा यह अधिकार दिया गया है कि वह सम्प्रभुता की इच्छा पूर्ण करता है।''

रूसो का कहना है कि सरकार वास्तव में राज्य तथा जनता के मध्य की कड़ी है और राज्य निश्चित रूप से सरकार से श्रेष्ठ हे।

रूसो ने सरकारों का वर्गीकरण भी किया और सरकार के निम्नलिखित रूप बताये हैं– 1. राजतन्त्र, 2. कुलीनतन्त्र, 3. लोकतन्त्र और 4. मिश्रित सरकार ।

रूसो राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र का विरोधी है। यह प्रतिनिधित्व, प्रणाली को भी उचित नहीं मानता है। ब्रिटिश शासन प्रणाली के सम्बन्ध में उसका कथन था कि वहां की जनता केवल निर्वाचन के समय ही स्वतन्त्र है। रूसो लोकतन्त्र का प्रबल समर्थक था।

रूसो ने सरकार के अंगों का भी उल्लेख किया है। लेकिन वह सरकार के दो अंगों को ही मुख्य बताता है– कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका का उल्लेख वह नहीं करता है। उसका कहना है कि जनता स्वयं कानूनों का निर्माण करती है, इसलिए वही व्यवस्थापिका है। वह सरकार का कार्य जनता द्वारा पारित कानूनों को लागू करना, मानता है। उसका मत है कि सरकार राज्य के उन व्यक्तियों का समूह है जिसको यह अधिकार दिया गया है कि वह सामान्य इच्छा की शक्तियों का समाज के हित में प्रयोग करे। इस प्रकार रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है।

19.7 रूसो के कानून सम्बन्धी विचार

रूसो ने अपने ग्रन्थ 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' में कानून सम्बन्धी विचार प्रतिपादित किये है। उसके मतानुसार कानून व्यक्ति को अपने निर्धारित विचारों के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित करता है और उसे अनुचित कार्य करने से रोकता है। अपने ग्रन्थ 'सामाजिक संविदा में रूसो ने चार प्रकार के कानूनों को निर्माण किया है, जो इस प्रकार है–

19.7.1 राजनीतिक कानून

ये कानून सम्प्रभुता के साथ राज्य का सम्बन्ध निश्चित करते हैं।

19.7.2 दीवानी कानून

ये कानून नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं।

19.7.3 फौजदारी कानून

ये कानून अपराधियों के लिए दण्डों का निर्धारण करते हैं।

19.7.4 जनमत, नैतिकता तथा रीति-रिवाज

रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह समाज में व्यवस्था तथा समानता स्थापित करते है।

19.8 रूसो के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो का मत है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है परन्तु सर्वत्र बन्धनों से जकड़ा हुआ है। वह स्वतन्त्रता को मानव का अनिवार्य आन्तरिक तत्त्व मानता है। स्वतन्त्रता का अपहरण करने से मानवता नष्ट हो जाती है। रूसो ने स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता से नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लिया है। उसके अनुसार समाज द्वारा सामान्य हित के नियमों का पालन करने से ही स्वतन्त्रता कायम रह सकती है। लॉक की भांति रूसो ने भी स्वतन्त्रता को प्राकृतिक अधिकार न मानकर, राज्य प्रदत्त नागरिक अधिकार ही माना है। रूसो का यह भी विचार था कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता का होना असम्भव है।

वह स्वतन्त्रता और समानता को एक-दूसरे की पूरक समझता था।

19.9 रूसो के धर्म सम्बन्धी विचार

रूसो ने धर्म को राज्य के अधीन रखा। उसने तीन प्रकार के धर्मों का उल्लेख किया :- 1. वैयक्तिक धर्म, 2. नागरिक धर्म तथा 3. पुरोहित धर्म।

रूसो के अनुसार वैयक्तिक धर्म मनुष्य के आन्तरिक विश्वासों पर आधारित होता है। नागरिक धर्म रूढियों, संस्कारों और विधियों से निर्धारित होता है। पुरोहित धर्म को रूसो ने सबसे निकृष्ट धर्म की संज्ञा दी है।

19.10 रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार

अपने ग्रन्थ एमाइल में रूसो ने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया है। रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मानव की निर्वासित प्रकृति का पुर्नस्थापन करना होना चाहिए। उसने प्रगतिशील शिक्षा का समर्थन किया। उसने अपने ग्रन्थ में एक शिक्षा-प्रणाली की विस्तृत रूपरेखा का विवेचन किया है।

19.11 रूसो व्यक्तिवादी, समाजवादी, निरंकुशतावादी एवं लोकतन्त्र का समर्थक

रूसो का राजदर्शन विभिन्नताओं का सम्मिश्रण है। हारमोन कहता है, ''रूसो के दर्शन की व्याख्या उतने ही प्रकार से की जाती है, जितने व्याख्याकार है।''''रूसो एक व्यक्तिवादी विचारक था। उसने लिखा है मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, लेकिन वह सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा है।''

रूसो राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति राज्य के अभाव में भी रह सकता है।

रूसो के विचारों में समाजवाद का पुट भी पाया जाता है। रूसो मानव असमानता, असन्तोष, संघर्ष एवं कलह का विवाद का मूल कारण मानता है। रूसो निजी सम्पत्ति को कलह का कारण मानता है। वह आर्थिक विषमता को दूर करना चाहता है। सेबाइन के अनुसार, ''रूसो सम्पत्ति, के अधिकार को समाज के भीतर एक अधिकार स्वीकार करता है, व्यक्तिगत रूप में नहीं।''

रूसों के राजदर्शन में निरंकुशता भी पाई जाती है। वह कहता है, ''जो व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेश का पालन नहीं करेगा, उसे ऐसा करने के लिए मजबूर किया जा सकता है।'' वह राज्य में चर्च, समुदाय, राजनीतिक दल के गठन का विरोधी है। रूसो की सम्प्रभुता सर्वोच्च, निरंकुश, अखण्ड व अदेय है।

रूसो के विचारों में निरंकुशता के साथ लोकतन्त्र की भी धारणा पाई जाती है। उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का उदाहरण है। वह नागरिकों को व्यवस्थापिका का रूप प्रदान करता है। रूसो सम्प्रभुता का निवास जनता में मानता है। वह जन सभाओं, लोक निर्णयों तथा आरम्भक व प्रत्याछन का अनुसमर्थन है। मूरे उसे ''लोकतन्त्र का उच्चतम पुजारी'' मानता है।

19.12 रूसो के राजदर्शन की आलोचना

कतिपय विद्वानों ने अनेक तर्कों के आधार पर रूसो के राजनीतिक विचारों की आलोचना की है-

1. रूसो के राजदर्शन में असंगतियों एवं अस्पष्टता की भरमार है।

   वाहन ने लिखा है कि ''एक और तो वह राज्य का पोषक था दूसरी ओर व्यक्ति का प्रबल समर्थक था और वह इन दो विरोधी आदर्शों को छोड़ नहीं सका। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता था, दूसरी ओर उसे राज्य का दास बताता था।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रूसो के विचारों की असंगतियों पर टिप्पणी करते हुए मार्ले ने लिखा है कि ''यद्यपि उसे एक महान विचारक कहा है, किन्तु वह यह नहीं जानता था कि विचार किस प्रकार रखे जायें।''

2. हॉब्स के समान ही रूसो ने भी मानव-स्वभाव का एक पक्षीय वर्णन किया है।
3. वाल्तेयर ने उसे स्विटजरलैंड का सेवक, हू हू करने वाला उल्लू तथा नीमहकीम, जंगली आदि नामों से पुकारा जाता है।

19.13 रूसो की राजदर्शन को देन एवं उसका प्रभाव

इसमें सन्देह नहीं है कि रूसो के विचारों की कुछ आलोचना की गई है, तथापि उसकी महानता भी निर्विवाद है। वाहन ने भी लिखा है कि ''दो शताब्दीयों तक यूरोपीय विचारधारा पर रूसो का जितना प्रभाव पड़ा, उतना किसी अन्य व्यक्ति का नहीं।'' नेपोलियन बोनापार्ट ने भी एक बार कहा था कि ''यदि फ्रांस में रूसो का जन्म न हुआ, तो सम्भवत: क्रान्ति नहीं होती।''

संक्षेप में रूसो ने राजदर्शन को निम्नलिखित देने दी है :-

1. रूसो ने निरंकुश राजतन्त्र पर प्रबल प्रहार करके लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।
2. सर्वप्रथम रूसो ने ही स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया, जो फ्रांस के क्रान्तिकारियों के लोकप्रिय नारे बने।
3. रूसो ने ही सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि राज्य का आधार जनता की इच्छा है।
4. रूसो ने सर्वप्रथम राज्य ओर सरकार में अन्तर स्पष्ट किया।
5. रूसो ने अप्रत्यक्ष रूप से समाजवाद तथा लोकतन्त्र को प्रोत्साहन दिया।
6. रूसो ने राष्ट्रवादी नहीं होते हुए भी राष्ट्रवाद को प्रेरणा प्रदान की।

सेबाइन के अनुसार ''स्वयं एक राष्ट्रवादी न होते हुए भी रूसो ने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को ऐसा रूप देने में सहाहता दी कि राष्ट्रीय भावना उसे अपना सकी।''

संक्षेप में, रूसों का राजदर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वेपर के अनुसार - ''अपनी सबल बुद्धि और मौलिक प्रतिभा की छाप रूसो ने राजनीतिक धर्म ओर साहित्य पर छोड़ी तथा लैन्सन के इस कथन में कोई अतिरंजना नहीं है कि आधुनिक युग के लाने वाले समस्त मार्गों के द्वार पर हम उसे खड़ा पाते है।''

इसी प्रकार डनिंग ने लिखा है कि ''रूसो को मृत्यु के बाद उसकी आत्मा और सिद्धान्त भले ही कितने अदृश्य और बदले हुए क्यों न हो, सभी होने वाली दार्शनिक प्रणालियों व शासन विषय संगठनों में सर्वत्र दिखाई देते हैं।''

19.14 सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की अवधारणा राजनैतिक चिन्तन में एक महान सिद्धान्त है। यह आधुनिक लोकतन्त्र की आधार शिला है।

➢ सामान्य इच्छा का अर्थ

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा वास्तव में सम्पूर्ण समाज की इच्छा है। रूसो जनता की सामूहिक रूप में सर्वोच्चता स्वीकार करता है। यह इच्छा एकात्मक होती है। सामान्य इच्छा का मूल आधार व्यक्तियों की संख्या न होकर, उनका सामान्य हित है। सामान्य इच्छा के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा विलीन हो जाती है। यह व्यक्तिगत हितों एवं स्वार्थों से भिन्न समाज के सदस्यों के सामूहिक रूप में होती है। रूसो द्वारा सामान्य इच्छा तथा सभी व्यक्तियों की इच्छा में अन्तर किया गया है। उसके अनुसार सामान्य इच्छा का मूल उद्देश्य सार्वजनिक हित नहीं होता। यह व्यक्तियों की विशेष इच्छाओं का योग है। सामान्य इच्छा में व्यक्तिगत हित या स्वार्थ नहीं होता। यदि किसी एक व्यक्ति की इच्छा भी सार्वजनिक हित में है, तो सामान्य इच्छा कहलायेगी। बहुमत की इच्छा भी सदैव सामान्य इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि बहुमत भी अपने स्वार्थ के कारण सामान्य जनहित के विरूद्ध जा सकता है। अत: सामान्य इच्छा न तो मनुष्यों की समस्त इच्छाओं का योग है। और न सामान्य इच्छा के लिए बहुमत आवश्यक है। सामान्य इच्छा, वास्तव में व्यक्तियों की आदर्श

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इच्छाओं का योग है। बोसोके के अनुसार यह पूर्ण समाज की इच्छा है अथवा उन समस्त व्यक्तियों की इच्छा है, यदि इसका ध्येय सामान्य हित हो। ग्रीन के अनुसार, ''सामान्य उद्देश्यों की सामान्य चेतना का नाम ही सामान्य इच्छा है।''

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा केवल एक अनुबन्ध है, जो एक साथ सामाजिक भी है और राजनीतिक भी। सामान्य इच्छा अपने सदस्यों के निजी हितों से भिन्न रूप में सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है। मनुष्यों में सदैव दो इच्छायें मिलती है :- 1. वास्तविक या आदर्श इच्छा, 2. यथार्थ या भावना प्रधान इच्छा।

19.14.1 वास्तविक या आदर्श इच्छा

वास्तविक या आदर्श इच्छा विवेकपूर्ण, कल्याणकारी एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। आदर्श इच्छा व्यक्ति की श्रेष्ठ इच्छा है, तथा उसमें स्थायी रूप से पायी जाती है। यह इच्छा सामूहिक इच्छा होती है तथा इसका उद्देश्य सामान्य हित होता है।

19.14.2 यथार्थ या भावना प्रधान इच्छा

यथार्थ इच्छा संकुचित, सीमित, स्वार्थ पूर्ण, विवेक शून्य एवं अस्थाई होती है। यह इच्छा मनुष्य को स्वार्थी तथा आत्म केन्द्रित बना देती है। इस इच्छा के वशीभूत होकर जब भी मनुष्य कार्य करता है तो उसका कार्य विवेकशून्य तथा स्वार्थ परक होता है। यह व्यक्ति की संकीर्ण इच्छा होती है।

डॉ. आशीर्वादम के द्वारा रूसो द्वारा प्रतिपादित यथार्थ इच्छा एंव आदर्श के भेद को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया गया है :-

यथार्थ इच्छा मनुष्य की भावुक तथा विचारशील इच्छा है। यह जीवन के समस्त पहलूओं पर सामूहिक रूप से विचार नहीं करती है। यह व्यक्तिगत स्वार्थ पर ध्यान देती है। यह व्यक्ति की समाज विरोधी इच्छा है, उसकी क्षणिक तथा तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्व-विरोधी है।

आदर्श इच्छा, ''जीवन के समस्त पहलूओं पर व्यापक रूप से दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के बीच सामन्जस्य प्रदर्शित करती है।''

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा सदैव, अपरिवर्तन शील, स्थायी एवं सार्वजनिक हित में ही कार्य करती है।

सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य करना ही स्वतन्त्रता है। यदि कोई व्यक्ति राज्याज्ञा की अवहेलना करता है तो शासक उसे राज्याज्ञा को मानने के लिए विवश कर सकता है। रूसो के अनुसार, ''जो कोई सामान्य इच्छा का पालन करने से मना करता है, उसे इसका पालन करने के लिए बाधित किया जायेगा।'' अत: रूसो की सामान्य इच्छा सामूहिक मस्तिष्क तथा समस्त नागरिकों के सर्वोत्तम हितों का मिश्रण है।

19.14.3 रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

रूसो की सामान्य इच्छा की निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती है -

1. व्यक्तिगत इच्छायें सामान्य इच्छा में विलीन हो जाती है।
2. सामान्य इच्छा सर्वोच्च प्रभु है।
3. सामान्य इच्छा अविभाज्य, अदेय, स्थायी, निष्पक्ष एवं विवेकपूर्ण होती है।
4. सामान्य इच्छा में एकता पायी जाती है।
5. सामान्य इच्छा असीमित होती है।
6. व्यक्ति के लिए सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करना अनिवार्य है।

19.14.4 सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है, जिनमें से कतिपय प्रमुख है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अस्पष्ट एंव जटिल है। वेपर के अनुसार, ''जब सामान्य इच्छा का पता ही रूसों हमें नही दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ?''
2. सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन व्यक्ति के लिये अनिवार्य है, इस सन्दर्भ में यह सिद्धान्त निरंकुशतावाद को जन्म देता है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आघात करता है।
3. सामान्य हित का निर्धारण नितान्त कठिन कार्य है।
4. आदर्श इच्छा तथा यथार्थ इच्छा के मध्य अन्तर मात्र शाब्दिक मिथ्या है। ऐसा व्यवहार में करना असंभव है।
5. सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिनिधि प्रणाली तथा दलीय व्यवस्था के विपरीत होने के कारण आधुनिक विशाल राज्यों में व्यावहारिक नहीं है।
6. कतिपय आलोचकों के अनुसार रूसों की सामान्य इच्छा न तो सामान्य है और न इच्छा यह तो निराधार, निराकार एवं अमूर्त चिन्तन है।

सामान्य इच्छा अन्य समुदायों के विकास के प्रति उदासीन है क्योंकि रूसो अन्य समुदायों को सामान्य इच्छा के निर्माण में बाधक मानता है।

➢ सारांश

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में रूसों की महान देन है। डॉ. आशीर्वादम के अनुसार, ''कुछ विचारकों की दृष्टि में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त यदि भयंकर नहीं तो सारहीन अवश्य है, जबकि दूसरे विचारकों के लिए यह सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनीतिक दर्शन का एक बुनियादी पत्थर है।'' प्रो. मैक्सी के अनुसार सामान्य इच्छा की धारणा ध्यान देने योग्य है। यह रूसो की व्यवस्था का मूल प्रश्न है तथा सम्भावित राजनीति सिद्धान्त के लिए उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

19.15 रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त

रूसो द्वारा प्राकृतिक अवस्था को आदर्श अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य बर्बर होते हुये भी सभ्य था वह स्वयं में इतना संतुष्ट था कि उसे न किसी के सहयोग की अपेक्षा थी और न ही किसी का अहित करने की उसकी कामना थी। वह सुखमय जीवन व्यतीत करता था। उसमें अच्छाई-बुराई, पाप-पुण्य, ऊंच-नीच आदि की भावना नहीं थी। वह नैतिकता के ज्ञान से शून्य असामाजिक प्राणी या जिसके पास न परिवार था और न ही सम्पत्ति थी। मनुष्य सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त था। वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए कार्य करता था। सेबाइन के शब्दों में ''प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक पशु था, जिसका व्यवहार पूर्णरूप से स्वाभाविक प्रवृत्तियों के द्वारा नियमित होता था। उसे भाषा का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था, केवल प्रवृत्तियों का संदेश समझता था।'' तथा भाषा के बीना कोई भी विचार सम्भव नहीं है।

परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य न तो नैतिक था और न सुखी ही।

रूसो द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था स्वर्ग के समान सुन्दर एवं सरल जीवन की अवस्था थी, किन्तु इस अवस्था में विवेक का नितान्त अभाव था।

19.15.1 रूसो का सामाजिक समझौता

रूसो के अनुसार जनसंख्या में धीरे-धीरे वृद्धि, तथा विवेक के विकास कारण निजी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। परिणामस्वरूप आदिम बर्बर मानव (Noble Savage) की शान्ति समाप्ति हो गई। मनुष्यों में पारस्परिक भेदभाव तथा प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हो गई। रूसो कहा है कि ''वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक भू-भाग के बाड़े को घेरकर यह कहा कि यह मेरी भूमि है और जिससे उस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये।''

मानव का जीवन अशान्त हो गया तथा इससे बचने के लिए मनुष्यों ने परस्पर समझौता करके नागरिक जीवन की स्थापना कर ली। प्राकृतिक स्वतन्त्रता के स्थान पर नागरिक स्वतन्त्रता कायम हो गई तथा मनुष्य जाति के जीवन की रक्षा हेतु एक राजनैतिक संगठन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का निर्माण किया गया। रूसो के समझौते का मूलाधार सामान्य इच्छा थी। रूसो द्वारा प्रतिपादित समझौते के अन्तर्गत शासक सामान्य इच्छा के अनुसार शासन करता था तथा उसको उसी इच्छा के आधार पर पदच्युत् भी किया जा कसता था रूसो के अनुसार समाज के सांचे में न कोई स्वामी होगा और न कोई सेवक, उसमें सभी सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकार समाज को दे दिये, इसके पश्चात समाज ने सीमित अधिकार वाली सरकार का निर्वाचन किया।

यह सरकार जनता की सामान्य इच्छा की सेवक थी।

19.15.2 रूसो के सामाजिक समझौते की विशेषतायँ

रूसो के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की विशेषताओं को निम्नलिखित रुप से परिभाषित कर सकते हैं –

1. रूसो के सामाजिक समझौते का आधार सामान्य इच्छा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त अधिकार समाज को दे देता है तथ समाज की स्थिति सर्वोच्च हो जाती है। शासक सामान्य इच्छा का अभिकर्त्ता बन जाता है।
2. इस समझौते के द्वारा निरंकुश शासन की उत्पति नहीं होती। शासक अधिकार सम्पन्न नहीं होता है तथा सार्वभौम सत्ता जनता के हाथ में होती है।
3. कानूनों का स्त्रोत व्यक्ति विशेष की अपेक्षा सामान्य इच्छा है।
4. सामान्य इच्छा के द्वारा लोक कल्याण सम्भव होगा।
5. सामान्य इच्छा के क्षेत्राधिकार में प्रत्येक व्यक्ति आ जाता है।
6. सामान्य इच्छा का आधार जनता की इच्छा है। यह एक की इच्छा भी हो सकती है और समस्त व्यक्तियों की भी, लेकिन इस इच्छा में जन सामान्य का हित निहित है।

19.15.3 रूसो के सामाजिक समझौत सिद्धान्त की आलोचना

रूसो के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती हैं –

1. रूसो समाज एवं राज्य के मध्य अन्तर नहीं करता है तथा उसने समाज को भी राज्य मान लिया।
2. रूसो द्वारा व्यक्त सामान्य इच्छा की अवधारणा अत्यन्त अस्पष्ट तथा अमूर्त है। सामान्य इच्छा के सामने पूर्ण समर्पण के पश्चात् व्यक्ति राज्य के अधीन हो जाता है।
3. हाब्स तथा लॉक की भांति रूसो की समझौते सम्बन्धी अवधारणा ऐतिहासिक तथ्यों से परे है।

19.16 सारांश

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रजातन्त्र के विकास में सहायक हुआ है। यह सिद्धान्त शासन में जनता की इच्छा पर बल देता है।

19.17 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. रूसो के राजदर्शन पर निबन्ध लिखिए।
2. रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा पर प्रकाश डालिए।
3. रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. रूसो ने सम्प्रभुत्ता की कौन–कौन–सी विशेषताएँ बताई है ?
2. रूसो के सरकार और शासन संबंधी विचार लिखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

3. रूसो ने कानून के कितने प्रकार बताए है ?
4. स्वतन्त्रता के संबंध में रूसों के विचार बताओ।
5. रूसो की राजदर्शन को क्या देन है ?
6. सामान्य इच्छा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
7. रूसो के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की विशेषताएँ बताओ।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. फ्रांस की राज्य क्रान्ति पर किसका प्रभाव पड़ा ?
2. रूसो का जन्म कब हुआ ?
3. रूसो की सम्प्रभुता संबंधी विचारों में कौनसी विचारधारा का मिश्रण मिलता है ?
4. रूसो सरकार के किस रूप का समर्थन करता है ?
5. रूसो ने कानून संबंधी विचारों का प्रतिपादन अपनो कौनसी कृति में किया है ?
6. रूसो कितने प्रकार के कानूनों की बात करता है ?
7. रूसो किस धर्म को निकष्ट धर्म कहता है ?
8. सामान्य इच्छा क्या है ?
9. रूसो को लोकतंत्र का पुजारी किसने कहा है ?

19.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चन्द्र देव प्रसाद, ''महान राजनीतिक विचारक जीन जैक्स रूसो'' भारती भवन पब्लिकेशन्स, पटना
2. बी. आर. पुरोहित, ''राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
3. बी. एल. फड़िया, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (प्लेटो-बर्क)'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
4. श्रीराम वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' कॉलेज बुक हाऊस, जयपुर
5. ओ.पी. गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'' मयुर पेपर बेक्स, नौएडा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 20

जर्मी बेन्थम (1748-1832)

संरचना

20.1 उद्देश्य

20.2 प्रस्तावना

20.3 बेन्थम : जीवन परिचय

20.4 बेन्थम की रचनाएँ

20.5 बेन्थम का उपयोगितावाद

- 20.5.1 उपयोगितावाद का अर्थ
- 20.5.2 नैतिकता की परम्परागत धारणाओं का खण्डन
- 20.5.3 प्रकृति ने मनुष्य को दो सत्ताधारी स्वामियों के अधीन रखा है।
- 20.5.4 उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख निवारण का सिद्धान्त
- 20.5.5 सुख-दुःख का वर्गीकरण
- 20.5.6 सुख-दुःख के निर्धारक तत्त्व
- 20.5.7 सुख-दुःख के स्रोत
- 20.5.8 सुख की गणना-सुखवादी मापक यन्त्र
- 20.5.9 सुख की मात्रा समान
- 20.5.10 राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख
- 20.5.11 कानून का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख

20.6 बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त की आलोचना :-

- 20.6.1 सुखवादी मान्यता
- 20.6.2 अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख असम्भव
- 20.6.3 सुख भौतिक न होकर मानसिक होता है
- 20.6.4 सुखों के गुणात्मक भेद की उपेक्षा
- 20.6.5 सुखों को मापा नहीं जा सकता है
- 20.6.6 नैतिकता की उपेक्षा
- 20.6.7 व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच तालमेल का अभाव
- 20.6.8 बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहन
- 20.6.9 साध्य से साधन का मूल्यांकन करने वाला सिद्धान्त
- 20.6.10 अमनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
- 20.6.11 मानव प्रकृति का अत्यधिक सरलीकरण
- 20.6.12 राजनीति दर्शन न होकर शासन का दर्शन

20.7 बेन्थम के राजनीतिक विचार :-

- 20.7.1 राज्य की उत्पत्ति के संबंध में बेन्थम के विचार
- 20.7.2 सम्प्रभुता संबंधी बेन्थम के विचार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.7.3 बेन्थम द्वारा प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन
20.7.4 बेन्थम के शासन संबंधी विचार
20.7.5 बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य
20.7.6 कानून संबंधी विचार
20.7.7 स्वतन्त्रता संबंधी विचार
20.8 सारांश
20.9 अभ्यास प्रश्नावली
20.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

20.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य बेन्थम के उपयोगितावादी तथा राजनीति विचारों को जानना है, जिनमें व्यक्ति को केन्द्र मानते हुए विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इस अध्याय से आप जानेंगे—

- उपयोगितवाद जो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर आधारित है,
- राज्य से यह अपेक्षा करता है कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग या विधि निर्माण सुखवाद को ध्यान में रखकर ही करें,
- बेन्थम यह दावा करता है कि व्यक्ति सदैव सुखों की ओर तथा दु:खों से दूर भागता है,
- इसमें उपयोगितावाद की तीव्र आलोचना की गई है, उसे भी जान सकेंगे, जो आध्यात्मिक सुखों की बजाए भौतिक सुखों को महत्त्व देता है,
- राज्य की उत्पत्ति के संबंध में वह व्यक्ति की आज्ञा पालन करने की प्रवृत्ति को मुख्य कारण मानता है।

20.2 प्रस्तावना

बेन्थम का नाम राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उपयोगितावाद के सिद्धान्त में प्रमुख एवं व्यक्तिवाद या उदारवाद के समर्थक, एक उच्चकोटि के नैतिकतावादी, महान् सुधारवादी, विधिवेत्ता और यथार्थवादी विचारक के रूप में लिया जाता है।

19वीं शताब्दी के पूवार्द्ध में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इंग्लैण्ड की महत्तवपूर्ण देन उपयोगितावाद का सिद्धान्त था। उपयोगितावाद एक नैतिक सिद्धान्त है जिसका मूलभूत आधार 'सुखवाद' है। इसका मौलिक आधार यह है कि मनुष्य हमेशा सुख चाहता है। इसीलिए मनुष्य सुखों की ओर तथा दु:खों से दूर भागता है। यद्यपि बेन्थम से पूर्व डेविड ह्यूम, रिचर्ड, कम्बरलैण्ड, फ्रांसिस हचेसन, प्रीस्टले आदि विचारकों ने उपयोगितावाद के संबंध में विचार प्रस्तुत किये थे किन्तु बेन्थम ने उपयोगितावाद को क्रमबद्ध, व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। अत: बेन्थम उपयोगितावाद का मुख्य प्रतिपादक है। बेन्थम के अथक प्रयासों से उपयोगितावाद नैतिक सिद्धान्त की अपेक्षा राजनीति का प्रमुख सिद्धान्त बना।

बेन्थम केवल उपयोगितावाद् के जनक नहीं थे, अपितु उनकी पहचान एक सुधारक के रूप में भी की जाती है, उन्होंने उस समय ब्रिटेन में प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था, कानून व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करतेहुए उनमें व्यापक सुधार लाने हेतु सुधार योजना प्रस्तुत की। हेनरीमेन के शब्दों में ''बेन्थम के समय के बाद जितने भी कानूनी सुधार किये गये हैं उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें बेन्थम का प्रभाव न हो।'' इस प्रकार आधुनिक लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के अन्तर्गत सामाजिक सुधार, न्याय व्यवस्था में सुधार, जन साधारण तथा विशेष रूप से पिछड़े वर्गों के उत्थान के निमित्त राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों में सुधार लाने की भावना के विकास में समस्त मानवता बेन्थम की ऋणी है।

20.3 बेन्थम : जीवन परिचय

जर्मी बेन्थम का जन्म 1748 ई. में लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। उसके पिता और पितामह उस समय के श्रेष्ठ कानूनविद् थे। उसके पिता जिरमिह बेन्थम का सपना था कि उनका पुत्र भी एक नामी वकील बने। बेन्थम ने 15 वर्ष की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अवस्था मे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से ।।।तक की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् उसने 'लिंकन्स इन' में कानूनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए प्रवेश किया। 1768 में उसे किताबों की एक दुकान में प्रीस्टले की एक पुस्तिका 'शासन पर निबंध' मिली, जिसमें उसे एक पृष्ठ पर हचेसन की पुस्तक से उदघृत वाक्यांश 'अधिकतम संख्या में अधिकतम सुख' मिला। इसने बेन्थम के मन मस्तिष्क को झकझोर कर रख दिया। इसे पढ़कर वह आन्नद विभोर हो उठा मानो उसे कोई मणिमिल गई हो। इस वाक्यांश में जो अर्थ छिपा था वह बेन्थम की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा का आधार एवं आदर्श बना।

लिंकन्स इन में बेन्थम ने अपना अधिकांश समय विधिशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन में लगाया। इस दौरान उन्होंने पाया कि प्रचलित कानून, क्रूर और पाशविक है। कानून का उल्लंघन करने वाले बच जाते हैं तथा निरपराध दण्ड पाते हैं। अत: बेन्थम ने इन कानूनों में सुधार लाने का बीड़ा उठाया। इस क्रम में बेन्थम ने ब्लेकस्टोन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाते हुए सन् 1776 में अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया।

बेन्थम के लेखन का क्षेत्र व्यापक था। उसने नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्क शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर ग्रन्थों की रचना की। 1789 में उनकी प्रसिद्ध कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दि प्रिंसिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन' का प्रकाशन हुआ। 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने बेन्थम को 'फ्रेंच नागरिक' की सम्मान जनक उपाधि प्रदान की। 6 जून, 1832 को 84 वर्ष की आयु में लन्दन में उनका निधन हो गया।

20.4 बेन्थम की रचनाएँ

बेन्थम की प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित है–

1. फ्रेगमेण्ट्स ऑफ गवर्नमेण्ट, 1776
2. एन इन्ट्रोडक्शन टू दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन 1789
3. एमिनसिपेट योर कॉलोनीज, 1983
4. प्रिन्सिपल्स ऑफ इन्टरनेशनल लॉ,
5. डिसर्कोसेज ऑन सिविल एण्ड पेनल लेजिस्लेशन 1802
6. एथ्योरी ऑफ पनिशमेण्ट एण्ड रिवार्ड्स 1811
7. केसिडम ऑफ पार्लियामेन्टरी रिफार्म्स 1809

20.5 बेन्थम का उपयोगितावाद

बेन्थम ने अपनी कृति 'एन इन्ट्रोडक्शन टू द प्रिंसिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड बेजिस्लेशन (1789) के अन्तर्गत प्राचीन यूनानी विचराक एपीक्यूरस के इस विचार को नए सन्दर्भ में दोहराया कि मनुष्य को ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे वह अपने सुख को बढ़ा सके और दु:ख से बच सके। बेन्थम ने इस विचार को 18वीं और 19वीं शताब्दी के यूरोप की परिस्थितियों के लिए उपयुक्त रूप में ढ़ालने का प्रयत्न किया। उसका यह तर्क था कि पूर्ण अधिकार, पूर्ण प्रभुसत्ता और पूर्ण न्याय जैसी संकल्पनाएं सामाजिक जीवन के यथार्थ से मेल नहीं खाती। मानव जीवन के मामले में केवल एक ही पूर्ण मानदण्ड लागू होता है, वह है पूर्ण इष्टसिद्धि। अत: राजनीतिक संस्थाओं और सार्वजनकि नीतियों को मानवीय अधिकारों और दायित्वों की किन्हीं काल्पनिक और मनमानी संकल्पनाओं के सन्दर्भ में उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं मानना चाहिए, बल्कि उन्हें उनके परिणामों के आधार पर जाँचना चाहिए। बेन्थम का मत था कि व्यक्ति की सन्तुष्टि ही उपयोगितावाद का मापदण्ड है। अत: सम्पूर्ण समाज के लिए नीति का निर्माण करते समय अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख का ध्यान रखना चाहिए। बेन्थम के उपयोगितावाद को निम्नलिखित शीर्षकों में प्रस्तुत किया जा सकता है–

20.5.1 उपयोगितावाद का अर्थ

बेन्थम के अनुसार उपयोगितावाद के सिद्धान्त का अर्थ उस सिद्धान्त से है जो प्रत्येक कार्यवाही को, चाहे वह जो भी क्यों न हो ऐसी धारणा के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार करता है, जिससे ऐसा लगता है कि विचार के पक्ष के हित में या अभिवृद्धि हो रही है या ह्रास कर रहा है।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University), Meerut

उपयोगिता की परिभाषा करते हुए बेन्थम ने लिखा है– ''उपयोगिता किसी वस्तु का वह गुण है जिसके द्वारा वह किसी ऐसे पक्ष के लिए लाभ, सुविधा, सुख, अच्छाई या कल्याण का सृजन करती है अथवा ऐसे पक्ष के विरूद्ध होने वाले छल, पीड़ा, बुराई या अहित को रोकने का कार्य करती है जिसके हित के बारे में विचार किया जा सके।''

20.5.2 नैतिकता की परम्परागत धारणाओं का खण्डन

बेन्थम ने तत्कालीन समय में प्रचलित नैतिकता की सभी धारणाओं का खण्डन किया और उपयोगिता को नैतिकता तथा मानवीय जीवन का आधार बनाया। बेन्थम के समय नैतिकता के विभिन्न विचार प्रचलित थे। प्राय: लोग ईश्वर की इच्छा को नैतिकता का आधार मानते थे। इसके अलावा नैतिकता के संबंध में प्राकृतिक विधि की धारणा प्रचलित थी और दार्शनिक मनुष्य के अन्त: करण को नैतिकता का स्त्रोत मानते थे। बेन्थम इन सभी को अस्वीकार करते हुए कहता है कि, ''ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि और अन्त: करण ये सब कुछ व्यक्तियों या आत्मगत कल्पनाएं मात्र हैं और मनुष्य को जो कुछ अच्छा लगता है उसी को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अन्तरात्मा के अनुकूल कह देता है। ईश्वरीय इच्छा प्राकृतिक विधि या अन्तरात्मा के संबंध में प्रामाणिक रूप में हमारे द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए ये धारणाएं निरर्थक है।''

20.5.3 प्रकृति ने मनुष्य को दो सत्ताधारी स्वामियों के अधीन रखा है

बेन्थम के अनुसार प्रकृति ने मुनष्य को सुख एवं दु:ख नामक दो सर्वोच्च प्रभूओं के शासन के अधीन रहता है। हमारे द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्य का आधार सुख–दु:ख ही होता है। व्यक्ति वही कार्य करता है जिससे सुख मिले। बेन्थम के शब्दों में, ''प्रकृति ने मानव समाज को दो सर्वाधिक सम्पन्न स्वामियों– सुख और दु:ख के अधिपत्य में रख दिया है। इन स्वामियों का ही यह कर्त्तव्य है कि वे हमें बताएं कि हमें क्या करना चाहिए तथा निर्णय करें कि हम क्या कर सकते है।''

20.5.4 उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दु:ख निवारण का सिद्धान्त

बेन्थम का उपयोगितावाद सुख एवं दु:ख की आधारशिला पर टिका हुआ है। बेन्थम के अनुसार जो वस्तु सुख की अनुभूति देती है वह अच्छी, ठीक तथा उपयोगी है और जिस वस्तु से दु:ख मिलता है वह कार्य बुरा, अनुचित एवं अनुपयोगी है। मानव के समस्त कार्यों की कसौटी उपयोगिता है। बेन्थम के शब्दों में ''उपयोगिता के सिद्धान्त से हमारा आशय उस सिद्धान्त से है जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को उचित ठहराता है या अनुचित ठहराता है। यह बात हर कार्य के लिए कहता है और इसलिए मेरी यह बात किसी एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि हर सरकारी कार्य पर लागू होती है। इस प्रकार किसी भी वस्तु मापदण्ड सुख एवं दु:खी ही होता है।''

20.5.5 सुख–दु:ख का वर्गीकरण

सुख तथा दु:ख के स्वरूप को समझाने के लिए उन्हें बेन्थम ने दो वर्गों में बांटा है। जिसमें सामान्य सुख के 14 और सामान्य दु:ख के 12 भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं —

➢ **सामान्य सुख** :– 1. इन्द्रिय सुख, 2. वैभव सुख, 3. कौशल, 4. मित्रता का सुख, 5. यश का सुख, 6. शक्ति या सत्ता का सुख, 7. कल्पना का सुख, 8. धार्मिक सुख, 9. दया का सुख, 10. निर्दयता का सुख, 11. स्मृति सुख, 12. आशा का सुख, 13. सम्पर्क या मिलन सुख, 14. सहायता का सुख।

➢ **सामान्य दु:ख** :– 1. दरिद्रता, 2. भावना, 3. द्वियकिचाहट, 4. शत्रुता, 5. अपयश, 6. धार्मिकता, 7. दया, 8. निर्दयता, 9. स्मृति, 10. कल्पना, 11. आशा व 12. सम्पर्क।

20.5.6 सुख–दु:ख के निर्धारक तत्त्व

बेन्थम के अनुसार मनुष्य एक भावात्मक प्राणी होता है। अत: प्रत्येक मनुष्य की भावना जितनी सघन होती है उतनी ही सुख या दु:ख को ग्रहण तथा अनुभव करने की उसकी क्षमता होती है। इस प्रकार किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा अनुभव की जाने वाली सुख–दु:ख की मात्रा इनके ग्रहण या अनुभव करने की सामर्थ्य को निश्चित करने वाले तत्त्वों पर निर्भर करती है। ये 32 तत्त्व है, इनमें प्रमुख हैं– स्वास्थ्य, शक्ति, कठोरता, शारीरिक कमजोरी, मन की चंचलता, मनोवृत्ति, अनुभव ग्रहण करने की शक्ति, नैतिक पक्षपात, धार्मिक पक्षपात, लिंग, शिक्षा, जलवायु, वंश आदि। बेन्थम के अनुसार सुख दु:ख की मात्रा की गणना करते हुए इन्हें ध्यान में रखना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.5.7 सुख-दुःख के स्त्रोत

बेन्थम सुख-दुःख प्राप्ति के चार स्त्रोत बतलाया है। ये चार स्त्रोत हैं- भौतिक, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रकृति से प्राप्त होने वाले सुख भौतिक सुख कहलाता है। जब कोई सुख या दुःख नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा होता है। जब कोई सुख या दुःख राज्य के सम्पर्क अथवा कानून के कारण मिलता है तो यह राजनीतिक सुख-दुःख कहलाता है। धार्मिक मान्यताओं के विरूद्ध काम करने पर जो सुख-दुःख मिलता है उसका स्त्रोत धर्म होता है।

20.5.8 सुख की गणना-सुखवादी मापक यन्त्र

सुख-दुःख का निश्चय कैसे किया जाए? इसके लिए बेन्थम सुखवादी मापक यन्त्र का आविष्कार करता है, जिसके अनुसार सुखों और दुःखों को तुलनात्मक ढंग से कुछ कसौटियों पर कसा जाता है और उनकी मात्रा को नापा जाता है। इसके आधार पर विभिन्न प्रकार के कार्यों या वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सुखों का मूल्य ज्ञात किया जा सकता है। ये कसौटियां 7 है- 1. तीव्रता, 2. स्थिरता, 3. निश्चितता, 4. निकटता अथवा दूरियां, 5. जन शक्ति, 6. विशुद्धता तथा 7. विस्तार।

20.5.9 सुख की मात्रा समान

बेन्थम के अनुसार गुण की दृष्टि से सभी सुख समान है। यदि उनमें कोई अन्तर है तो वह अधिक और कम का अन्तर है। उसके अनुसार, गणना करने में जो की सुख मात्रा में अधिक हो, उसे अपनाना चाहिए। सुखों की मात्रा समान होती है। बेन्थम के शब्दों में, ''सुख की मात्रा समान होने पर पुशपिन (बच्चों का खेल) और कविता का रसास्वादन दोनों एक ही कोटि के आनन्द है।''

20.5.10 राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिमतम सुख

बेन्थम के अनुसार राज्य के आदेश का पालन इसलिए होता है कि यह उपयोगी है और सामान्य हित तथा सुख बढ़ाने वाला है। राज्य के नियमों के आज्ञा-पालन से होने वाले लाभ आज्ञा भंग के दुष्परिणामों से अधिक है। बेन्थम की दृष्टि में राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञा-पालन की आदत है। इस प्रकार राज्य द्वारा उठाये गये प्रत्येक कदम का आधार उपयोगिता होना चाहिए ताकि सुखों में अभिवृद्धि तथा दुखों या कष्टों का निवारण हो सके।

20.5.11 कानून का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख

बेन्थम के अनुसार, शासन और कानून की उत्पत्ति और अस्तित्व उनकी सामान्य उपयोगिता पर निर्भर करती है। उनका पालन भी लोग इसलिए करते हैं कि वे उपयोगी है। अतः उनका मत है कि कानून का निर्माण भी उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुकूल होना चाहिए। यदि राज्य के कानून उपयोगिता की कसौटी पर खरे न उतरें तो उन्हें बदल देना चाहिए। अच्छा कानून वही है जिससे अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम हित होता है।

20.6 बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त की आलोचनाएँ

बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती हैं, जिन्हें हम निम्नलिखित रुप से रख सकते हैं —

20.6.1 सुखवादी मान्यता

सुखवादी मान्यता बेन्थम के विचारों की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह कहना पूर्णतया गलत है कि सुख तथा दुःख हमारे सम्पूर्ण आचार व विचार को निर्धारित करते हैं। यह जीवन की एक अधूरी व्याख्या है जो हमारे आचरण को प्रभावित करती है। यदि सुख-दुःख को एक तत्त्व मान ले तो हमारे समाज का विकास अवरूद्ध हो जाएगा या फिर समाज में सुख प्राप्त करने की होड़ मच जाएगी। जिससे सामाजिक संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा। वास्तव में मानव का जीवन कुछ आदर्शों पर आधारित होता है। उसकी कुछ मान्यताएं होती है, जिनको आधार मानकर मनुष्य आगे बढ़ता है चाहे इसके लिए उसे कितना भी कष्ट झेलना क्यों न पड़े।

20.6.2 अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख असम्भव

बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का अर्थ अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख किन्तु यह अव्यावहारिक और असंगत है। यह तय करना कठिन है कि किस कार्य को करने से अधिक सुख मिलेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.6.3 सुख भौतिक न होकर मानसिक होता है

बेन्थम भौतिक सुख को सर्वोच्च मानता है जो उसकी बहुत बड़ी भूल है। वास्तविक सुख तो मानिसक होता है जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य अपना सर्वत्र न्यौछावर कर देता है। चाहे इसके लिए उसे कितना भी बड़ा त्याग करना क्यों पड़े। यदि भौतिक सुख सर्वोच्च होता तो भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध को राज छोड़कर तपस्या के लिए जंगल में जाना नहीं पड़ता। इस तरह भारत की आजादी के लिए हजारों नामी एवं बेनामी स्वतन्त्रता सेनानियों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

20.6.4 सुखों के गुणात्मक भेद की उपेक्षा

बेन्थम सुख को मात्रात्मक मानता है जबकि असली सुख गुणात्मक होता है। हमें स्वादिष्ट भोजन करने तथा काव्य का रसास्वादन करने में जो आनन्द मिलता है, वह एक जैसा ही है। सुखों में मात्रा तथा गुणों की दृष्टि से अन्तर होता है। कुछ सुख मात्रा की दृष्टि से कम होते हुए भी गुणों की दृष्टि से उच्च होते हैं। सोले ने लिखा है कि, यदि विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेद को स्वीकार कर लिया जाए तो सारी विचार प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

20.6.5 सुखों को मापा नहीं जा सकता

बेन्थम सुखवादी मापक यन्त्र से सुखों को मापने की बात करता है लेकिन वास्तविकता यह है कि सुखों को कभी मापा नहीं जा सकता। हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं जिसके द्वारा हम किसी भावना की तीव्रता की निश्चित मात्रा की किसी अन्य भावना की तीव्रता से तुलना कर सके। डेविडसन के अनुसार आठ दु:खों में से चार सुखों को घटाने की बात मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं हो सकती।

20.6.6 नैतिकता की उपेक्षा

बेन्थम के दर्शन की सबसे कमजोर कड़ी नैतिकता की उपेक्षा करना है। बेन्थम भारतीय चारवाक विचारकों की भांति आनन्द को ही जीवन का एक चरम लक्ष्य मान बैठा है। उसकी दृष्टि में धर्म, नैतिकता और अन्त:करण का कोई स्थान नहीं है। बेन्थम वादी दर्शन को अपनाने का अर्थ घोर अव्यवस्था एवं अनैतिकता को गले लगाना है। मुरे ने लिखा है कि ''यदि बेन्थम के मतानुसार हम अन्त:करण को स्वीकार नहीं करते तो नैतिक एवं अनैतिक कार्यों में कोई भेद नहीं रहेगा केवल उपयोगी और अनुपयोगी कार्य ही रहेगें।''

20.6.7 व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच तालमेल का अभाव

आलोचकों का मानना है कि बेन्थम व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच तालमेल प्रस्तुत नहीं कर पाये। वे यह नहीं समझ सके कि व्यक्ति और राज्य के हितों के बीच भी संघर्ष हो सकता है। बेन्थम ने यद्यपि माना है कि अलग-अलग व्यक्तियों के योग से राज्य या समाज के हितों का योग प्राप्त किया जा सकता है परन्तु वास्तविकता यह है कि राज्य के हित अक्सर व्यक्ति के हित के विरूद्ध होते है और वह व्यक्तिगत हित का कुल योग कभी नहीं हो सकता। मैक्सी के अनुसार बेन्थम ने जहां कहीं भी दोनों के बीच चयन का अवसर मिला है, व्यक्तिगत हित को ही प्रधानता दी है। वे दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित नहीं कर सके।

20.6.8 बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहन

बेन्थम प्रत्येक व्यक्ति के सुख की बात नहीं करता वरन् अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर ध्यान देता है। इसका सीधा अर्थ है कि समाज की बहुसंख्या को अल्पसंख्यकों को कुचलने तथा उन पर अत्याचार करने का अधिकार है। हैलोवेल के अनुसार बेन्थम का सिद्धान्त बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला सिद्धान्त है।

20.6.9 साध्य से साधन का मूल्यांकन करने वाला सिद्धान्त

बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त साधन की पूर्ण उपेक्षा करता है, वह सुख रूपी साध्य की ओर दौड़ता है चाहे वह कैसे ही क्यों न प्राप्त हो। मुरै के अनुसार यदि परिणाम लाभदायक हुआ तो बेन्थमवादी सिद्धान्त के आधार पर साधनों को भी उपयोगी कहा जाएगा, जबकि घटिया साधनों से उत्तम साध्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता।

20.6.10 अमनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

बेन्थम का सिद्धान्त मनोविज्ञान की भ्रान्त धारणा पर आधारित है। बेन्थम मानव प्रकृति को कोरा सुखवादी मानते हुए उसकी दुर्बोध मानसिक रचना का सही रूप प्रस्तुत नहीं करता है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी तथा केवल सुख के लिए प्रयत्न करने वाला मानता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है किन्तु यह एक पक्षीय चित्रण है यदि मनुष्य स्वार्थी भी होता है वह परोपकारी भी होता है। वह दूसरों के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहता है।

20.6.11 मानव प्रकृति का अत्यधिक सरलीकरण

मानव प्रकृति को बेन्थम ने इतना सरल कर दिया है कि वह उसको गणितीय संख्या जोड़, बाकी, गुणा और भाग द्वारा परखने का प्रयत्न करता है। वह हित, लाभ, सुख, अच्छा और प्रसन्नता शब्दों का पर्यायवाची मान लेता है जबकि मानव की प्रकृति इतनी सरल नहीं है। वह भावनाओं तथा संवेदनाओं पर आधारित होती है।

20.6.12 राजनीति दर्शन न होकर शासन का दर्शन है

बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त राजनीति का दर्शन न होकर शासन का दर्शन है। उपयोगितावादी सिद्धान्त के आधार पर उसके द्वारा जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वह शासन के कार्यों का मार्ग निर्देशन करता है, लेकिन राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन नहीं करता है।

20.7 बेन्थम के राजनीतिक विचार

बेन्थम को राजनीतिक विचारक माना जाए या न माना जाए, यह एक विवादास्पद प्रसंग है। बेन्थम का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन न होकर वैधानिक एवं राजनीतिक सुधारों का प्रतिपादन करना था। एक महान् राजनीतिक विचारक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक शासन सुधारक कहना अधिक उपयुक्त है। फिर भी उसने जो विचार प्रस्तुत किये वे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। बेन्थम ने राजनीतिक विचार अपनी कृति 'फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेण्ट' में प्रतिपादित किये है। बेन्थम ने जिस राजदर्शन का प्रतिपादन किया उसे निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है —

20.7.1 राज्य की उत्पत्ति संबंधी बेन्थम के विचार

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में बेन्थम के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उसके पूर्व राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त प्रचलित था। बेन्थम ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए उग्र विरोध किया। उसने कहा कि ऐसा कोई समझौता नहीं हुआ था और यदि कोई ऐसा हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी उसे मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकती है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में संविदा सिद्धान्त का खण्डन करने के बाद बेन्थम ने इस प्रश्न पर विचार किया कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? बेन्थम आदर्शवादियों के इस मत से भी सहमत नहीं है कि हम राज्य की आज्ञाओं का पालन हम इसलिए करते हैं क्योंकि राज्य नैतिक एवं श्रेष्ठतम संस्था है तथा राज्य के आदेशों का पालन करना हम अपना नैतिक कर्त्तव्य मानते हैं। बेन्थम का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति का कारण समझौता नहीं अपितु आज्ञा पालन की आदत है। बेन्थम के शब्दों में "राज्य की आज्ञा पालन से होने वाली हानि अवज्ञा से होने वाली हानि से कम है।"

इस प्रकार बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त ही उसके राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचारों का आधार है। जब व्यक्तियों की एक संख्या आदतन एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह की आज्ञा-पालन करती है तो वे व्यक्ति राजनीतिक समाज (राज्य) की रचना करते है।

20.7.2 सम्प्रभुता संबंधी बेन्थम के विचार

बेन्थम राज्य की सम्प्रभुता के प्रबल समर्थक है। चूंकि कानून आदेश होता है, अत: यह सर्वोच्च शक्ति का आदेश हो सकता है। बेन्थम का मानना है कि राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा का पालन लोग स्वभावत: करते हैं। कानूनी दृष्टि से बेन्थम का सम्प्रभु निरपेक्ष एवं असीमित होता है। राज्य की सम्प्रभुता पर प्राकृतिक कानूनों एवं प्राकृतिक अधिकारों का कोई बन्धन नहीं होता है। यद्यपि बेन्थम का सम्प्रभु निरंकुश नहीं है। बेन्थम के अनुसार व्यक्ति सम्प्रभु के आदेश का पालन तब तक करता है जब तक वह उसके लिए उपयोगी एवं लाभदायक होता है। यदि सम्प्रभु का आदेश उपयोगी नहीं है तो व्यक्ति का दायित्व बनता है कि उसका विरोध करें।

20.7.3 बेन्थम द्वारा प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन

बेन्थम के समय प्राकृतिक सिद्धान्त का बोलबाला था। इनको बेन्थम ने एक प्रलाप और मूर्खता का नंगा नाच बताया। बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों के संबंध में अत्यन्त सरल मान्यता का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार अधिकारों का निर्माण सामाजिक

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lalitpur

परिस्थितियों से होता है। वे ही अधिकार मान्य है जो समाज के अधिकतम लोगों को सुख उपलब्ध करवाते हैं। बेन्थम के शब्दों में ''अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता दी जाती है। बेन्थम अधिकारों के दो प्रकार बताये हैं– 1. कानूनी अधिकार, 2. नैतिक आचरण कानूनी अधिकार मनुष्य के बाहरी आचरण को वहीं नैतिक कानून आन्तरिक आचरण को नियन्त्रित करते हैं।''

इस प्रकार बेन्थम के अधिकारों का आधार उपयोगिता है। अधिकार कानून की देन है न कि प्रकृति की। डेविडसन के अनुसार बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उसके स्थान पर उपयोगिता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया।

20.7.4 बेन्थम के शासन संबंधी विचार

बेन्थम का शासन व्यवस्था के संबंध में विशेष चिन्तित नहीं है। उसका विचार है कि शासन किसी भी भी प्रकार हो, उसका आधारभूत सिद्धान्त 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' होना चाहिए। उसने उपयोगिता की कसौटी पर विभिन्न शासन प्रणालियों की जांच के पश्चात् गणतंत्रीय शासन प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली माना। उसके अनुसार राजतन्त्र सबसे शक्तिशाली शासन है किन्तु उसमें राजा का हित सर्वोपरि हो जाता है। कुलीन तंत्र अनुभवी एवं गुणी लोगों का शासन हो किन्तु उसमें भी 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' सम्भव नहीं होता केवल गणतंत्र ही ऐसी शासन पद्धति है जो इस कसौटी पर खरी उतरती है। गणतंत्र में कानून बनाने की शक्ति जन–प्रतिनिधियों के पास होती है जो जनता के हितों की अनदेखी नहीं कर सकते।

20.7.5 बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य

बेन्थम राज्य के कार्य में संबंध में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का समर्थन करता है। इसलिए वह राज्य को एक नकारात्मक संस्था के रूप में मानते है क्योंकि यह लोगों को दण्ड–विधान द्वारा ही समाज विरोधी कार्य करने से रोकता है, जनता के नैतिक चरित्र को ऊंचा उठाना, तथा इसका उद्देश्य व्यक्ति के श्रेष्ठतम गुणों का विकास करना। इस तरह बेन्थम राज्य को सीमित कार्य सौंपने के पक्षधर है।

20.7.6 कानून संबंधी विचार

बेन्थम के अनुसार राज्य एक विधि–निर्माता निकाय है और कानून सम्प्रभु के आदेश हैं। सम्प्रभु की इच्छा कानून के रूप में प्रकट होती है इसलिए उसका पालन होता है। वह यह भी कहता है कि कानून का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा पालन में उसका एवं सबका हित सम्भव है। बेन्थम प्राकृतिक कानूनों को अस्वीकार करते हुए कानून के दो रूप बताते हैं– दैवी तथा मानवीय। दैवीय कानून रहस्यमय और ज्ञानातीत होते हैं, उनका स्वरूप भी निश्चित नहीं होता। अत: मानवीय कानून का निश्चित रूप राज्य के लिए आवश्यक है। बेन्थम विधि निर्माण में उपयोगिता का सिद्धान्त अपनाने की सलाह देता है। उसका मत है कि ऐसा कानून बनाया जाना चाहिए, जिससे 'अधिकतम लोगों का अधिकतम हित' सम्भव हो सके। उसने विधि निर्माण करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए– 1. आजीविका, 2. पर्याप्तता, 3. समानता और 4. सुरक्षा। इसके अलावा बेन्थम श्रेष्ठ कानून के छ: लक्षण बताते हैं– 1. कानून जनता की आशा के अनुकूल हो, 2. कानूनों का जनता को ज्ञान हो, 3. कानून विरोधाभासी न हो, 4. कानून सरल, स्पष्ट एवं सुबोध हो, 5. कानून व्यावहारिक हो, 6. कानून का पूर्ण रीति से पालन हो और कानून भंग करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था हो। वह कानून के शासन की अवधारणा का प्रतिपादन करता है।

20.7.7 स्वतन्त्रता संबंधी विचार

बेन्थम स्वतन्त्रता का विरोधी है। उसका विचार था कि व्यक्ति सुरक्षा चाहते हैं, स्वतन्त्रता नहीं और सुरक्षा के लिए कानून की आवश्यकता है और कानून सम्प्रभु का आदेश है। ''यदि स्वतन्त्रता और सुरक्षा के मध्य हमें अस्पष्टता को मिटाना है तो स्वतन्त्रता को सुरक्षा की एक शाखा ही स्वीकार करना चाहिए।''

बेन्थम फ्रांस की राज्य क्रांति द्वारा प्रतिपादित 'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व' के नारे को भ्रामक मानता था। उसका मत था कि सुख ही अन्तिम उद्देश्य है और स्वतन्त्रता को उसको कसौटी पर कसा जाना चाहिए। राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता।

गेटेल के शब्दों में ''जीवन की एक उपयोगितावादी योजना में स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं हो सकता, यह सुख का कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है इसलिए हमें सुख के सामने समर्पण कर देना चाहिए।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

20.8 सारांश

सारांश में, बेन्थम के उपयोगितावादी चिन्तन ने अनेक नूतन धारणाओं का विकास किया। इससे यह सिद्धा होता है कि बेन्थम व्यक्ति के हितों के प्रति सजग है। जो यह सिद्ध करना चाहता है कि राज्य का आधार अधिकतम व्यकितयों का अधिकतम हित होना चाहिए क्योंकि व्यकित सुखों के प्रति ज्यादा समर्पित होता है। इस तरह राज्य को सीमित क्षे0धिकार प्रदान कर व्यकितवादी विचारधारा को प्रोत्साहन दिया गया है। आलोचकों का मत है कि सुखवाद की दौड़ में बेन्थम यह भूल जाता है कि केवल भौतिक सुख सर्वोच्च नहीं होते बल्कि मानसिक एवं आध्यात्मिक सुखों का अपना स्थान होता है।

20.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न :-

1. बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?
2. बेन्थम के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :-

1. बेन्थम मनुष्य को सुख एवं दुःख दो सत्ता के अधीन किस प्रकार करता है।
2. बेन्थम ने सुख-दुःख का वर्गीकरण किस प्रकार किया है?
3. सुखवादी मापक यन्त्र क्या है?
4. बेन्थम के विचार ''राजनीतिक दर्शन न होकर शासन का दर्शन है।'' स्पष्ट कीजिए?
5. बेन्थम के राज्य के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
6. बेन्थम के शासन संबंधी विचार बताओ।
7. बेन्थम स्वतन्त्रता को सुखवाद की कसौटी पर कैसे कसता है?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :-

1. बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त का मूल आधार क्या है?
2. बेन्थम के उपयोगितावाद का उल्लेख किस पुस्तक में मिलता है?
3. बेन्थम को उपयोगितावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की आवश्यकता क्यों पड़ी?
4. बेन्थम किस शासन प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ मानता है?
5. सुख-दुःख के स्रोत बताओ।
6. बेन्थम के अनुसार कानून का निर्माण किस प्रकार होता है?
7. बेन्थम द्वारा श्रेष्ठ कानून के बताए गई कोई दो लक्षण बताओ?

12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. के.एन.वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचार धाराएं'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
2. के.एन.वर्मा, ''राजदर्शन भाग 1'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
3. तागेश्वर प्रसाद, ''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' जय राज प्रकाशन बरेली
4. बी.एल.फडिया, ''आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
5. ओम प्रकाश गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूप रेखा'' मयूर पेपर बंक्स, नौएडा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 21

जॉन स्टुअर्ट मिल

संरचना

21.1 उद्देश्य

21.2 प्रस्तावना

21.3 जॉन स्टुअर्ट मिल का जीवन परिचय

21.4 मिल की रचनाएं

21.5 मिल का उपयोगितावाद

- ➢ उपयोगितावाद का अर्थ
- ➢ बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा किये गये संशोधन

21.5.1 मिल का मनुष्य परमार्थी

21.5.2 सुख का गुण और मात्रा दोनों में विभेद

21.5.3 सुख मापक गणना विधि असंगत

21.5.4 मिल का उपयोगितावाद नैतिक है, राजनीतिक नहीं

21.5.5 सुख-दुःख के आन्तरिक स्रोत

21.5.6 लक्ष्य स्वतन्त्रता, उपयोगिता नहीं

21.5.7 इतिहास और परम्पराओं का महत्त्व

21.5.8 समाजवादी तत्त्व

21.5.9 नैतिक तत्त्व

21.6 स्वतन्त्रता

- ➢ प्रस्तावना
- ➢ स्वतन्त्रता के सिद्धान्त

21.6.1 स्वतन्त्रता के प्रकार

21.6.1.1 विचार और भाषण की स्वतन्त्रता

21.6.1.2 विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क

21.6.1.2.1 सत्य

21.6.1.2.2 आंशिक सत्य

21.6.1.2.3 सत्य नहीं

21.6.1.2.4 गलत

21.6.1.2.5 संघर्ष

21.6.1.2.6 नये विचारों का जन्म

21.6.1.3 कार्य की स्वतन्त्रता

21.6.1.3.1 आत्मा-विषयक कार्य

21.6.1.3.2 पर-विषयक कार्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.6.1.4 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में राज्य का हस्तक्षेप

21.6.1.4.1 स्वतन्त्रता का दुरुपयोग

21.6.1.4.2 कर्त्तव्य पालन से विमुख होना

21.6.1..4.3 संकट काल

21.6.1.5 मिल के स्वतन्त्रता सिद्धान्त का मूल्यांकन

➢ गुण

➢ दोष

21.6.1.5.1 आत्म-विषयक और पर - विषयक कार्य का विभाजन कठिन

21.6.1.5.2 वृहत्त सूची नहीं

21.6.1.5.3 पिछड़े वर्ग को स्वतन्त्रता नहीं

21.6.1.5.4 राज्य का प्रतिबन्ध

21.6.1.5.5 सबकी स्वतन्त्रता

21.6.1.5.6 सत्य की खोज

21.6.1.5.7 समानता की उपेक्षा

21.6.1.5.8 अल्पमत का महत्त्व

21.6.1.5.9 खोखली स्वतन्त्रता और काल्पनिक व्यक्ति

➢ निष्कर्ष

21.7 प्रतिनिधि शासन

प्रस्तावना

प्रतिनिधि शासन का अर्थ

21.7.1 प्रतिनिधि शासन की शर्तें

21.7.1.1 जनमत की स्वीकृति

21.7.1.2 स्थायित्व

21.7.1.3 योग्यता एवं अभिरूचि

21.7.2 प्रतिनिधि शासन की विशेषताएँ

21.7.2.1 प्रतिनिधि की स्थिति

21.7.2.2 प्रतिनिधि सभा का निरीक्षण एवं नियन्त्रण का कार्य

21.7.2.3 प्रशासन स्थाई सरकारी पदाधिकारियों द्वारा

21.7.2.4 विधि आयोग

21.7.2.5 द्वितीय सदन

21.7.2.6 संसद सदस्यों को वेतन नहीं

21.7.2.7 स्थानीय स्वशासन

21.7.2.8 सशक्त विरोधी दल

21.7.2.9 मतदाताओं की योग्यताएं

21.7.2.10 अल्प संख्यकों के हितों की रक्षा

21.7.2.11 बहुल या गुणात्मक मतदान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.7.2.12 प्रकट मतदान
21.7.2.13 महिला मताधिकार
21.7.3 प्रतिनिधि शासन का मूल्यांकन
➢ गुण
21.7.3.1 शैक्षणिक योग्यता
21.7.3.2 बहुल मताधिकार
21.7.3.3 अल्प संख्यकों के हितों की रक्षा
21.7.3.4 महिला मताधिकार
21.7.3.5 विरोधी दल
21.7.3.6 प्रतिनिधि सरकार प्रगतिशील देशों के लिए
➢ दोष
21.8 सारांश
21.9 अभ्यास प्रश्नावली
21.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

21.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारों को जानना है, जिसमें मिल ने उपयोगितावाद में यापक संशोधन किये, स्वतन्त्रता के विचार, प्रतिनिधित्व संबंधी दृष्टिकोण, नारी अधिकार इत्यादि को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किये हैं। इस अध्याय में आप जान सकेंगे —

- मिल उपयोगितवाद के अन्तिम तथा व्यक्तिवाद के प्रथम विचारक के रूप में दिये गये योगदान को,
- मिल के उन विचारों को जिनके आधार पर उपयोगितावाद के सिद्धान्त में व्यापक संशोधन किये और उसमें मानवीय तत्त्वों से युक्त बनाया,
- स्वतन्त्रता संबंधी विचार जिनकी बदौलत मिल स्वतन्त्रता का मसीहा कहलाता है,
- आप मिल द्वारा प्रतिपादित प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त को जान सकेंगे जो जनमत की अभिव्यक्ति तथा आधारित है,
- मिल ने संसदीय प्रणाली में भी सुधार लाने की व्यापक कार्ययोजना प्रस्तुत की है, उससे भी परिचित हो सकेंगे।

21.2 प्रस्तावना

''एक सन्तुष्ट सुअर की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना ज्यादा अच्छा हैं। एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात होना ज्यादा अच्छा है और यदि मूर्ख या सूअर की राय अलग है, तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपना पक्ष ही जानते हैं, परन्तु दूसरे लोगों को दोनों पक्ष ज्ञात हैं।'' – जॉन स्टुअर्ट मिल

जॉन स्टुअर्ट मिल का नाम राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सम्मान के साथ लिया जाता है। उसके विचारों में उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद एवं उदारवाद का सामन्जस्य हैं। मिल पर उसके गुरु बेन्थम का व्यापक प्रभाव पड़ा इसलिए उसके विचारों पर उपयोगितावाद का प्रभाव है। लेकिन उसने बेन्थम की उपयोगितावाद में सिद्धान्त में व्यापक संशोधन किये। जिसके कारण मिल बेन्थम के उपयोगितावाद से बहुत दूर चला गया। उसके विचारों में व्यक्तिवाद भी पाया जाता है। इसलिए मिल उपयोगितावाद का अन्तिम एवं व्यक्तिवाद का प्रथम विचार कहा जाता है। मिल ने स्वतन्त्रता संबंधो विचारों के द्वारा मानवीय गरिमा पर बल दिया।

मिल के अनुसार व्यक्ति परमार्थी होता है। सुख का गुण और मात्रा में विभेद करना, सुख अमापनीय है, सुख के आन्तरिक स्रोत तथा उपयोगितावाद को नैतिक का आवरण देना आदि मिल के प्रमुख संशोधन है। मिल को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मसीहा माना गया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। विचार और भाषण तथा कार्य-सवतन्त्रता पर उसके विचार राजनैतिक साहित्य के अमर काव्य हैं, प्रत्येक व्यक्ति के विचारों का आदर करना मिल की महानता है। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है लेकिन उसके विकास में मनुष्य का भी हाथ, जो उसके अनोखी सुझ की झलक है। तत्कालीन इंग्लैण्ड की प्रतिनिधि सरकार में आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन मिल की दूरदर्शिता का परिचय है। बेन्थम और जेम्स मिल के प्रति अगाध श्रद्धा रखनेवाला तथा श्रीमती टेलर के सच्चे प्रेमी के रूप में राजनीति विज्ञान की क्षितिज पर मिल एक प्रखर भास्कर है, जिसकी ज्ञान-किरणों से सम्पूर्ण जगत आलोकित है।

21.3 जॉन स्टुअर्ट मिल का जीवन-परिचय

जॉन स्टुअर्ट मिल जेम्स मिल का ज्येष्ठ पुत्र था। उसका जन्म 20 जुलाई, 1806 को लन्दन में हुआ था। जेम्स मिल बेन्थम का शिष्य और घनिष्ट मित्र था। अत: वह अपने पुत्र को बेन्थमवादी सोच में ढ़ालना चाहता था। मिल का बचपन बेन्थम के शिष्यों और मित्रों के बीच व्यतीत हुआ। उसके मस्तिष्क पर बेन्थम के सिद्धान्तों की अमिट छाप पड़ी। लेकिन आगे चलकर मिल ने बेन्थमवाद में कार्य संशोधन किया।

मिल की शिक्षा का प्रारम्भ उसके पिता के कठोर नियन्त्रण में हुआ उसके पिता की तीव्र इच्छा थी कि उसका पुत्र बेन्थमवादी परम्पराओं का सुयोग्य अनुयायी बने। मुरे के शब्दों में, ''अपने पिता का प्रभाव उस पर इतना अधिक है कि ऐसा मालूम होता मानो वह कभी पैदा ही नहीं हुआ हो।'' मिल बाल्यकाल से प्रतिभा का धनी था। उसने दर्शनशास्त्र और अरस्तू के तर्कशास्त्र का अध्ययन किया। उसने मनोविज्ञान रिकार्डों और एडम स्मिथ की अर्थशास्त्र-संबंधी पुस्तक का अध्ययन किया।

चौदह वर्ष की अवस्था में मिल को बेन्थम के भाई सेमुअल बेन्थम के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया। यहां रहकर उसने व्यापक अध्ययन किया। वहां से लौटने के बाद, उसने बेन्थम की रचनाओं का अध्ययन किया। जिनका प्रचण्ड प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पड़ा और उसके जीवन में एक नवीन मोड़ आया।

मिल ने बेन्थम से प्रभावित होकर उपयोगितावादी सोसायटी की स्थापना की। इसके अन्तर्गत वह अन्य सदस्यों के साथ बेन्थमवाद पर वाद-विवाद करता था।

1823 ई. में मिल ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्क की नौकरी शुरु की। 1830 ई. में उसका सम्पर्क श्रीमती हेरियट टेलर से हुआ जो एक विधवा थी। मिल का परिवार इस सम्पर्क का विरोधी था लेकिन टेलर से मिल जबरदस्त प्रभावित था। इससे उसके विचारों में उदारता आयी और वह मिल की रचनाओं में मानवीय तत्त्व का स्रोत बन गई। 'ऐसे ऑन लिबर्टी' में मिल ने लिखा है कि- ''मेरे लेखों में जो भी सर्वोत्तम है, वह उसी की प्रेरणा के कारण है, जो मेरी मित्र और पत्नी थी। उसकी सत्य और सद् की भावना मेरी सबसे प्रबल प्रेरणा थी और उसकी प्रशंसा मेरा प्रमुख पुरस्कार था।'' 1858 में उसकी पत्नी की मृत्यु हो गयी। 1805 ई.में मिल वेस्ट मिंस्टर से ब्रिटिश संसद का सदस्य निर्वाचितकिया गया। 8 मई, 1873 को मिल का देहवासान हो गया। बार्कर ने लिखा है कि- ''जॉन स्टुअर्ट मिल 19वीं शताब्दी में सबसे बुद्धिमान और सबसे उदार स्वभाव वाले व्यक्तियों में से एक हैं।''

21.4 मिल की रचनाएँ

मिल एक महान् विद्वान था। उसने राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, आचार शास्त्र, न्याय शास्त्र तथा अध्यात्मकशास्त्र आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर रचनाएं लिखी। जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. नारी अधीनता
2. तर्कशास्त्र
3. स्वतन्त्रता पर निबंध
4. संसदीय सुधार पर विचार
5. प्रतिनिधि शासन पर विचार
6. उपयोगितावाद

21.5 मिल का उपयोगितावाद

उपयोगितावाद का बीजारोपण अरिस्तिपस के विचारों में हो चुका था। आगे चलकर एपिक्यूरियन सम्प्रदाय ने इस पर विचार किया। लेकिन आधुनिक युग में ह्यूम पहला दार्शनिक है, जिसने उपयोगितावाद को जन्म दिया। वस्तुत बेन्थम ही ऐसा विचारक

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

निकला, जिसने उपयोगितावाादी को जन्म दिया। वस्तुत बेन्थम ही ऐसा विचारक था, जिसने उपयोगितावादी विचारधारा को जन्म दिया और उसका विकास पूर्ण रूप से किया।

बेन्थम एक महान् सुधारक था। वह अपने उपयोगितावादी सिद्धान्तों के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक और कानूनी क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन लाना चाहता था। उसने कहा कि व्यक्तिगत अधिकारों की आधारशिला उपयोगितावाद होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति रखने और सुख अर्जन करने का अधिकार होना चाहिए। इस सन्दर्भ में उसने उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है।

मिल ने बेन्थम के इस उपयोगितावाद को एक विश्वास, एक सिद्धान्त, एक दर्शन और एक धर्म का लक्ष्य प्रदान किया। लेकिन मिल का बौद्धिक क्षितिज और भावनात्मक आधार बेन्थम से कहीं अधिक व्यापक था और उसमें मानवीयता के उस तत्त्व की प्रधानता थी, जिससे बेन्थम लगभग अछूता था।

बेन्थम ने उपयोगितावाद को समयानुकूल बनाने के विचार से अपने उपयोगितावाद नामक निबंध में उसकी पुर्नव्याख्या करके उसका नवीन रूप प्रस्तुत किया। डालय का कहना है कि- ''व्यक्तिगत वृत्ति और राजनीतिक परिस्थिति की आवश्यकताओं ने जॉन स्टुअर्ट मिल को राज्य के उपयोगितावादी दर्शन का एक नए आधार पर नव निर्माण करने के लिए बाध्य किया।''

➢ उपयोगितावाद का अर्थ

मिल ने उपयोगितावाद का अर्थ निम्नलिखित शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है - ''उपयोगिता या अधिकतम सुख के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार मानता है। यह मत स्वीकार करता है कि सब कार्य उस अनुपात में ठीक है, जिस अनुपात मे वे सुख की वृद्धि करते हैं और उस अनुपात में गलत है जिस अनुपात में सुख के विपरीत है। सुख का अर्थ आन्नद की प्राप्ति और दु:ख का अभाव। दुख का अर्थ कष्ट की प्राप्ति और सुख का अभाव।''

मिल ने उपयोगितावाद का जो अर्थ बताया है, वह बहुत कुछ बेन्थम के समान है। वह बेन्थम की सुखवाद की अवधारणा को स्वीकार करता है और कहता है- मनुष्य हमेशा सुखों की प्राप्ति तथा कष्टों के निवारण हेतु प्रयास करता रहता है। लेकिन मिल बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में इतने संशोधन कर देता है जिसके चलते मिल का उपयोगितावाद बेन्थम के उपयोगितावाद से बहुत दूर हो जाता है।

➢ बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा संशोधन

मिल ने जिन संशोधनों द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में परिवर्तन किया है, उनका उल्लेख निम्नलिखित रुप से किया जा सकता है-

21.5.1 मिल का मनुष्य परमार्थी

बेन्थम की उपयोगितावादी विचार धारा के अनुसार मनुष्य बिल्कुल स्वार्थी होता है। वह अपना सुख चाहता है जिसकी प्राप्ति के लिए वह सदैव प्रयास करता है। इसके विपरीत मिल ने मनुष्य को परमार्थी माना है। वह दूसरे के सुख को अपना लक्ष्य बनाता है और दूसरों के सुख में अपना सुख देखता है। मिल ने लिखा है कि- ''मैं इस विश्वास में कभी नहीं डिगा कि व्यवहार में सभी नियमों की कसौटी और जीवन का लक्ष्य सुख है। लेकिन अब में सोचने लगा हूं कि इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब सुख को सीधा लक्ष्य न बनाया जाए। वे ही मनुष्य सुखी है, जो अपने स्वयं के सुख के स्थान पर किसी अन्य विषय पर अपने विचार केन्द्रित करतेहैं।'' इस प्रकार मिल का दृष्टिकोण उपयोगितावाद के पूर्णतया विपरीत है।

21.5.2 सुख का गुण और मात्रा दोनों में विभेद

बेन्थम अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त में सुखों में केवल मात्रा का भेद करता है। इसके विपरीत मिल मात्रात्मक एंव गुणात्मक दोनों ही भेद करता है। इस सन्दर्भ में मिल ने लिखा है कि- ''इस बात को मानना उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुरूप ही है। कुछ प्रकार के सुख अन्य प्रकार के सुखों से अधिक वांछनीय और महत्त्वपूर्ण है, इसलिए जहां हम अन्य वस्तुओं के मूल्यांकन के गुण और मात्रा दोनों का ध्यान रखते हैं, वहां सुख के मूल्यांकन को केवल मात्रा पर आधृत करना एक मूर्खतापूर्ण बात होगी।''

इस प्रकार मिल के अनुसार कविता से प्राप्त होने वाला सुख पशुदिन के खेल से प्राप्त सुख से उच्च और श्रेष्ठ है। यह इस बात से स्पष्ट है कि योग्य और अनुभवी व्यक्ति निम्न सुखों की अपेक्षा उच्च सुखों की आकांक्षा करते हैं। मिल इस बात के समर्थन में लिखते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं कि- ''एक सन्तुष्ट सुअर होने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। एक सन्तुष्ट मूर्ख बने रहने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात होना अधिक है।''

बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा संशोधन

बेन्थम	मिल
➢ मानव का स्वार्थी रूप प्रस्तुत करते हैं।	➢ मानव का परमार्थी रूप प्रस्तुत करते हैं।
➢ सुखों में केवल मात्रात्मक भेद।	➢ सुखों में गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों थी।
➢ सुखमापक गणना विधि।	➢ सुखों को मापा नहीं जा सकता।
➢ राजनीतिक तत्त्वों की प्रधानता।	➢ नैतिक एवं राजनीतिक दोनों तत्त्वों पर बल।
➢ बाहरी या भौतिक सुखों पर अधिक बल।	➢ मिल ने आन्तरिक या आध्यात्मिक सुखों को महत्त्वपूर्ण माना।
➢ बेन्थम उपयोगिता या सुख प्राप्ति को लक्ष्य मानता है।	➢ मिल ने स्वतन्त्रता को महत्त्वपूर्ण माना है।
➢ सम्पूर्ण विश्व में एक साथ लागू करने की बात कहता है।	➢ जबकि मिल का मत है कि प्रत्येक क्षेत्र की परम्पराओं एवं इतिहास के आधार पर लागू किया जा सकता है।
➢ कल्पनाओं पर आधारित।	➢ समाजवादी तत्त्वों को प्रधानता।
➢ नैतिक मान्यताओं से कोई सरोकार नहीं।	➢ नैतिक मान्यताओं को सम्मानजनक स्थान दिया गया है।

21.5.3 सुखमापक गणना विधि असंगत

मिल ने सुख के मात्रात्मक के साथ गुणात्मक अन्त को माना है। अत: उसने बेन्थम के सुख मापक गणना विधि को असंगत बताया है। उसका मत है कि सुख एवं दु:ख को किसी भी स्थिति में सही रूप से मापा नहीं जा सकता है। सुखों का वस्तुगत माप संभव नहीं है। किसी सुख या दु:ख के बारे में वही बता सकता है, जिसने उसका स्वयं अनुभव किया है।

21.5.4 मिल का उपयोगितावाद नैतिक है, राजनीतिक नहीं

बेन्थम ने अपने उपयोगितावाद में राजनीतिक तत्त्व को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को एक नैतिक सिद्धान्त की अपेक्षा राजनीतिक सिद्धान्त मानता है। इसके विपरीत मिल ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त में राजनीतिक तत्त्वों पर महत्त्व न देकर नैतिक तत्व पर बल दिया है।

मिल का मत है कि शासक या राज्य का लक्ष्य केवल नागरिकों के सुखों में वृद्धि करना ही नहीं है, बल्कि उनके नैतिक गुणों का विकास भी करना होना चाहिए। इसके सन्दर्भ में मिल का तर्क है कि सभी व्यक्ति स्वार्थी होने के कारण अपने सुखों को दूसरों के सुखों से अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं। फलस्वरूप, उनके सुखों में संघर्ष होना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में, राज्य या विधायक द्वारा केवल सुखों के मात्रात्मक अन्तर पर ध्यान देकर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के लिए किसी नीतियां कानून का निर्माण किया जाना असम्भव है।

मिल अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि ईसा महीहा के स्वर्णिम नियम से की है, ''ईसा मसीह के स्वर्णिम नियम में हमें उपयोगितावादी नैतिकता की पूर्ण आत्मा के दर्शन होते हैं। ईसा का उपदेश है कि तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा अपने साथ चाहते हो। तुम अपने पड़ौसी से वैसा ही प्रेम करो, जैसा अपने से करते हो। उपयोगितावादी नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श यही है।''

21.5.5 सुख-दु:ख के आन्तरिक स्त्रोत

मिल ने सुख-दु:ख के आन्तरिक स्त्रोत पर विशेष बल दिया है। उसका मत है कि हमारा अन्त:करण ही सुख और दु:ख का अनुभव करता है, जो कार्य अच्छा और नैतिक होता है, उससे हमारे अन्त:करण को सुख प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो कार्य बुरा और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनैतिक होता है, उससे हमारे अन्त:करण को दु:ख प्राप्त होता है। विश्व के अनेक महान व्यक्तियों ने आन्तरिक सुख की प्राप्ति हेतु अपने प्राणों की आहुति दे दी।

21.5.6 लक्ष्य स्वतन्त्रता, उपयोगिता नहीं

बेन्थम का दृष्टिकोण सभी वस्तुओं के संबंध में उपयोगितावादी है। इसी कारण, उसने स्वतन्त्रता एवं उपयोगिता में से उपयोगिता को उच्च स्थान प्रदान किया है। वह स्वतन्त्रता को उपयोगिता के अधीन एक साधन मानता है। लक्ष्य नहीं। इसके विपरीत, मिल ने स्वतन्त्रता को लक्ष्य माना है और उपयोगिता की साधन मिल के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सर्वोपरि है और यह विकास स्वतन्त्रता के बिना सम्भव नहीं हो सकता। अत: व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता बहुत आवश्यक है।

21.5.7 इतिहास और परम्पराओं का महत्त्व

बेन्थम के अनुसार उपयोगितावाद समस्त विश्व पर एक साथ लागू होता है, लेकिन मिल का मत है कि अलग-अलग क्षेत्रों का अपना इतिहास एवं परम्पराएं होती है जिनका महत्त्व उनके लिए किसी भी बात में कम नहीं है। ये इतिहास और परम्पराएं प्रत्येक समाज के अन्तर्गत कुछ विशेष चारित्रिक विशेषताओं को जन्म देती है। इसलिए कोई भी राजनीतिक या सामाजिक अवस्था ऐसी नहीं हो सकती जो सब जातियों के लिए समान रूप से अनुकूल हो सके। अत: उपयोगिता सार्वभौम नहीं हो सकती। इतिहास और परम्पराओं की विभिन्नता और महत्त्व को भी ध्यान में रखना चाहिए।

21.5.8 समाजवादी तत्त्व

मिल उपयोगितावाद में पहले व्यक्तिवाद का और फिर समाजवाद का समर्थन करके बेन्थम से बहुत आगे निकल गया। परन्तु उसने उपयोगितावाद के आधार पर समाजवाद के विषय में जो विचार प्रकट किये है, उनका संबंध वास्तविक जगत से न होकर काल्पनिक विश्व से है।

21.5.9 नैतिक तत्त्व

मिल ने उपयोगितावाद में नैतिक तत्त्व का समावेश करके उसे मानव जीवन में अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रयास में उसने बेन्थम के परम्परागत नैतिकता की मान्यता को असंगत बना दिया। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मिल के बेथम के विचारों में व्यापक संशोधन किये।

21.6 स्वतन्त्रता

मानव हमेशा से स्वतन्त्रता – प्रेमी रहा है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि विश्व में जितनी भी क्रान्तियां, संघर्ष या आन्दोलन हुए है उनके पीछे मूलभूत कारण स्वतन्त्रता ही रही है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु यदि मानव को अपने प्राणों की आहुति देना पड़े तो भी वह पीछे नहीं हटता है। स्वतन्त्रता का संबंध मानव के सर्वांगीण विकास से है। किसी भी राज्य या समाज की वास्तविक स्थिति का आंकलन हम स्वतन्त्रता के आधार पर कर सकते हैं। इसलिए प्रत्येक राज्य अपने स्तर पर नागरिकों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता उपलब्ध करवाने का प्रयास करता है। जिस राज्य ने नागरिकों की स्वतन्त्रता को कुचलने का प्रयास किया है उसे उसका खामियाजा (परिणाम) भुगतना पड़ा है।

17वीं शताब्दी में लोग सर्वशक्तिमान दैवीय राज्य से मुक्ति पाना चाहते थे। 19वीं शताब्दी में वे सर्वशक्तिशाली मानवीय राज्य से मुक्ति चाहने लगे अर्थात् राज्य इतना शक्तिशाली हो गया कि वह व्यक्तिगत अधिकारों को समाप्त करने लगा। उसी समय विभिन्न विचारों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर सोचना प्रारम्भ किया। इंग्लैण्ड में भी इस समय उग्र आन्दोलन हो रहे थे। बेन्थम का अधिकतम सुख के सिद्धान्त का व्यापक प्रचार हो रहा था। लोग मताधिकार शिक्षा और स्थानीय स्वशासन के पुनर्विकास की मांग कर रहे थे। सरकार अनेक कानूनों का निर्माण कर जनता की स्वतन्त्रता और गतिविधियों को सीमित करने का प्रयास कर रही थी।

फैक्ट्री-कानूनों के कारण मजदूरों के दैनिक जीवन पर सरकार का इतना कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया था कि उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूर्णत्या नष्ट हो गई थी। मजदूरों को भरपेट भोजन, वस्त्र आवास आदि की सुविधा नहीं थी। बाल-श्रम संबंधी कानूनों के कारण बालकों की स्वतन्त्रता का हनन हो रहा था क्योंकि वे अपनी जीविका का उपार्जन करने के लिए विवश हो गए थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इंग्लैण्ड में आम जनता की स्वतन्त्रता खतरे में थी। डॉयल के शब्दों में– ''कार्य और विचार की स्वतन्त्रता जो अहम्–भाव का परिणाम है, दांव पर लगी हुई थी।''

मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपासक था। उसने स्वये अपनी आंखों से देखा कि सरकार व्यक्ति को कानूनो की जंजीरों में जकड़कर उसकी स्वतन्त्रता की परिधि को संकुचित करने की चेष्टा कर रही थी। ऐसी स्थिति में, मिल ने ऑन लिबर्टी ग्रन्थ का प्रकाशन करके वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का प्रभावी शब्दों में समर्थन किया है। जिसकी तुलना केवल मिल्टन के ऐरोपेजिटिका से की जा सकती है।

➢ स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

मिल ने अपनी पुस्तक ऑन लिबर्टी में जिस स्वतन्त्रता का समर्थन किया है, उसका आधार सुख का सिद्धान्त है। उसका मत है कि विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न कार्यों से सुख की प्राप्ति होती है। अत: उनके सुख में अधिकतम वृद्धि करने के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता होनी चाहिए, बशर्त कि उनके कार्यों से दूसरों के सुखों में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। मिल के शब्दों में– ''सच्ची स्वतन्त्रता वही है, जिससे हम अन्य व्यक्तियों को उनके सुखों से वंचित न करके या उनके सुखों में बाधा उपस्थित न करके, अपनी स्वयं की विधि से अपने हित का अनुसरण कर सके। मानव जाति का इस बात में हित हो सकता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की आज्ञा ने कि इस बात से कि वह शेष व्यक्तियों की इच्छा के अनुसार अपने जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करें।''

इस कथन से स्पष्ट होता है कि मिल ने जिस स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। उसका आधार–व्यक्ति का सुख है और उसका स्वरूप व्यापक होते हुए भी नियन्त्रित है।

मिल ने लोकप्रिय सरकार, सरकारी कर्मचारी और अत्याचारी राज्य की शक्तियों पर प्रतिबंध लगाना चाहा है। उसका मत है कि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास स्वतन्त्रता के अभाव में सम्भव नहीं है। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। अत: मिल का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग करने के लिए स्वतंत्र हैं।

21.6.1 स्वतन्त्रता के प्रकार

मिल ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रसंग में अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया है, जैसे– विचार अभिव्यक्ति, वाद–विवाद, भावना, सम्पर्क, रूचि, धर्म और कार्य आदि की स्वतन्त्रता। उसका मत है कि जिस समाज में इन स्वतन्त्रताओं का सम्मान नहीं होता है, वहाँ व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, चाहे उसकी सरकार का स्वरूप जो भी हो। मिल ने सभी स्वतन्त्रता को दो बड़े क्षेत्रों के अन्तर्गत स्थान दिया है– विचार और भाषण की स्वतन्त्रता और कार्य की स्वतन्त्रता।

21.6.1.1 विचार और भाषण की स्वतन्त्रता :– मिल के अनुसार मानव समाज की उन्नति और प्रगति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। उसका विश्वास है कि वैचारिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए हितकर है जो उसकी स्वीकृति देता है, बल्कि उस व्यक्ति के लिए हितकर है जो उसका उपभोग करता है। राज्य का ऐसा कोई भी अधिकार नहीं है जो व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर रोक लगा सके। मिल का मत है कि यदि सम्पूर्ण समाज एक ओर हो और यदि एक व्यक्ति अकेला दूसरी ओर हो तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्ति करने की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। मिल के शब्दों में, ''यदि एक व्यक्ति को छोड़कर संपूर्ण मानव जाति का मत एक हो तो भी मानव जाति को उस एक व्यक्ति को बलपूर्वक चुप करने का कोई अधिकार नहीं है। जैसा कि यदि उस एक व्यक्ति के पास शक्ति होती, तो उसे मानव जाति को चुप करने का अधिकार नहीं होता।''

मिल का मत है कि वैचारिक स्वतन्त्रता व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य की एक आवश्यक शर्त है। यह स्वतन्त्रता न केवल अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान करती है, बल्कि उन्हें सत्य की खोज के लिए भी प्रेरित करती है। मिल ने इस स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता की आधारशिला बताया है, जो उच्च कोटि की नैतिक स्वतन्त्रता को जन्म देती है।

21.6.1.2 विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क :– मिल ने विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के औचित्य को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क दिये है :–

21.6.1.2.1 सत्य :– यह सम्भव है कि जिस विचार का दमन किया जा रहा है, वह सत्य हो। अत: उस विचार का दमन करने का अर्थ है– सत्य का दमन करना। ऐसी स्थिति में समाज को हानि हो सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.6.1.2.2 आंशिक सत्य :- यह सम्भव है कि जिस विचार का दमन किया जा रहा है। उसमें पूर्ण सत्य न होकर आंशिक सत्य हो। ऐसी स्थिति में आंशिक सत्य के दमन का परिणाम समाज के लिए अहितकर हो सकता है।

21.6.1.2.3 सत्य नहीं :- यह संभव है कि जो विचार अति दीर्घकाल से सत्य माने जा रहे हैं, वे सत्य न हों। उनकी सत्यता की जांच स्वतन्त्र वाद-विाद की कसौटी पर की जा सकती है। इस कसौटी पर उनकी परीक्षा किये बिना उनको स्वीकार करना, व्यक्ति और समाज-दोनों के हितों के प्रतिकूल हो सकता है।

21.6.1.2.4 गलत :- यदि किसी व्यक्ति के विचार गलत है, तो भी उसे उनके व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि उसकी गलत बातों को सुनकर सत्य के विराट स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

21.6.1.2.5 संघर्ष :- सत्य के अनेक पहलू होते हैं। साधारणत: एक पक्ष सत्य के एक पहलू को और दूसरा पक्ष-सत्य के दूसरे पहलू को देखता है। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। अत: व्यक्ति सत्य के दूसरे पहलू को देखता है। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों मे संघर्ष होना स्वाभाविक है। अत: सत्य के वास्तविक स्वरूप को विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

21.6.1.2.6 नये विचारों का जन्म :- व्यक्ति अपने विचारों को व्यक्त करके ही समाज के प्रचलित आदर्शों, मान्यताओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों और विचारधाराओं का अन्त करके, नये परम्पराओं और विचार धाराओं को जन्म देने का प्रयास करते हैं। ऐसे व्यक्ति के विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ है- नई परम्पराओं, विचारधाराओं आदि का प्रचलन होने देना। यह कार्य समाज के लिए घातक हो सकता है।

इस प्रकार मिल के विचार और भाषण की स्वतन्त्रता के विषय में जिस धारणा को लेखबद्ध किया है, उसकी उतनी ही भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इस दृष्टि से वह पेन, रूसो, मिल्टन, वाल्तेयर, जेफरसन आदि विश्व के महान् चिन्तकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस प्रकार उसने विचार और भाषण की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है।

21.6.1.3 कार्य की स्वतन्त्रता :- मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो पक्ष है- आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विचार की स्वतन्त्रता और बाह्य स्वतन्त्रता के तहत कार्य की स्वतन्त्रता को स्थान दिया गया है। दोनों एक-दूसरे के पूरक है। विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कार्य की स्वतन्त्रता आवश्यक है। मिल के शब्दों में ''कार्य उतने ही स्वतन्त्र होने चाहिए, जितने कि विचार। मनुष्यों को अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।''

मिल के विचार- अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की भांति बिना किसी प्रतिबन्ध के कार्य- स्वतन्त्रता का अनुमोदन नहीं किया है। उसने व्यक्ति को कार्य विषयक स्वतन्त्रता उसी सीमा तक प्रदान की है, जिस सीमा तक उसके कार्यों का संबंध केवल उसी से है और वे अन्य व्यक्तियों के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करके उनको हानि नहीं पहुंचाते हैं। मिल का मत है कि- ''व्यक्ति की कार्य स्वतन्त्रता को सीमित किया जाना चाहिए। उसे अपने को दूसरे व्यक्तियों के लिए कष्ट का कारण नहीं बनाना चाहिए।''

मिल ने मनुष्य के सभी प्रकार के कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है :- 1. आत्मा विषयक कार्य और 2. पर-विषयक कार्य

21.6.1.3.1 आत्मा विषयक कार्य :- इसके अन्तर्गत वे कार्य आते हैं, जिनका संबंध व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से होता है, जैसे- भोजन करना, पहनना, सोना, आचार-विचार आदि। मिल ने आत्म विषयक कार्य में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। इसमे राज्य व समाज को किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन मिल ने आत्मा विषयक कार्य के कुछ मामलों में राज्य को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। जैसे- अगर कोई व्यक्ति आत्म हत्या कर रहा हो तो इन परिस्थितियों में उसका जीवन समाप्त हो सकता है, क्योंकि राज्य व्यक्ति के हित को अच्छे ढंग से समझता है। अत: यदि ऐसा कोई मामला जिससे व्यक्ति के जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो राज्य को तत्काल हस्तक्षेप करना चाहिए।

21.6.1.3.2 पर-विषयक कार्य :- मिल ने इसके अन्तर्गत उन कार्यों को स्थान दिया है, जिनका संबंध दूसरे व्यक्तियों या समाज से रहता है। जैसे- समाज में अभद्रता या अनैतिकता फैलाना, राज्य विरोधी संगठनों का निर्माण करना आदि। इन कार्यों के सम्पादन में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिए। राज्य का उचित एवं प्रभावी नियन्त्रण आवश्यक है। यदि ऐसा करने में राज्य

Dain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Dehradun

सफल नहीं होता है तो राज्य में अव्यवस्था एवं अराजकता का ताण्डव नृत्य प्रारम्भ हो जाएगा तथा व्यक्ति का जीवन संकट में पड़ जाएगा। इस प्रकार मिल व्यक्ति के पर–विषयक कार्यों पर उचित नियन्त्रण लगाने की आवश्यकता पर बल देता है।

21.6.1.4 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में राज्य का हस्तक्षेप :– मिल के अनुसार निम्नलिखित विशेष परिस्थितियों में राज्य को व्यक्ति स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान करता है।

21.6.1.4.1 स्वतन्त्रता का दुरूपयोग :– व्यक्ति को स्वतन्त्रता इसलिए प्रदान की जाती है कि वह अपना चहुंमुखी विकास कर सके। लेकिन यदि व्यक्ति अपने स्वतन्त्रता का प्रयोग दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये करता है। जैसे– शराब पीकर सार्वजनिक शांति को भंग करना तो ऐसी स्थिति में राज्य व्यक्ति को रोक सकता है और उसके विरूद्ध उचित दण्डात्मक कार्यवाही भी कर सकता है।

21.6.1.4.2 कर्त्तव्य पालन से विमुख होना :– यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता द्वारा कर्त्तव्यपालन से विमुख होता है तो राज्य उचित हस्तक्षेप कर सकता है, जैसे पुलिस शराब पीकर अपनी गश्त दे आदि।

21.6.1.4.3 संकट काल :– जब राष्ट्र के समक्ष गम्भीर संकट है जैसे– युद्ध, विद्रोह या आन्तरिक अशांति आदि की स्थिति में राज्य हस्तक्षेप कर सकता है और राज्य अपने एकता अखण्डता एवं सम्प्रभुता को बनाए रखने के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है। व्यक्ति को सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

21.6.1.5 मिल के स्वतन्त्रता–सिद्धान्त का मूल्यांकन :– मिल के स्वतन्त्रता–सिद्धान्त का मूल्यांकन निम्नलिखित गुण–दोषों के द्वारा किया जा सकता है–

➢ **गुण :–** अनेक विद्वनों ने मिल के स्वतन्त्रता–सिद्धान्त की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। मिल का यह सिद्धान्त आधुनिक जगत का अनुपम उपहार है। उसने इसके माध्यम से व्यक्तिवाद और लोकतंत्र का किया है। कुछ विद्वानों के प्रंशसनीय विचार इस प्रकार हैं–

1. ऐबेस्टीन – ''मिल की स्थायी प्रसिद्धि का कारण स्वतन्त्रता पर उसका निबन्ध है। उसने भविष्यवाणी की थी कि उसकी रचनाओं में सम्भव: यह निबन्ध सबसे अधिक दीर्घजीवी होगा और उसकी यह भविष्यवाणी सत्य हुई है।''

2. मुरे – ''मिल के स्वतन्त्रता के निबन्ध में व्यक्तिवाद के दर्शन को उसका सबसे महत्त्वपूर्ण और सुसंगत योगदान मिलता है।''

3. डनिंग – ''मिल के सिद्धान्त में व्यक्तिवाद का पूर्ण एवं व्यवस्थित दर्शन निहित है।''

4. सेबाइन– ''राजनीतिक विचारधारा के क्षेत्र में मिल को पुस्तक ऑन लिबर्टी स्थायी देन है।''

5. जोड– ''स्वतन्त्रता पर मिल का निबंध सम्भवत: वैचारिक स्वतन्त्रता का सबसे प्रसिद्ध समर्थन और वैचारिक सहिष्णुता के पक्ष में जबर्दस्त दलील है।''

6. मैक्सी – ''विचार और भाषण की स्वतन्त्रता पर मिल की स्वतन्त्रता राजनीतिक साहित्य के इतिहास में महान देनों में से एक है''

➢ **दोष :–** मिल द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता– संबंधी सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती है।

21.6.1.5.1 आत्म–विषयक और पर–विषयक कार्य का विभाजन कठिन :– आलोचकों का मत है कि आत्म–विषयक और पर–विषयक के रूप में कार्यों का विभाजन करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति जो कार्य करता है उसका प्रभाव समाज पर अवश्य ही पड़ता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति शराब पीता है तो उसका प्रभाव उसके बच्चों एवं स्वास्थ्य पर पड़ता है। यह विभाजन कृत्रिम है।

21.6.1.5.2 वृहत्त सूची नहीं :– मिल ने आत्म–विषयक और पर–विषयक के कुछ कार्यों का उल्लेख किया है। जिनकी वृहत्त सूची नहीं दी हो जिसके अभाव में कार्य करना कठिन होता है।

21.6.1.5.3 पिछड़े वर्ग को स्वतन्त्रता नहीं :– आलोचकों का मत है कि मिल ने समाज के पिछड़े वर्ग को स्वतन्त्रता न देकर उसके साथ अन्याय किया है। वह उसके संकीर्ण विचारधारा का द्योतक है। भारत सहित विश्व के अनेक देशों में पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए विशेष बल दिया जा रहा है। अनेक कानून तथा योजनाएं बनाई जा रही है।

21.6.1.5.4 राज्य का प्रतिबन्ध :– मिल का यह विचार दोषपूर्ण है कि राज्य को व्यक्ति के केवल उन कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए, जिनका समाज के दूसरे व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि राज्य चाहे, तो व्यक्ति के प्रत्येक कार्य को पर–विषयक घोषित करके उस पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.6.1.5.5 सनकी को स्वतन्त्रता :- मिल ने विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्तियों को स्वतन्त्रता नहीं दी है। लेकिन वह सनकी व्यक्तियों को यह स्वतंत्रता देता है, जो समाज के लिए अहितकर सिद्ध हो सकता है। स्टीफन के शब्दों में, ''सनकी व्यक्ति इस प्रकार बेडौल कटे हुए शहतीर के समान है, जिसका राज्य में कोई उपयोग नहीं हो सकता।'' वस्तुत:, सनकपन व्यक्तिवाद का प्रहसन है। सनकी व्यक्ति को सुकरात और ईसा की श्रेणी मे रखना उनका अपमान करना है।

21.6.1.5.6 सत्य की खोज :- मिल का तर्क है कि तर्क-वितर्क द्वारा सत्य की खोज की जा सकती है। वस्तुत: सत्य की खोज वाद-विवाद द्वारा नहीं बल्कि चिन्तन द्वारा सम्भव है। बुद्ध, महावीर, ईसा तथा गांधी ने आत्मानुभूति द्वारा ही सत्य को प्राप्त किया गया।

21.6.1.5.7 समानता की उपेक्षा :- स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे के पूरक होते हैं। एक के बिना दूसरे का महत्त्व नहीं हो सकता। लेकिन मिल स्वतन्त्रता के मुकाबले समानता की उपेक्षा करते हैं। समानता के अभाव में स्वतन्त्रता अधिक दिनों तक अस्तित्व कायम नहीं रख सकती है।

21.6.1.5.8 अल्पमत का महत्त्व :- मिल ने बहुमत की अपेक्षा अल्पमत को विशेष महत्त्व दिया है। उसने एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा में अधिक रुचि प्रदर्शित की है।

21.6.1.5.9 खोखली स्वतन्त्रता और काल्पनिक व्यक्ति :- बार्कर का मत है कि मिल खोखली स्वतन्त्रता और काल्पनिक व्यक्ति का मसीहा है। खोखली स्वतन्त्रता इस अर्थ में है कि मिल ने आत्म-विषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है और समाज की उपेक्षा की है। वास्तव में बिना समाज या राज्य के स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। इस लिए मिल आत्म-विषयक विचार है, वह खोखली स्वतन्त्रता का द्योतक है।

मिल ने काल्पनिक व्यक्ति का भी चित्र उपस्थित किया है। यह इस अर्थ में कि व्यक्ति का संबंध आत्म-विषयक कार्य में राज्य या समाज से नहीं रखा गया है। वस्तुत: राज्य या समाज के बिना न तो व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव है और वहीं स्वतन्त्रता की उपयोगिता।

➢ **सारांश :-** यदि मिल के स्वतन्त्रता संबंधी सिद्धान्त का मूल्यांकन, आलोचनाओं के आधार पर नहीं बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर करे, तो यह स्पष्ट है कि मिल 19वीं सदी में पहला विचारक था, जिसने स्वतन्त्रता पर एक पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' लिखकर विश्व के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसके अस्तित्व और विकास के लिए अति-आवश्यक है। राज्य का व्यक्ति के ऊपर कम से कम नियन्त्रण होना चाहिए। इस प्रकार विचार एवं स्वतन्त्रता पर मिल ने जो विचार दिये वे राजनीतिक चिन्तन में अमर रहेंगे। शक्तिशाली राज्य के वातावरण में मिल, ने व्यक्तित्व स्वतन्त्रता का समर्थन कर मानवीय मूल्यों को अमरता प्रदान की है। जिसकी अमर ज्योति सम्पूर्ण मानव समाज आलोकित रहेगा।

21.7 प्रतिनिधि शासन

स्वतन्त्रता के प्रति गहरे लगाव के कारण मिल ने 'बहुमत के शासन' के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया और उस की जगह 'प्रतिनिधि शासन' का समर्थन किया। उसका विचार था कि लोकतन्त्र को सामाजिक प्रगति का साधन बनाने के लिए निर्वाचक मण्डल का शिक्षित होना आवश्यक है। अत: जब तक सम्पूर्ण निर्वाचक मण्डल शिक्षित नहीं हो जाता, तब तक सार्वजनिक शक्ति अपेक्षा कृत अनुभवी और सुशिक्षित विशिष्ट वर्ग को सौंपी जा सकती है। इस उदारमना अल्पमत की छत्रछाया में जन साधारण धीरे-धीरे सार्थक नागरिकता के गुण अर्जित कर लेंगे। फिर यह विशिष्ट वर्ग सार्वजनिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध भी करेगा। जन साधारण में शिक्षा के विकास के साथ-साथ राजनीतिक उत्तरदायित्व भी बढ़ते जाएंगे। अन्तत: एक ऐसे स्वतन्त्र समाज का उदय होगा, जिसमें समस्त स्त्री-पुरुष शासन के अधिकारों और कर्त्तव्यों में समान रुप से भागीदार होंगे। मिल ने प्रतिनिधि शासन के विचार को अपनी प्रसिद्ध कृति 'कंसीडरेशन्स ऑन रिप्रजेंटेटिव गवर्नमेंट' (1861) में प्रतिपादित किया है।

➢ प्रतिनिधि शासन का अर्थ

मिल के अनुसार ''प्रतिनिधि शासन का अर्थ यह है कि संपूर्ण जनता या उसका अधिकांश भाग स्वयं अपने द्वारा समय-समय पर निर्वाचित किये जाने वाले प्रतिनिधियों के द्वारा उस नियन्त्रण-शक्ति का प्रयोग करती है, जो प्रत्येक संविधान में कहीं न कहीं निवास करती है।''

Jai Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.7.1 प्रतिनिधि शासन की शर्तें

मिल ने प्रतिनिधि शासन की स्थापना और सफलता के लिए तीन शर्तें बताई है–

21.7.1.1 जनमत की स्वीकृति :- जिन व्यक्तियों के लिए प्रतिनिधि सरकार की स्थापना की जाए, वे इसे स्वीकार करने के इच्छुक हो या इतने अतिच्छुक न हों कि इसकी स्थापना में बाधा उत्पन्न करें।

21.7.1.2 स्थायित्व :- प्रतिनिधि सरकार को स्थायी रूप प्रदान करने के लिए जो कुछ भी किया जाता था आवश्यक हो उसे करने की व्यक्तियों में इच्छा या योग्यता हो।

21.7.1.3 योग्यता एवं अभिरुचि :- प्रतिनिधि सरकार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार व्यक्तियों से जिन कार्यों को चाहे, उनको करने की उनमें योग्यता हो और उन कार्यों की शर्तों केा पूर्ण करने के लिए वे तैयार हो।

21.7.2 प्रनिनिधि शासन की विशेषताएँ

मिल के प्रतिनिधि शासन की निम्नलिखित विशेषताएं है–

21.7.2.1 प्रतिनिधि की स्थिति :- मिल के अनुसार प्रतिनिधि केवल जनता का व्यक्ति ही नहीं है और उसका कार्य केवल प्रतिनिधि सभा को जनता के विचारों से अवगत कराना ही नहीं है, बल्कि उसके कुछ कार्य और भी है– उसे अपने स्वयं के विचारों की सभा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए और उनसे अन्य प्रतिनिधियों का पथ–प्रदर्शन करना चाहिए।

21.7.2.2 प्रतिनिधि सभा का निरीक्षण और नियन्त्रण का कार्य :- मिल के मतानुसार– ''एक प्रतिनिधि सभा का वास्तविक कार्य शासन करना नहीं है, क्योंकि वह इसके लिए अयोग्य है। उसका वास्तविक कार्य शासन का निरीक्षण और नियन्त्रण करना है। इस उद्देश्य से उसके, अर्थात् कार्यपालिका के कार्यों को प्रकाशित करना, अनुचित समझे जाने वाले कार्यों का पर्दाफाश करना, अनुचित सिद्ध होने पर कार्यों की निंदा करना सत्ता का दुरुपयोग करने वालों को पदच्युत करना, उनके उत्तराधिकारियों की नियुक्ति करना आदि प्रतिनिधि सभा का कार्य है।''

21.7.2.3 प्रशासन स्थाई सरकारी पदाधिकारियों द्वारा :- मिल का विचार है कि प्रशासन का काम स्थायी सरकारी पदाधिकारियों द्वारा होना चाहिए। उनकी नियुक्ति खुली प्रतियोगिता के आधार पर होनी चाहिए। योग्य, शिक्षित और प्रशिक्षित सरकारी अधिकारी प्रशासन को काफी दक्षता के साथ चला सकते हैं। लेकिन प्रशासन पर संसद और मंत्रियों का नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए।

21.7.2.4 विधि आयोग :- संसद में साधारण योग्यता वाले सदस्य रहते हैं। वे कानून को ठीक से नहीं समझ पाते हैं। कानून का निर्माण एक जटिल कार्य है। अत: मिल का मानना है कि कानून निर्माण का कार्य एक विधि आयोग द्वारा होना चाहिए। विधि आयोग कानून का प्रारूप तैयार करें और इसके बाद उसे संसद में प्रस्तुत किया जाए। संसद उन्हें स्वीकार एवं अस्वीकार तथा संशोधन करने का कार्य कर सकती।

21.7.2.5 द्वितीय सदन :- मिल ने इग्लैण्ड की लार्ड सभा के गठन का विरोध किया। उसका मत है कि उच्च सदन में सामन्तों के स्थान पर ऐसे व्यक्ति लिए जाए जो देश की बौद्धिकता, आध्यात्मिकता, वैज्ञानिक ज्ञान आदि का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। मिल के शब्दो में, ''यदि एक सदन व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सदन हो तो दूसरा सदन राजनीतिज्ञों और ऐसे व्यक्तियों का सदन हो, जिन्होंने राजनीति एवं प्रशासन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हो। इस प्रकार मिल ने नियन्त्रक एवं सहायक सदन के रूप में द्वितीय सदन की उपयोगिता को स्वीकार किया है।''

21.7.2.6 संसद सदस्यों को वेतन नहीं :- मिल संसद सदस्यों को वेतन देने का विरोधी था। उसका विचार था कि संसद सदस्यों के लिए वेतन की व्यवस्था होने पर संसद की तरफ सेवाभावी व्यक्तियों के आकृष्ट होने के बजाए धूर्त और भाषणबाज व्यक्ति आकर्षित होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि जनहित के रूप में संसद का महत्त्व समाप्त हो जाएगा।

21.7.2.7 स्थानीय स्वशासन का विस्तार :- मिल स्थानीय स्वशासन के प्रबल समर्थक थे। वे इन्हें लोकतंत्र की आधारशिला मानते हैं। प्रशासकों, नेताओं और राजनीतिज्ञों को प्रशासन का प्रथम प्रशिक्षण स्थानीय संस्थाओं से ही मिलता है। अत: प्रजातंत्र की सफलता के लिए स्थानीय स्वशासन का विस्तार करना आवश्यक है।

Jan Nayak Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.7.2.8 सशक्त विरोधी दल :- एक प्रतिनिधि शासन के लिए मिल ने सशक्त विरोधी दल का होना आवश्यक बताया है। विरोधी दल सरकार की गलत नीतियों की आलोचना करता है और उसे कर्त्तव्यों से परिचित करवाता है। इसके साथ वह विभिन्न हितों का भी प्रतिनिधित्व करता है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए एवं सशक्त विरोधी दल का रहना आवश्यक है।

21.7.2.9 मतदाताओं की योग्यताएं :- मिल ने अयोग्य और अशिक्षित व्यक्तियों को शासन कार्य से दूर रखने के लिए मतदाताओं की शिक्षा एवं सम्पत्ति की योग्यताएं निर्धारित की है।

21.7.2.9.1 शिक्षा :- मिल का कथन है कि मताधिकार केवल शिक्षित व्यक्तियों को मिला चाहिए। जो व्यक्ति साधारण रूप से पढ़ने-लिखने और गणित के प्रश्न हल करने की योग्यता की रखते है उन्हें मताधिकार केसे दिया जा सकता है। अत: सभी को अनिवार्य रूप से शिक्षा मिलनी चाहिए। गरीबों के लिए नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

21.7.2.9.2 सम्पत्ति :- मिल ने मतदाताओं की सम्पत्ति-विषयक योग्यता पर भी बल दिया है। उसका मत है कि संपत्तिशाली व्यक्ति संपत्तिहीन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होते हैं और इसलिए वे शासन के कार्य अधिक कुशलता के साथ कर सकते है। अत: कर लगाने वाली सभा के लिए उन्हीं व्यक्तियों को चुना जाना चाहिए जो सम्पत्ति के स्वामी है। संपत्तिहीन व्यक्ति सार्वजनिक मामलों में अपव्ययी प्रवृत्ति अपना लेते हैं और जनता के हितों की उचित रूप से रक्षा नहीं कर पाते हैं।

21.7.2.10 अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा :- मिल लोकतांत्रिक शासन को सबसे अच्छी शासन-व्यवस्था मानता है, लेकिन उसे यह भय था कि बहुमत पर आधारित यह शासन अल्पमतों के हितों की उपेक्षा न कर दें। अत: अल्प संख्यकों के हितों की रक्षा हेतु मिल ने दो सुझाव दिये - 1. स्वतन्त्र सदस्य का निर्वाचन 2. हेयर प्रणाली पर आधारित आनुपातिक प्रतिनिधित्व।

21.7.2.11 बहुल या गुणात्मक मतदान :- मिल ने वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना हेतु उच्च बौद्धिक और नैतिक चरित्रवाले नागरिकों के लिए बहुल मताधिकार अर्थात् एक से अधिक मताधिकार देने का समर्थन करता है। उसका मानना है कि अज्ञानी और मूर्ख और उदासीन प्रवृत्ति के व्यक्तियों की तलुना में बद्धिमान, शिक्षित और उच्च चरित्र वाले व्यक्तियों को एक से अधिक मताधिकार मिलना चाहिए।

21.7.2.12 प्रकट मतदान :- मिल ने बेन्थम की तरह गुप्त मतदान का समर्थन नहीं किया, क्योंकि इससे मतदाताओं में बेईमानी और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। मिल के अनुसार मतदान एक पवित्र कर्त्तव्य है, जिसका प्रयोग सार्वजनिक हित में जनता की देखरेख और उसकी आलोचना सहन करने के लिए खुले रूप में किया जाना चाहिए।

21.7.2.13 महिला मताधिकार :- श्रीमती टेलर के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित होने के बाद मिल को यह विश्वास हो गया कि स्त्रियां अनेक बातों में पुरुषों से श्रेष्ठ होती है। अत: उन्हें पुरुषों के समान कानूनी एवं राजनीतिक अधिकार दिये जाने चाहिए। लिंग के आधार पर मतदान में कोई भेद नहीं होना चाहिए। उस समय इंग्लैण्ड में महिलाओं को मताधिकार प्राप्त नहीं था। महिलाओं की स्थिति दासों के समान थी। अत: मिलने संसद के अन्दर एवं बाहर महिला मताधिकार एवं दासता से मुक्ति दिलाने के हेतु आवाज बुलन्द की। मिल के इन्हीं विचारों के चलते 1918 में इंग्लैण्ड की महिलाओं को मताधिकार प्राप्त हुआ।

21.7.3 प्रतिनिधि शासन का मूल्यांकन

मिल के प्रतिनिधि शासन का मूल्यांकन उसके गुण-दोषों के आधार पर किया जा सकता है-

मिल द्वारा प्रतिपादित प्रतिनिधि शासन के गुणों का निम्नलिखित रुप से उल्लेख कर सकते हैं -

➢ **गुण**

21.7.3.1 शैक्षणिक योग्यता :- मिल का यह सुझाव उचित है कि मतदाताओं के लिए कुछ शैक्षणिक योग्यता का होना आवश्यक है। अशिक्षित जनता मताधिकार का दुरुपयोग करती है।

21.7.3.2 बहुल मताधिकार :- मिल का यह सुझाव मौलिक है कि मतों को केवल गणनाहीन की जाए, बल्कि उनके वजन पर भी ध्यान दिया जाए। इस पद्धति का अनुसरण करके विभिन्न क्षेत्रों में विख्यात व्यक्तियों को संसद में स्थान दिया जा सकता है और उनके निष्पक्ष विचारों का लाभ उठाया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21.7.3.3 अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा :- मिल ने अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए हेयर पद्धति पर आधारित आनुपातिक प्रतिनिधित्व को प्रस्तावित किया है, जो प्रशंसनीय है।

21.7.3.4 महिला मताधिकार :- पुरुषों के समान महिलाओं को सभी प्रजातांत्रिक देशों में मताधिकार दिया गया है। मिल ने महिला मताधिकार की आवाज बुलन्द करके सकारात्मक कार्य किया है।

21.7.3.5 विरोधी दल :- मिल का यह कथन सत्य है कि प्रबल विरोधी दल के अभाव में प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता जो काफी महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

21.7.3.6 प्रतिनिधि सरकार प्रगतिशील देशों के लिए :- मिल का मत है कि प्रतिनिधि सरकार प्रगतिशील देशों के लिए उपयुक्त है। अप्रगतिशील देशों में इसकी सफलता संदिग्ध है। यह अपने आप में सत्य है।

मिल के प्रतिनिधि शासन संबंधी दोषों को निम्नलिखित रुप से विश्लेषित कर सकते हैं -

➢ **दोष**

1. प्रतिनिधि सभा के कार्य :- मिल ने प्रतिनिधि सभा को कानून निर्माण के कार्य से वंचित किया है। यह अप्रजातांत्रिक है। उसका कार्य प्रशासन की निगरानी और नियन्त्रण करना ही नहीं है, बल्कि कानून बनाना भी।

2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व जटिल :- अल्प संख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, इसके लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया है। उसके द्वारा प्रतिपादित हेयर पद्धति बहुत जटिल है। इसे व्यावहारिक रूप देना कठिन है। इससे दलगत राजनीति का खतरा बढ़ता है।

3. प्रकट मतदान उचित नहीं :- वर्तमान युग में प्रकट मतदान उचित नहीं है। असामाजिक तत्त्वों के कारण इस मत का प्रयोग स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं कर सकता। इसीलिए गुप्त मतदान प्रणाली को अपनाया गया है।

4. बहुल मतदान अप्रजातान्त्रिक :- आलोचकों का मत है कि अधिक योग्य व्यक्तियों को अधिक मत और कम योग्य व्यक्तियों को कम मत देने का अधिकार देना अप्रजातांत्रिक है। आज के युग में बहुत मतदान का कोई अर्थ नहीं है।

5. मतदाताओं की योग्यताएं अवांछनीय : मिल ने मतदाताओं के लिए शैक्षणिक और संपत्ति संबंधी योग्यता निर्धारित की है, जो अप्रजातांत्रिक है। शिक्षा और सम्पत्ति की योग्यता निर्धारित करना प्रजातंत्र को चुनौती देना है क्योंकि प्रजातंत्र की मूल भावना समानता के विरूद्ध है। अशिक्षित और गरीब व्यक्ति मत का प्रयोग शिक्षित और धनी व्यक्ति की तुलना में अच्छे ढंग से करता है।

6. समानता की उपेक्षा :- मिल ने स्वतन्त्रता पर अधिक बल देकर समानता की उपेक्षा की है। उसके बहु मताधिकार का सिद्धान्त एवं मतदाता की योग्यता का सिद्धान्त समाज में असमानता को जन्म देता है।

21.8 सारांश

उपर्युक्त विवेचना के तत्पश्चात् निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि मिल ने प्रनिनिधि शासन के सुधार के लिए जो सुझाव दिये है, उनका अत्यन्त महत्त्व है। संसदीय पद्धति और निर्वाचन में सुधार हेतु जो सुझाव है, वे राजनीतिक चिन्तन की अमूल्य विधियां है। वेपर ने लिखा है- ''मिल प्रजातंत्र की बुराईयों से प्रजातंत्र की रक्षा करना चाहता था, क्यों कि यह तत्कालीन आवश्यकता थी और ऐसा करने में वह सफल रहा है। उसका महत्त्व चिंरजीवी तथा चिरस्मरणीय है।''

डॉयल का मत है कि- ''मिल ने निर्वाचन- पद्धति, संसदोय कार्य प्रणाली और कार्यों के संबंध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुधारों का पक्षपोषण किया। उसके सुझाव आज की उतने ही महत्त्वपूर्ण है, जितने कि वे 1861ई. में थे।''

21.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न :-

1. ''बेन्थम के सिद्धान्त में संशोधन करके मिल ने उपयोगितावाद की सरलता और वस्तु-निरपेक्षता का अन्त कर दिया।'' व्याख्या कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. स्वतन्त्रता पर जे.एस. मिल के विचारों का विवेचन करें।
3. मिल द्वारा प्रतिपादित प्रतिनिधित्व शासन पर निबंध लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न :-

1. मिल द्वारा प्रस्तुत उपयोगितावाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क दीजिए।
3. मिल के आत्म विषयक कार्य पर टिप्पणी लिखिए।
4. मिल के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किन परिस्थितियों में किया जा सकता है।
5. मिल की स्वतन्त्रता के गुण बताओ। (कोई तीन)
6. मिल की स्वतन्त्रता के दोष बताओ। (कोई तीन)
7. मिल ने प्रतिनिधि शासन की आवश्यकता पर बल क्यों दिया।
8. प्रतिनिधि शासन की सफलता की शर्तें क्या है ?
9. द्वितीय सदन के संबंध में मिल के विचार बताओ?
10. प्रतिनिधि शासन के गुण बताओ। (कोई तीन)
11. प्रतिनिधि शासन के दोष बताओ। (कोई तीन)

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न :-

1. मिल का जन्म कब और कहां हुआ ?
2. स्वतन्त्रता के संबंध में मिल ने किस पुस्तक को लिखा है ?
3. मिल ने स्वतन्त्रता के कितने व कौन से प्रकार बताए हैं ?
4. आत्म-विषयक कार्य का क्या तात्पर्य है ?
5. पर-विषयक कार्य का क्या आशय है ?
6. मिल की स्वतन्त्रता को खोखली स्वतन्त्रता किस ने कहा है ?
7. मिल किस शासन प्रणाली का समर्थक था ?
8. व्यक्तिवाद का प्रथम प्रवर्तक किसे माना जाता है ?
9. मिल कानून का निर्माण किससे करवाना चाहता है ?
10. मिल ने मतदाता के लिए कौन सी योग्यताएं बताई है ?
11. अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण हेतु मिल ने कौन सी पद्धति का समर्थन किया।
12. बहुल मतदान क्या होता है ?

21.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओम प्रकाश गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'' मयूर पेपर बेक्स, नौएडा
2. चन्द्रदेव प्रसार, ''महान राजनीतिक चिन्तक मिल'' भारती पब्लिकेशन्स, पटना
3. के.एन.वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराएं'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
4. नागेश्वर प्रसाद, ''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक'' जयराज प्रकाशन, बरेली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 22

जार्ज विल्हैल्म फ्रेडिक हीगल (1770ई. से 1831ई.)

संरचना

22.1 उद्देश्य

22.2 प्रस्तावना

22.3 हीगल का जीवन-परिचय

22.4 हीगल की रचनाएँ

22.5 हीगल का द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वात्मक प्रणाली

- 22.5.1 द्वन्द्वात्मक पद्धति की विशेषताएँ
  - 22.5.1.1 संघर्ष ही विकास का निर्धारक है।
  - 22.5.1.2 स्वत: प्रेरित और स्वत: संचालित
  - 22.5.1.3 सत्य की खोज का महत्त्वपूर्ण तरीका
- 22.5.2 द्वन्द्ववाद की आलोचनाएँ
  - 22.5.2.1 विभिन्न वस्तुओं में विरोध की अनावश्यक कल्पना
  - 22.5.2.2 अस्पष्ट पद्धति
  - 22.5.2.3 वैज्ञानिकता का नितान्त अभाव
- 22.5.3 द्वन्द्वात्मक पद्धति के गुण
  - 22.5.3.1 यथार्थ स्वरूप को समझने में सहायक
  - 22.5.3.2 मानव सभ्यता का विकास आकस्मिक नहीं
  - 22.5.3.3 विकास का नियम अधिक तार्किक
  - 22.5.3.4 मानव के मनोविज्ञान को समझने में सहायक

22.6 हीगल का राज्य सिद्धान्त

- 22.6.1 राज्य 'विश्वात्मा' का पृथ्वी पर अवतार है
- 22.6.2 राज्य का विकास 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' से हुआ है
- 22.6.3 हीगल के राज्य की विशेषताएँ
  - 22.6.3.1 राज्य, दैवीय सत्ता
  - 22.6.3.2 राज्य का आंगिक स्वरूप
  - 22.6.3.3 राज्य साध्य है, साधन नहीं
  - 22.6.3.4 राज्य और व्यक्ति में विरोध नहीं
  - 22.6.3.5 राज्य सर्वशक्तिमान
  - 22.6.3.6 राज्य, नैतिक बन्धनों से मुक्त
  - 22.6.3.7 राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व

22.7 सारांश

22.8 अभ्यास प्रश्नावली

22.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

22.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य होगल के उन विचारों को जानना है, जिनके माध्यम से उसे आदर्शवादी विचारक के रूप में प्रसिद्धि मिली। इस अध्याय से आप जान सकेंगे —

- हीगल का द्वन्द्ववाद, जिसके माध्यम से वह विकास को प्रदर्शित करना चाहता है,
- हीगल राज्य की सर्वोच्चता को सिद्ध करने के लिए उसे विश्वात्मा के रूप में प्रस्तुत करता है और दैवीय सत्ता का समर्थन करता है।
- आप यह भी जान सकेंगे कि हीगल राज्य की साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानता है।

22.2 प्रस्तावना

''मनुष्य का सारा मूल्य और महत्त्व, उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है।'' – हीगल

हीगल को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आदर्शवादी विचारक माना जाना जाता है, यद्यपि आदर्शवाद का प्रारम्भ प्राचीन यूनानी राजनीतिक विचारधारा से हुआ। प्लेटो को आदर्शवाद का जनक माना जाता है। उसने राज्य को सर्वश्रेष्ट नैतिक संस्था माना उसके अनुसार व्यक्ति का पूर्ण विकास राज्य में ही सम्भव है। प्लेटो के बाद अरस्तू ने आदर्शवाद का प्रतिपादन किया।

मध्यकाल में कोई भी प्रमुख राजनीतिक विचारक आदर्शवाद के साथ नहीं जुड़ा। 17वीं शताब्दी में पुन: आदर्शवाद का विकास हुआ हैं। थॉमस मूर आदर्शवाद से प्रभावित होकर 'यूटोपिया' नामक पुस्तक की रचना करते हैं। आधुनिक युग का प्रमुख आदर्शवादी रूसो को माना जाता है। रूसो के पश्चात् जर्मनी आदर्शवाद के केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आता है। जर्मनी के आदर्शवादी विचारकों में काण्ट, फिक्टे एवं हीगल के नाम प्रसिद्ध हुए। आदर्शवादी चिन्तन का चरम और सम्पूर्ण रूप हीगल की विचारधारा में मिलता है। हीगल आधुनिक युग मे राज्य को सर्वशक्तिमान के रूप में प्रस्तुत करता है। हीगल राज्य को एक ईश्वर निर्मित संस्था मानता है तथा राज्य को ईश्वर के प्रतिरूप में स्थापित करने का हरसम्भव प्रयत्न करता है। हीगल ने ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से कहा था कि व्यक्ति तथा राज्य के बीच कोई विरोध नहीं होता है। मानव की स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञाओं का पालन करने में ही है।

22.3 हीगल का जीवन-परिचय

हीगल का जन्म जर्मनी के नगर स्टुटगार्ड में सन् 1770ई. में हुआ था। हीगल पर अध्ययन काल में ही जर्मन राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा। 1793 में स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद अपने विभिन्न शैक्षणिक पदों पर कार्य किया। इसी दौरान उन्होंने अपनी कृति 'Science oh Logic' को पूर्ण किया। इससे उनको प्रसिद्धि मिली और उनकी पहचान एक दार्शनिक के रूप में की जाने लगी। हीगल को अनेक विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर बनने का गौरव प्राप्त। अपने ग्रन्थों 'Philosophy oh Right' और 'Philosophy oh History' के आधार पर उसने प्रशिया के निरंकुश राजतंत्र का प्रबल समर्थन किया। 61 वर्ष की आयु में उसका देहावसान हो गया।

22.4 हीगल की रचनाएँ

हीगल ने अपने राजनीतिक व दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन निम्न ग्रन्थों में किया है :-

1. Philosophy oh Right
2. Philosophy oh History
3. Science oh Logic
4. The Phenomenology oh Spirit
5. Encyclopedia oh Philosophical Science
6. Constitution oh Germany

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

22.5 हीगल का द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वात्मक प्रणाली

हीगल के दर्शन का आधार स्तम्भ है 'विश्वात्मा की अवधारणा' जो सतत् गतिशील होती है। इसे 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' का नाम दिया गया। हीगल ने अपने समस्त दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारों को द्वन्द्ववाद के आधार पर प्रतिपादित किया। हीगल ने यह विचार यूनानी दार्शनिक सुकरात से ग्रहण किया। हीगल द्वन्द्व की इस प्रणाली को विचारों के क्षेत्र में लागू करते हुए कहता है कि सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप 'वाद' होता है, विकासवाद के अनुसार वह बढ़ता और उसका विकसित रूप कालान्तर में उसके मौलिक रूप का बिल्कुल विपरीत हो जाता हे। इस विपरीत रूप को प्रतिवाद कहते हैं। ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता है, विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार यह मौलिक रूप व विपरीत रूप आपस में मिल जाते हैं। इन दोनों के मेल से वस्तु का नया समन्वित रूप संवाद बन जाता है। इस तरह वाद, प्रतिवाद एवं संवाद की यह त्रयी निरन्तर चलती रहती है।

हीगल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के निम्नलिखित रेखाचित्रों द्वारा समझा जा सकता है-

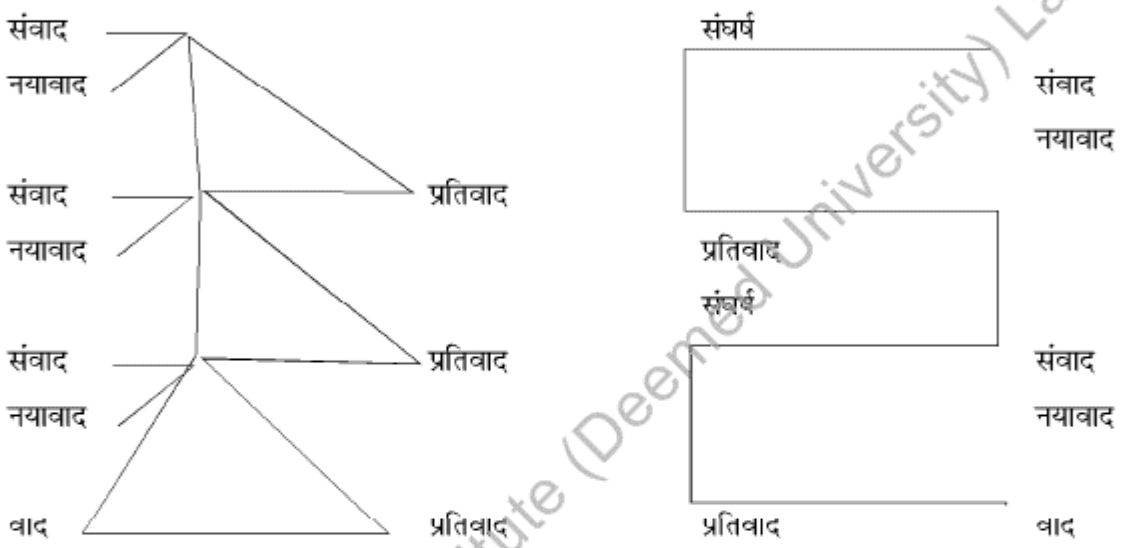

इस रेखाचित्र से स्पष्ट होता है कि विकास की प्रक्रिया सरल या सीधी रेखा में नहीं होती, यह पहले आगे बढ़ती है, फिर कुछ पीछे हटती है, किन्तु आगे बढ़ने और पीछे हटकर आगे बढ़ने में हम उस स्थान पर कभी नहीं आते जहां से हम चले थे, किन्तु हम सदैव उससे अधिक ऊँचे स्थान पर रहते हैं।

हीगल के अनुसार विश्वात्मा की विकास श्रृंखला वाद, प्रतिवाद एवं संवाद के अनेक त्रयी समूहों से बनी है। प्रत्येक त्रयी की व्यापकता में अन्तर हैं। सर्वव्यापक त्रयी.....तर्क, प्रकृति और आत्मा है।

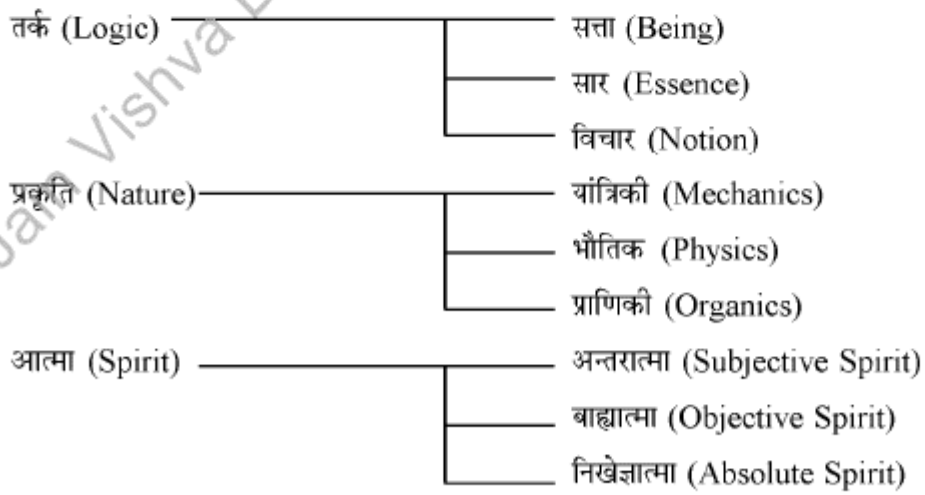

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

22.5.1 द्वन्द्वात्मक पद्धति की विशेषताएँ

हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ है–

22.5.1.1 संघर्ष ही विकास का निर्धारक है :- द्वन्द्वात्मक पद्धति की मूल मान्यता है कि प्रगति या विकास दो परस्पर विरोधी वस्तुओं या शक्तियों में द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप होता है। इस तरह मानव एवं समाज का विकास एक सीधी रेखा मे नहीं होता है।

22.5.1.2 स्वत: प्रेरित और स्वत: संचालित :- इस पद्धति की प्रमुख विशेषता इसमें स्वत: संचालित होने के गुण होते हैं। इसकी स्वत: चलायमान होने की शक्ति का आधार इसमें निहित अन्त: विरोधी संघर्ष की प्रवृत्ति है। वाद धीरे–धीरे स्वत: प्रतिवाद बन जाता है और प्रतिवाद स्वत: ही संवाद बन जाता है। संवाद नयावाद बनकर प्रतिवाद को जन्म देने के लिए बाध्य होता है। हीगल ने इसे 'ऐतिहासिक आवश्यकता' कहा है।

22.5.1.3 सत्य की खोज का महत्त्वपूर्ण तरीका :- हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति को सत्य की खोज का महत्त्वपूर्ण तरीका मानता है। उसने यही प्रतिपादित किया है कि किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए हमें उसकी प्रतिकूल वस्तु से तुलना करनी चाहिए उससे हम सत्य का अन्वेषण कर सकते हैं।

22.5.2 द्वन्द्ववाद की आलोचनाएँ

हीगल के द्वन्द्ववाद की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती है–

22.5.2.1 विभिन्न वस्तु में विरोध की अनावश्यक कल्पना :- द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा हीगल ने विभिन्न वस्तुओं में विरोध की अनावश्यक कल्पना कर ली है। हीगल ने जहाँ कहां भी थोड़ी भिन्नता देखी वहां तुरन्त द्वन्दात्मक विरोध की कल्पना कर दी और वह वाद, प्रतिवाद और संवाद की त्रिकोण की स्थापना में लग जाता है। रसेल के अनुसार ''निर्धनता और सम्पन्नता दो परस्पर विरोधी नहीं वरन् दो विभिन्न स्थितियां भी है लेकिन वह इन्हें परस्पर विरोधी मान लेता है।''

22.5.2.2 अस्पष्ट पद्धति :- आलोचकों का मत है कि हीगल की पद्धति अस्पष्ट है। उसके द्वन्द्व की अस्पष्टता को उसके द्वारा प्रस्तुत (अ) समाज और परिवार (ब) कला और धर्म के उदाहरणों में देखा जा सकता है। हीगल के अनुसार परिवार का प्रतिवाद समाज है, जबकि परिवार के समस्त गुण प्रेम, स्नेह, एकत्व आदि समाज में जाकर नष्ट नहीं होते। समाज तो परिवार का विकसित ही नहीं, विराट् रूप है। इसी प्रकार कला का विरोधी धर्म का होना पूर्ण अनुचित लगता है।

22.5.2.3 वैज्ञानिकता का नितान्त अभाव :- हीगल द्वारा प्रस्तुत द्वन्द्ववाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसमें वैज्ञानिकता का नितान्त अभाव है। इस पद्धति को अपनाते हुए उसने अपनी मनमर्जी से वाद, प्रतिवाद एवं संवाद की त्रयी स्थापित कर दी। उदाहरण के लिए इस पद्धति का प्रयोग करके हीगल ने प्रशिया के निरंकुश राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली घोषित किया। इस पद्धति की अवैज्ञानिकता इस बात से भी स्पष्ट है कि इस पद्धति को अपनाकर हीगल और मार्क्स ने राज्य के संबंध में परस्पर नितान्त विरोधी धारणा व्यक्त की। इसके संबंध में वेपर ने लिखा है कि– ''हीगल की यह पद्धति नाममात्र के लिए वैज्ञानिक है क्योंकि इसका विकास विज्ञान के बगीचे में नहीं वरन् प्रशिया के शासन की दासता के कूड़े में हुआ।''

22.5.3 द्वन्द्वात्मक पद्धति के गुण

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद हीगल के द्वन्द्वात्मक पद्धति के निम्नलिखित गुण बताए जा सकते हैं–

22.5.3.1 यथार्थ स्वरूप को समझने में सहायक :- इस पद्धति, द्वारा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को समझने में मदद मिलती है। वस्तुओं के विरोधी तत्त्वों–वाद, प्रतिवाद को समझने से उनका वास्तविक स्वरूप उभरकर सामने आता है।

22.5.3.2 मानव सभ्यता का विकास आकस्मिक नहीं :- इस पद्धति से यह स्पष्ट होता है कि मानव सभ्यता का विकास कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि सतत् विकास का परिणाम है। इसने मानव सभ्यता के विकास की एक नवीन अवधारणा प्रस्तुत की।

22.5.3.3 विकास का नियम अधिक तार्किक :- द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा प्रतिपादित विकास का नियम अधिक तार्किक है। पूर्व में यह माना जाता है कि मानव सभ्यता का विकास सरल रेखा में निरन्तर उन्नति के पथ पर होता है जबकि हीगल ने यह प्रतिपादित किया कि मानव सभ्यता का विकास बहुत उतार–चढ़ाव के साथ हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

22.5.3.4 मानव के मनोविज्ञान को समझने में सहायक :- हीगल की इस पद्धति से मानव के बौद्धिक क्रियाओं के मनोविज्ञान को समझने में सहायता मिलती है। रसेल के अनुसार "हीगल की पद्धति मानव मन की कार्य प्रणाली की सुचारु रूप से चित्रित करती है क्योंकि कई बार मानव मन इसी प्रकार के विरोधों के मार्ग से आगे बढ़ता है।"

22.6 हीगल का राज्य सिद्धान्त

हीगल राज्य की उत्पत्ति के संबंध में दैवीय सिद्धान्त का समर्थन करता है। हीगल के 'राज्य संबंधी सिद्धान्त' को समझने के लिए उसके दो ग्रन्थ – 'फिनोमिनोलोजी ऑफ स्पिरिट' तथा 'फिलोसफी ऑफ राइट' महत्त्वपूर्ण है। उसके राज्य संबंधी विचारों पर तत्कालीन जर्मनी की राजनीतिक दुर्दशा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हीगल द्वारा राज्य संबंधी विचारों का प्रतिपादन का मूल उद्देश्य जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण करना था। हीगल का राज्य संबंधी विचार निम्नलिखित रुप से हैं–

22.6.1 राज्य 'विश्वात्मा' का पृथ्वी पर अवतार है

हीगल के राजनीतिक दर्शन का आधार 'विश्वात्मा' का विचार है। विश्व में पाये जाने वाली समस्त जड़ और चेतन विश्वात्मा की देन है। विश्वात्मा का विकास धीरे–धीरे होता है।

सर्वप्रथम जड़ जगत में इसकी अभिव्यक्ति होतीहै। फिर वनस्पतियों और प्राणियों के रूप में इसका उच्चतर रूप मनुष्य के रूप में प्रकट होता है। विश्वात्मा का विकास कहीं अवरूद्ध नहीं हो जाता और परिवार व समाज जैसी संस्थाओं में इसका प्रकटीकरण होता है। अन्त में विश्वात्मा राज्य के रूप में प्रकट होती है।

विश्वात्मा का विकास और राज्य निर्माण :-

22.6.2 राज्य का विकास 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' से हुआ है

हीगल से पूर्व राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौतावादी सिद्धांत प्रचलित था। हॉब्स, लॉक एवं रूसो का मानना था कि राज्य एक मानव निर्मित संस्था है। हीगल ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया कि राज्य 'विश्वात्मा' के आध्यात्मिक पक्ष का द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार होने वाले चरम विकास का परिणाम है।

वाद
संवाद ◺ प्रतिवाद

हीगल के शब्दों में "राज्य का अस्तित्व विश्व में ईश्वर की शोभायात्रा है उसका आधार विवेक की शक्ति है, जो अपने को इच्छा के रूप में साकार बनाती है।"

22.6.3 हीगल के राज्य की विशेषताएँ

हीगल के राज्य सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

22.6.3.1 राज्य दैवीय सत्ता :- हीगल राज्य को ईश्वर का अवतार मानता है। उसकी द्वन्द्वात्मक धारणा के अन्तर्गत राज्य सर्वोच्च संगठन है जिसमें विश्वात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो चुकी है। उसका मत है कि राज्य दीर्घकालीन विकास का परिणाम है। यह निम्न कोटि के सामूहिक जीवन से उच्चतर प्रकृति के संगठन के रूप में विकसित होते हुए जीवन की पूर्णता पर पहुंचने की प्रक्रिया का फल है कि जिसमें दैवीय चेतना निरन्तर कार्यरत रहती है। परिवार निम्नतर सामाजिक ईकाई है, उससे उच्च इकाई समाज तथा उच्चतर इकाई राज्य है। हीगल के मत में राज्य पृथ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप है।

22.6.3.2 राज्य का आंगिक स्वरूप :- हीगल का मत है कि राज्य में केवल आंगिक एकता नहीं पायी जाती है अपितु वह राज्य को एक चेतन प्राणी के रूप में मानते हैं। उसके अनुसार राज्य की स्वत: इच्छा तथा व्यक्तित्व होता है जिसमें उसके अंगों (व्यक्तियों तथा समाज) की इच्छा विलिन होती है। टांके के ''राज्य व्यक्ति है वे एक-दूसरे से स्वतन्त्र है वे आध्यात्मिक सताएँ हैं, मानव आत्मा की मूल सृष्टि है, उन्हें ईश्वर के विचार तक कहा जा सकता है।''

22.6.3.3 राज्य साध्य है, साधन नहीं :- हीगल के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए नहीं बना अपितु व्यक्ति राज्य के लिए बना है। इसी स्थिति में राज्य की व्यक्ति की तुलना में सर्वोच्च है।

22.6.3.4 राज्य और व्यक्ति में विरोध नहीं :- हीगल के अनुसार राज्य और व्यक्ति में विरोध नहीं है क्योंकि विश्वात्मा जिन संस्थाओं के रूप में प्रकट होती है, उनमें राज्य सर्वोच्च है, दोनों के हित एक है। उसके अनुसार इतिहास में राज्य ही व्यक्ति है और जीवन चरित्र में जो स्थान व्यक्ति का है वही इतिहास में राज्य का स्थान है। हीगल की मान्यता है कि राज्य हमारी सच्ची, निष्पक्ष एवं नि:स्वार्थ सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

22.6.3.5 राज्य सर्व शक्तिमान :- हीगल अपने राज्य सिद्धान्त के माध्यम से उसकी सर्वोच्चता को सिद्ध करता है। जिसके अन्तर्गत हीगल का मानना है कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य द्वारा ही सम्भव है फलत: व्यक्ति को जो अधिकार एवं स्वतन्त्रताएं मिलती है वे राज्य की कृपा एवं दया के परिणाम स्वरूप मिलती है। इस तरह व्यक्ति को राज्य के प्रत्येक आदेश का पालन सहर्ष करना चाहिए, राज्य जो भी आदेश देता है या कानून बनाता है वे चाहे कितने भी घातक क्यों न हो उनका सीधा संबंध व्यक्ति के कल्याण एवं उत्थान के साथ जुड़ा हुआ होता है। अत: व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है। राज्य के अलावा ऐसी कोई भी संस्था या संगठन नहीं है जो उसकी सर्वोच्चता के समक्ष-चुनौती उत्पन्न करता हो।

22.6.3.6 राज्य नैतिक बन्धनों से मुक्त :- हीगल के अनुसार राज्य सर्वोच्च होता है। अत: जिस प्रकार व्यक्ति पर नैतिक एवं अन्य बन्धनों के माध्यम से नियन्त्रण की सीमा में बाधने का प्रयास किया जाता है उसी प्रकार राज्य पर कोई भी नैतिक बंधन लगे नहीं होते बल्कि राज्य व्यक्तियों एवं अन्य संस्थाओं के लिए बन्धनों का निर्माण करता है।

22.6.3.7 राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व :- हीगल के अनुसार राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है वह अपने आप अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। राज्य एक पूर्णात्मा है जो सत् और असत् को विवेकपूर्ण ढंग से छांटकर शर्मनाक जघन्य नियमों का परित्याग करती है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य जो कार्य करता है वह उसके राष्ट्रीय हितों के अनुकूल एवं न्यायोचित है। यदि उसे युद्ध भी करना पड़े तो इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

22.7 सारांश

इस प्रकार हीगल राज्य की सर्वोच्चता को स्थापित करता है और राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण मानता है। हीगल के अनुसार व्यक्ति और राज्य के हित आपस में विरोधी नहीं होते हैं। व्यक्ति राज्य का अंग मात्र है और अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे राज्य पर निर्भर रहना पड़ता है। हीगल के समय जर्मनी की राजनीतिक स्थिति बहुत ही खराब थी। उसका मुख्य ध्येय जर्मनी को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाधना था। सेबाइन के शब्दों में ''हीगल का मस्तिष्क जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न से चिन्तित था। अत: उसने व्यक्ति को राज्य में विलीन करते समय कुछ भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। वह राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान चढ़ा देता है।'' मैकगवर्न के अनुसार ''राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन बताने के उद्देश्य से शुरु होने वाला राजनीतिक हीगलवाद नास्तिक निरंकुशों या तानाशाहों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हुए समाप्त हुआ।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

22.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न :-

1. हीगल के द्वन्द्ववाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. ''हीगल राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिरूप मानता है।'' इस कथन के आधार पर हीगल के राज्य संबंधी विचार स्पष्ट कीजिए।
3. ''हीगल का राज्य सर्वशक्तिमान है।'' सिद्ध कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. द्वन्द्ववाद की विशेषताएँ बताओ।
2. हीगल का द्वन्द्ववाद क्या है ?स्पष्ट कीजिए।
3. 'राज्य विश्वात्मा का पृथ्वी पर अवतार है ?' सिद्ध कीजिए।
4. राज्य और व्यक्ति के संबंध में हीगल के विचार बताइए।
5. ''हीगल के द्वन्द्ववाद में वैज्ञानिक का अभाव है।'' व्याख्या कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ''मनुष्य का सारा मूल्य और महत्त्व, उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है।'' ये कथन किसका है ?
2. 'यूटोपिया' नामक पुस्तक के लेखक कौन है ?
3. हीगल का जन्म कब और कहाँ हुआ है ?
4. हीगल की प्रमुख कृतियों के नाम बताओ।
5. हीगल राज्य की उत्पत्ति के कौन से सिद्धान्त का समर्थन करता है ?
6. हीगल किस राजनीतिक विचारधारा का प्रवर्तक माना जाता है ?
7. हीगल सरकार के किस स्वरूप का समर्थक था ?
8. हीगल ने व राज्य संबंधी विचारों का प्रतिपादन किस कारण से किया ?

22.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. प्रभुदत्त शर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास'' कॉलेज बुक डिपो, जयपुर
2. डॉ. श्रीराम वर्मा, ''प्रमुख राजनीतिक विचारक'' कॉलेज बुक सेन्टर, जयपुर
3. अर्टेस्ट बार्कट, ''यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त'' दिल्ली वि. वि. प्रकोष्ठ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 23

टी. एच. ग्रीन (1836-82)

संरचना

23.1 उद्देश्य

23.2 प्रस्तावना

23.3 ग्रीन का जीवन-परिचय

23.4 ग्रीन की रचनाएँ

23.5 ग्रीन के स्वतन्त्रता संबंधी विचार

- 23.5.1 स्वतन्त्रता की आवश्यकता
- 23.5.2 स्वतन्त्रता के प्रकार
  - 23.5.2.1 आन्तरिक स्वतन्त्रता
  - 23.5.2.2 बाह्य स्वतन्त्रता
- 23.5.3 स्वतन्त्रता की विशेषताएँ

23.5.3.1 स्वतन्त्रता विधेयात्मक

23.5.3.2 निश्चयात्मक स्वतन्त्रता

23.5.3.3 स्वतन्त्रता : आत्म संतोष नहीं

23.5.3.4 स्वतन्त्रता : विश्वात्मा से सत्यापित

23.5.3.5 स्वतन्त्रता : वास्तविक सम्भावना

23.5.3.6 स्वतन्त्रता : राज्य में ही सम्भव

23.6 ग्रीन का अधिकार संबंधी सिद्धान्त :-

- 23.6.1 अधिकारों के तत्त्व
  - 23.6.1.1 व्यक्ति की मांग
  - 23.6.1.2 समाज द्वारा इस मांग की स्वीकृति
- 23.6.2 प्राकृतिक अधिकार
  - 23.6.2.1 आदर्श अधिकार
- 23.6.3 अधिकार और कानूनी अधिकार
- 23.6.4 अधिकार और कानून
- 23.6.5 अधिकार और नैतिकता

23.7 ग्रीन के राज्य संबंधी विचार

➢ पृष्ठभूमि

23.7.1 राज्य सिद्धान्त

- 23.7.1.1 राज्य एक प्राकृतिक संस्था
- 23.7.1.2 राज्य का निर्माण

23.7.2 राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं

- 23.7.2.1 राज्य द्वारा अधिकारों की रक्षा
- 23.7.2.2 शक्ति का प्रयोग इच्छानुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.7.3 राज्य के कार्य
23.7.3.1 नैतिक कार्य
23.7.3.2 राज्य की शक्ति सीमित
23.7.3.3 निषेधात्मक कार्य
23.7.3.4 विधेयात्मक कार्य
23.7.3.5 राज्य का विशिष्ट कार्य : बाधाओं का निवारण
23.7.3.6 राज्य के कार्यों की सूची
23.7.4 राज्य की सम्प्रभुता
23.7.5 राज्य सर्वोच्च समुदाय
23.7.6 राज्य का विरोध करने का अधिकार
23.8 सारांश
23.9 अभ्यास प्रश्नावली
23.10 सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

23.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य उदार आदर्शवादी टी.एच. ग्रीन के प्रमुख विचारों को जानना है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- ग्रीन के स्वतन्त्रता संबंधी विचार, जिसमें उसने मानवीय गरिमा को केन्द्रीय स्थान दिया है,
- ग्रीन का यह विचार कि राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा होती है,
- ग्रीन के वे प्रयास, जिनके माध्यम से उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, उदारवाद व आदर्शवाद में व्यापक संशोधन किये।
- राज्य के स्वरूप के संबंध में लोककल्याणकारी राज्य का प्रतिपादन किया गया है।

22.2 प्रस्तावना

आधुनिक आदर्शवाद को मुख्यतया दो भागों में बांट जा सकता हैं। प्रथम उदार आदर्शवादी, जिन्हें ब्रिटिश आदर्शवादी कहा जाता है, जिनमें टी.एच.ग्रीन का नाम आता है और द्वितीय उग्र आदर्शवादी, जिन्हें जर्मन आदर्शवादी कहते हैं। जिसमें हीगल का नाम उल्लेखनीय है। उग्र आदर्शवादियों ने व्यक्ति को राज्य की बल वेदी पर बलिदान कर दिया वहीं दूसरी तरह उदार आदर्शवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं।

टी.एच.ग्रीन, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का एक अंग्रेजी दार्शनिक व सुधारक था। जिसने अपने विचारों के माध्यम से व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। ग्रीन के शब्दों में "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकारों का विचार निहित है और अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।" इस कथन के माध्यम से ग्रीन यह सिद्ध करना चाहता हैं कि मानव चेतना मे ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, जो समाज में रहने से ही सम्भव है।

इसी तरह राज्य के संबंध में ग्रीन का मत है कि "राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा होती है।" ग्रीन का यह विचार निश्चित ही क्रांतिकारी था। राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना राज्य की सम्प्रभुता का स्रोत सामान्य इच्छा है। सम्प्रभु इसका अभिकर्त्ता मात्र है।

इस प्रकार ग्रीन ने उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, उदारवाद और आदर्शवाद में संशोधन करने का सार्थक प्रयास किया। उसके विचारों से ब्रिटिश कानून में व्यापक सुधार सम्भव हो सका। व्यक्ति और राज्य में व्यक्ति साध्य बताकर दोनों का कदम सामान्य हित में निर्देशित कर ग्रीन राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में सामान्य हित का मुख्य प्रतिपादक हो गया।

23.3 ग्रीन का जीवन-परिचय

टॉमस हिल ग्रीन का जन्म अप्रैल, 1836 को यार्कशायर में बरकिन नामक स्थान में एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उनके पिता चर्च ऑफ इग्लैण्ड के प्रसिद्ध पादरी थे। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिकता एवं धार्मिकता का बहुत प्रभाव पड़ा। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर पूरी करने के बाद 1855 ई. में उसने बेलियल कॉलेज में प्रवेश किया। यहां पर उनका सम्पर्क महान शिक्षक बेंजामिन जोवेट से हुआ, जिसकी प्रेरणा से बौद्धिक जगत में प्रवेश लिया। 1871 ई. में उनका विवाह चारलट रगयमंडस से हुआ। इसके बाद वे बेलियल कॉलेज में व्याख्याता पद पर नियुक्त हुए। 1878 में ऑक्सफोर्ड में नैतिक दर्शन के प्रोफेसर बने तथा जीवन के अन्तिम समय तक वे इसी पद पर रहे। 1882 में उनका देहान्त हो गया।

23.4 ग्रीन की रचनाएँ

ग्रीन के भाषणों पर आधारित ग्रन्थ इस प्रकार हैं–

1. प्रोलेगोमेना टू एथिक्स
2. लेक्चर्स ऑन दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिक्ल आबलीगेशन
3. लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम ऑफ काण्ट्रेक्ट
4. लेक्चर्स ऑन इंग्लिस रिवौल्यूशन

इस प्रकार ग्रीन ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओ के माध्यम से व्यक्ति की स्वतन्त्रता, अधिकार एवं राज्य के बीच तालमेल बनाने का प्रयास किया। जो राजनीति विज्ञान के चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

23.5 ग्रीन के स्वतन्त्रता संबंधी विचार

ग्रीन ने अपनी कृति लेक्चर्स ऑन दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिक्ल आब्लीगेशन में स्वतन्त्रता संबंधी विचारों का प्रतिपादन किया वह रूसो और काण्ट की तरह अपने राजनीतिक विचारों का प्रारम्भ स्वतन्त्रता से की है। वह स्वतन्त्रता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहता है कि– स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छंदता नहीं है। स्वेच्छा से किसी कार्य को करने या किसी वस्तु का उपयोग करने की मनमानी छूट नहीं है। स्वतन्त्रता का संबंध सद्इच्छा है, जो केवल अच्छी ही नहीं होती है। बल्कि नैतिक भी होती है क्योंकि अपने आप पर नैतिक प्रतिबंध लगाती है। अत: वह उसी कार्य करती है जो करने के योग्य होते है और उसी वस्तु का उपभोग करता है, जो उपभोग करने योग्य होता है।

ग्रीन ने लिखा है कि स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है अपितु अनुचित पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है, जिसका उपभोग सब व्यक्ति समान रूप से कर सके। वे इस अधिकार का तभी उपयोग कर सकते हैं, जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न करें।

ग्रीन ने स्वतन्त्रता की परिभाषा अग्रलिखित शब्दों में दी है– ''व्यक्ति तभी स्वतन्त्र है, जब वह उस स्थिति में है, जिसमें वह अपने व्यक्तित्व के आदर्श को प्राप्त कर सके, कानूनों का पूर्ण रूप से पालन करे और यह स्वीकार करे कि उसे उनका पालन करना चाहिए, अपने में विद्यमान क्षमताओं का पूर्ण विकास कर सके, और इस प्रकार अपने जीवन को समर्थक बना सके।''

23.5.1 स्वतन्त्रता की आवश्यकता

ग्रीन का मत है कि मानव की चेतना स्वतन्त्रता की मांग करती है। इसी के आधार पर मानव की पशुओं से पृथक पहचान की जा सकती है। मानव हमेशा से ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहा है इसके लिए यदि उसे अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी तो भी वह पीछे नहीं हटा है। इसीलिए जितनी भी क्रान्तियाँ, आन्दोलन एवं युद्ध हुए उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ जुड़ा हुआ होता है।

23.5.2 स्वतन्त्रता के प्रकार

ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार होते है– 1. आन्तरिक स्वतन्त्रता, 2. बाह्य स्वतन्त्रता

23.5.2.1 आन्तरिक स्वतन्त्रता :– आन्तरिक स्वतन्त्रता के द्वारा मानव विषय–वासनाओं और बुरी मनोवृत्ति को अपने वंश में करके अपने–आप को स्वतन्त्र बनाता है। इसका संबंध नीतिशास्त्र से है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता से मानव का चारित्रिक एवं नैतिक विकास होता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.5.2.2 बाह्य स्वतन्त्रता :- बाह्य स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसी बाह्य परिस्थितियों के निर्माण से है, जिनका प्रयोग करके व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का चहुंमुखी विकास कर सके। परिस्थितियों का निर्माण अधिकार द्वारा होता है जो राज्य में ही सम्भव हैं।

इस प्रकार आत्मचेतना का विकास आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता में सम्भव है। स्वतन्त्रता का संबंध नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों से ही है।

ग्रीन के अनुसार ''मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकारों का विचार निहित है और अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।''

इस तरह ग्रीन व्यक्ति के आत्महित, आत्मसंतोष, आत्म पूर्णता के लिए स्वतन्त्रता को आवश्यक बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में ''मानव में आत्मअनुभूति का सिद्धान्त पूर्णता के संसार में ईश्वर की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति की आत्मानुभूति के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, ऐसी स्वतन्त्रता, जिस सेवह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। ऐसी स्वतन्त्रता उनके लिए परम उपयोगी है। क्योंकि वह आत्मसंतोष के सिद्धान्त की पूर्णता है।''

टी.एच. ग्रीन द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता की अवधारणा की निम्नलिखित विशेषताऐं सामने आती हैं –

23.5.3 स्वतन्त्रता की विशेषताएँ

23.5.3.1 स्वतन्त्रता विधेयात्मक :- ग्रीन ने विधेयात्मक (सकारात्मक) स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसके पूर्ववर्ती उपयोगितावादी विचारकों ने निषेधात्मक (नकारात्मक) स्वतन्त्रता का समर्थन किया था। उनका कहना था कि राज्य द्वारा व्यक्ति पर कानूनी या किसी अन्य प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन करते हैं। इन प्रतिबन्धों के अभाव में ही व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर अपनी उन्नति कर सकता है। इस प्रकार उन्होंने निषेधात्मक स्वतन्त्रता को सच्ची स्वतन्त्रता माना है।

ग्रीन ने उपयोगितावादियों की इस धारणा का खण्डन किया और कहा कि विधेयात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अपने इच्छानुसार कार्य कराने का अधिकार है। इसका अर्थ यह है कि राज्य विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों और नियन्त्रणों की व्यवस्था करके, प्रत्येक व्यक्ति को वांछनीय कार्यकरने की स्वतन्त्रता प्रदान करें। इन कार्यों को करने से ही राज्य, व्यक्ति का नैतिक विकास कर सकता है। वस्तुत: व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं राज्य के कानून परस्पर विरोधी नहीं होते है राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शोषक नहीं, अपितु पोषक है।

23.5.3.2 निश्चयात्मक स्वतन्त्रता :- ग्रीन की स्वतन्त्रता निश्चयात्मक है क्योंकि व्यक्ति को केवल निश्चित कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। वह उन्हीं कार्य को करने में स्वतन्त्र है जो योग्य या उचित है। वह धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से निन्दनीय कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। जैसे – जुआ खेलना, शराब पीना, चोरी करना आदि। यह कार्य व्यक्ति को पतन की ओर ले जाते है और उसकी आत्मा के विकास में सहायता नहीं देते। ग्रीन का मत है कि व्यक्ति के उचित एवं अनुचित, अच्छे या बुरे कार्य का निर्णय उसकी सद्इच्छा करती है। अत: अच्छे कार्य करने की प्रेरणा देने वाली सद्इच्छा के आदेशों का पालन करने में ही स्वतन्त्रता है।

23.5.3.3 स्वतन्त्रता : आत्म संतोष नहीं :- ग्रीन के अनुसार, स्वतन्त्रता का अर्थ – आत्म संतोष नहीं है। व्यक्ति को बुरे कार्य करने पर आत्म संतोष नहीं है। व्यक्ति को बुरे कार्य करने पर आत्म संतोष मिल सकता है। लेकिन आत्म संतोष अस्थाई होता है। वास्तव में आत्म संतोष ऐसा होना चाहिए, जो व्यक्ति की आत्मा के विकास में सहायक हो।

23.5.3.4 स्वतन्त्रता : विश्वात्मा से सत्यापित :- ग्रीन ने स्वतन्त्रता को विश्वात्मा से सत्यापित होना माना है। उनका कहना है कि व्यक्ति को यथार्थ स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब वह अन्य व्यक्तियों के साथ उस कार्य को करता है या किसी वस्तु का उपयोग करता है। व्यक्ति अपने में विद्यमान विश्वात्मा के कारण प्रत्येक सामाजिक हित का कार्य करता है।

23.5.3.5 स्वतन्त्रता : वास्तविक सम्भावना :- ग्रीन का मत है कि स्वतन्त्रता केवल कानूनी संकल्पना ही नहीं, बल्कि वास्तविक सम्भावना भी है। सेबाइन के शब्दों में ''स्वतन्त्रता केवल कानूनी संकल्पना नहीं बल्कि वास्तविक सम्भावना भी है। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि व्यक्ति की वास्तविक क्षमता का विकास हो ताकि वह सामाजिक हित में अधिक से अधिक भाग ले सके और सामान्य हित के क्षेत्र में अधिक से अधिक योगदान दे सकें।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.5.3.6 स्वतन्त्रता राज्य में सम्भव :- ग्रीन का मानना है कि स्वतन्त्रता राज्य में ही सम्भव है। राज्य व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक बाधा को दूर करता है और उसे श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति और श्रेष्ठ आत्मा के विकास में रहता है। इस प्रकार वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति राज्य में ही हो सकती है।

23.6 ग्रीन का अधिकार संबंधी सिद्धान्त

ग्रीन स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के बीच महत्त्वपूर्ण संबंध कायम करता है। उसका मत है कि मानव चेतना स्वतन्त्रता की मांग करती है, स्वतन्त्रता, अधिकारों की सुविधा देने से ही संभव हो सकती है। मानव जीवन का लक्ष्य, आत्म-अनुभूति है। इसे प्राप्त करने के लिए उसे कुछ विशेष प्रकार की सुविधाओं या भौतिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। ये परिस्थितियां ही उसे अपना आन्तरिक विकास करके अपना आदर्श लक्ष्य प्राप्त करने का अवसर प्रदान करती है। यह सुविधा एवं बाह्य परिस्थितियाँ अधिकार है। वस्तुत: अधिकार मानव के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक है।

ग्रीन अधिकारों को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं, ''अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने की शक्ति है, जिन उद्देश्यों को वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज व्यक्ति यह अधिकार इस आधार पर देता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज का हित सिद्ध होगा।''

23.6.1 अधिकार के तत्त्व

अधिकारों की सृष्टि कैसे होती है ?प्रत्येक व्यक्ति आत्म चेतना के विकास हेतु कतिपय सुविधाएं चाहता है। वह समाज से इन सुविधाओं की मांग करता है। इसके साथ ही मानव विवेकशील होने के कारण, यह स्वीकार करता है कि जैसे मुझे इन सुविधाओं की आवश्यकता है वैसे ही दूसरे मानव को भी इनकी आवश्कयता होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए सुविधाओं की मांग करता है और दूसरे व्यक्ति भी इसी प्रकार की मांगों के औचित्य को स्वीकार करता है। इस तरह व्यक्तिगत मांगों के पीछे समाज की स्वीकृति का भाव निहित है। इस प्रकार अधिकार व्यक्ति की वह व्यक्तिगत मांग है, जिससे मात्रा की स्वीकृति एवं संरक्षण प्राप्त हो। इस प्रकार अधिकार के दो तत्त्व हैं - व्यक्ति की मांग और समाज द्वारा इस मांग की स्वीकृति।

23.6.1.1 व्यक्ति की मांग :- व्यक्ति नैतिक प्राणी होने के कारण बाह्य परिस्थितियों की मांग करता है, ताकि वह अपना नैतिक विकास करके सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सके। इसके साथ ही वह आन्तरिक शक्तियों और क्षमताओ का विकास कर सके।

23.6.2 प्राकृतिक अधिकार

ग्रीन प्राकृतिक अधिकार शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में करता है, जिस अर्थ में अरस्तू ने राज्य के लिए प्राकृतिक शब्द का प्रयोग किया है। उसके अनुसार अधिकार इस अर्थ में प्राकृतिक है कि वे व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए नितांत आवश्यक होते हैं।

लॉक और सामाजिक समझौता वादियों ने प्राकृतिक अधिकार शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है। उन लोगों का मत है कि सामाजिक समझौते से पूर्व मानव के कुछ जन्मजात अधिकार थे, इसलिए राज्य इनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। ये अधिकार जिन्हें हम मूल अधिकार भी कह सकते हैं, जो राज्य और समाज से पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

लेकिन अधिकारों के लिए ग्रीन दो बातें आवश्यक मानता है- आत्म-विकास के लिए व्यक्ति की मांग और समाज द्वारा स्वीकृति। चूंकि मनुष्य का आत्म-विकास समाज के दूसरे व्यक्तियों से संबंधित है, इसलिए ग्रीन समाज से पूर्व प्राकृतिक अधिकारों की बात नहीं करता है। इस तरह ग्रीन का मत है कि समाज से पूर्व कोई अधिकार नहीं है और समाज से ही यह अधिकार सम्भव हैं।

➢ **आदर्श अधिकार :-** ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार को आदर्श अधिकार माना है। ये ऐसे अधिकार है, जिन्हें संगठित समाज की सद्भावना के आधा पर अपने समस्त सदस्यों को प्रदान करना चाहिए। ये अधिकार राज्य द्वारा स्वीकृत वास्तविक अधिकारों से अधिक विस्तृत और गहरे हैं। ये अधिक विस्तृत इसलिए हैं, क्योंकि व्यक्ति के नैतिकता से संबंधित होने के कारण ये वास्तविक अधिकारों से पहले के हैं। ये हमारे समक्ष ठोस मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं। ये समाज को ऐसी प्रणाली प्रदान करते हैं, जिस पर स्वयं राज्य को भी परखा जा सकता है। फलत: आदर्श राज्य व्यक्ति के आत्म विकास के लिए आवश्यक है। अत: प्रत्येक समाज का यह प्रयत्न होना चाहिए किवह अपने कानूनों को प्राकृतिक अधिकारों के अधिकाधिक अनुरूप बनाए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.6.3 अधिकार और कानूनी अधिकार

ग्रीन का मत है कि जो अधिकार राज्य द्वारा संरक्षित है उनका उल्लंगन करने वाले को राज्य से दण्ड मिलता है। उन्हें कानूनी अधिकार कहा जाता हैं। अधिकारों का वास्तविक अस्तित्व भी राज्य के संरक्षण में सम्भव हैं।

23.6.4 अधिकार और कानून

अधिकार और कानून इस दृष्टि में परस्पर संबंधित है कि अधिकार को कानून का रूप दिया जा सकता है और इस प्रकार उसका पालन करवाया जा सकता है। बच्चों को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार आज चाहे प्राकृतिक हो या नैतिक मात्र ही हो पर इस विषय का कानून बन जाए तो वह कानूनी अधिकार में बदल जायेगा।

लेकिन अधिकार और कानून में अन्तर यह है कि सभो विधि सम्मत अधिकार नैतिक अधिकार नहीं कहे जा सकते। विधिसम्मत अधिकार अन्यायपूर्ण भी हो सकते हैं।

23.6.5 अधिकार और नैतिकता

ग्रीन ने अधिकारों के साथ गहरा संबंध और विभेद माना है। अधिकारों का नैतिकता से गहरा संबंध यह है कि इनके बिना नैतिक जीवन व्यतीत किया जाना सम्भव नहीं है। लेकिन दोनों में अन्तर भी है। अधिकारों का संबंध केवल बाहरी परिस्थितियों से होता है, जबकि नैतिकता मनुष्य के अन्तर विवेक का संचालन करती है। नैतिकता वहीं कार्य करती है जो राज्य-शक्ति की सीमा में नहीं होता है। जैसे राज्य कानून बनाकर व्यक्तियों को धर्म स्थान जाने के लिए बाध्य कर सकता है। लेकिन धर्म स्थान पर गये हुए व्यक्तियों को ईश्वर ध्यान लगाने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। सेबाइन के शब्दों में ''कानून मनुष्य को नैतिक बनाने का प्रयास नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि नैतिकता का संबंध चरित्र से है और चरित्र का निर्माण कानून के दबाव से नहीं होता। कानून का संबंध अनिवार्य रूप से मानव के बाह्य आचरण से होता है, आचरण की भावना या इच्छा से नहीं।''

23.7 ग्रीन का राज्य संबंधी विचार

ग्रीन ने राज्य के संबंध में अपने स्पष्ट सुसंगत एवं तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये है। सर्वप्रथम ग्रीन ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौता एवं अन्य उन सिद्धान्तों का खण्डन किया है जो राज्य को मानव निर्मित मानते थे है। ग्रीन का मत है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है जिसका विकास क्रमिक रुप से हुआ है। ग्रीन इस बात का भी खण्डन करता है कि राज्य (सम्प्रभु) अपनी शक्तिके बल पर कानूनों का पालन कराता है बल्कि उसका मत है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा होती है। इस सन्दर्भ में आगे ये भी कहते हैं कि शासन वहीं अच्छा और सर्वश्रेष्ठ है जो लोगों के दिल पर राज करे न कि शरीर पर। यदि राज्य या सम्प्रभु अपनी शक्ति को स्वच्छाचारिता में ये भूल जाता है तो उसके दुष्परिणाम भुगतने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। सम्प्रभु को अपनी प्रजा का दिल जीतने की हर संभव कोशिश करनी चाहिए। इसके लिए यह वह तत्परता के साथ जन समस्याओं का निराकरण करें। इस प्रकार ग्रीन राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप का समर्थन करता है। वह यह भी कहता है कि यदि राज्य जनइच्छाओं एवं आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता तो जनता को यह अधिकार है कि वह ऐसे राज्य का विरोध करें। राज्य का प्रमुख लक्ष्य यह होता है कि वह जनता के आत्म विकास की समस्त सुविधाएं उपलब्ध करवायें। राज्य के बारे में ग्रीन के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें निम्नलिखित रुप से रखा जा सकता है -

23.7.1 राज्य का सिद्धान्त

23.7.1.1 राज्य एक प्राकृतिक संस्था :- ग्रीन के विचारों से यह स्पष्ट होता है कि उसने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित सामाजिक समझौतेवादी सहित उन सभी विचारों का विरोध किया है जो राज्य को एक मानव निर्मित या कृत्रिम संस्था मानते हैं। उसका मत है कि राज्य की उत्पत्ति क्रमिक विकास का परिणाम है। उसके अनुसार मानव चेतना से स्वतन्त्रता संभव है। स्वतंत्रता, अधिकारों में निहित है और अधिकारों के लिए राज्य की आवश्यकता है। ग्रीन ने राज्य के यांत्रिक और शक्ति सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। उसने राज्य का आधार, इच्छा माना है न कि शक्ति। उसकी दृष्टि में राज्य प्राकृतिक संस्था है, क्योंकि मनुष्य अनिवार्य रूप से सामाजिक प्राणी है।

23.7.1.2 राज्य का निर्माण :- रूसो के समान ग्रीन ने भी व्यक्तियों में दो इच्छाओं को होना स्वीकार किया है- प्रथम व्यक्ति की सद्इच्छा और द्वितीय स्वार्थ इच्छा। व्यक्ति की सद्इच्छा उसकी नैतिक इच्छा होती है जो उसे अपने और समाज के सब व्यक्तियों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की सदिच्छाएं सम्मिलित करके सामान्य इच्छा का निर्माण करती है। सामान्य इच्छा समाज के सामान्य हितों में वृद्धि करती है। अत: इन हितों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न राज्य का निर्माण होता है।

23.7.2 राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं

ग्रीन का कथन है कि राज्य का वास्तविक आधार इच्छा है, शक्ति नहीं। अर्थात् राज्य की उत्पत्ति में इच्छा का हाथ है नकि शक्ति का लेकिन व्यक्तिवादी, साम्यवादी और अराजकतावादी राज्य को केवल शक्ति का ही परिणाम मानते हैं। ग्रीन का मत है कि जो राज्य भय उत्पन्न कर अपनी आज्ञाओं का पालन करवा सकता है लेकिन वह स्थाई समय तक अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता।

23.7.2.1 राज्य द्वारा अधिकारों की रक्षा :- ग्रीन के अनुसार अधिकारों की रक्षा के उद्देश्य से ही राज्य का जन्म होता है। सामान्यत:, व्यक्ति अपने अधिकारों के समान ही दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का सम्मान करता है लेकिन स्वार्थवश वह दूसरों के अधिकारों की अवहेलना भी करने लगता हैं। ऐसी स्थिति में राज्य ही अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

23.7.2.2 शक्ति का प्रयोग इच्छानुसार :- राज्य यदा-कदा शक्ति का प्रयोग करता है लेकिन वह सभी की इच्छा से ही ऐसा करता है। व्यक्तियों के सामान्य अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए राज्य द्वारा इस शक्ति का प्रयोग न केवल उचित है अपितु आवश्यक भी है। ग्रीन के मतानुसार राज्य, कानूनों के द्वारा शक्ति का प्रयोग उन व्यक्तियों के विरूद्ध करता है जो या तो दूसरों के अधिकारों की अवहेलना करता है या अपने अधिकारों का उपयोग नहीं करता है।

इस प्रकार राज्य जन कल्याण से प्रेरित होकर अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। इस प्रकार ग्रीन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य को जीवन प्रदान करने वाली शक्ति उसकी सर्वोच्च, दमनकारी सत्ता नहीं, बल्कि जनता की सामान्य इच्छा है, जो सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना होने के कारण समाज का निर्माण करती है और अधिकारों को जन्म देती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उसने अपनी राज्य संबंधी अवधारणाओं इच्छा को अत्यधिक महत्त्व दिया है।

23.7.3 राज्य के कार्य

ग्रीन ने राज्य संबंधी कार्यों का विवरण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

23.7.3.1 नैतिक कार्य :- ग्रीन ने राज्य के कार्य को अनिवार्य रुप से नैतिक कार्य माना है। राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है, जिनके अन्तर्गत नैतिकता का विकास सम्भव हो। लेकिन ग्रीन का मत है कि राज्य नैतिक संस्था होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता के विकास के कार्यनहीं करता, जिनके आधार पर व्यक्ति के नैतिक कार्यों को प्रभावित किया जा सके। इस तरह राज्य को ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए। जिनसे व्यक्ति में कर्त्तव्य पालन की भावना आ सके। इस तरह राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के सद्कर्त्तव्य के पालन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है।

23.7.3.2 राज्य की शक्ति सीमित :- ग्रीन निरंकुश राज्य का विशिष्ट कार्य व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से किये जाने वाले उत्तम कार्यों के मार्ग में बाह्य बाधाओं का निवारण करना है। इस विशिष्ट कार्य के सम्पादन में राज्य को समाज के बाह्य आक्रमणों से रक्षा करनी पड़ती है और समाज के परम्परागत अपराधों पर अंकुश लगाना पड़ता है।

23.7.3.3 निषेधात्मक कार्य :- निषेधात्मक दृष्टि से जैसी वह यह मानता है कि अज्ञान, शराबखोरी, भिखमंगापन मानव के नैतिक विकास के मार्ग की बाधाएं हैं जिन्हें दूर करने के लिए राज्य को प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार निषेधात्मक क्षेत्र में स्वस्थ नैतिक जीवन की आवश्यकताओं को बनाए रखने के लिए राज्य व्यक्तियों को स्वच्छ रहने, शराब न पीने और माता-पिता को अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने के लिए बलपूर्वक बाध्य कर सकता है।

23.7.3.4 विधेयात्मक कार्य :- विधेयात्मक दृष्टि से राज्य के कार्य क्षेत्र की व्याख्या करते हुए ग्रीन राज्य को अधिकार प्रदान करता है कि वह नैतिकता के विकास हेतु जहां उपयुक्त समझे वहां हस्तक्षेप करें और आवश्यक हो तो बल प्रयोग भी करे। नागरिक जीवन में राज्य का यह हस्तक्षेप किस सीमा तक होगा और नैतिक जीवन के मार्ग में बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा, इसकी कोई निश्चित सीमाएँ ग्रीन ने निर्धारित नहीं की है। लेकिन ग्रीन राज्य के विधेयात्मक कार्यों को प्राथमिकता प्रदान करता है।

23.7.3.5 राज्य का विशिष्ट कार्य : बाधाओं का निवारण :- ग्रीन के अनुसार राज्य का विशिष्ट कार्य व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से किये जाने वाले उत्तम कार्यों के मार्ग से बाह्य बाधाओं का निवारण करना है। इस विशिष्ट कार्य के सम्पादन में राज्य को बाह्य आक्रमणों से रक्षा करनी पड़ती है, तथा समाज के परम्परागत अपराधों पर अंकुश लगाना पड़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.7.3.6 राज्य के कार्यों की सूची :- ग्रीन के अनुसार राज्य द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों की सूची इस प्रकार है-

1. राज्य को व्यक्ति के नैतिक उत्थान में बाधा उपस्थित करने वालों को दण्डित करना चाहिए।
2. राज्य शिक्षा का व्यापक प्रसार करें।
3. राज्य को व्यक्ति के संपति के अधिकार की रक्षा करनी चाहिए।
4. राज्य को नैतिक विकास के लिए प्रत्यक्ष रूप से बल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
5. राज्य को व्यक्तियों में संयम, सदाचार और पवित्रता की भावना प्रोत्साहित करनी चाहिए।
6. राज्य को छोटे समाजों में सामजस्य स्थापित करने, उनके सदस्यों को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर देना चाहिए।
7. राज्य ऐसी उत्तम परिस्थितियों का निर्माण करे जिससे व्यक्ति का नैतिक एवं चारित्रिक विकास हो सके।
8. राज्य को मापक वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर रोक लगानी चाहिए।
9. राज्य को विभिन्न वर्गों और संस्थाओ के बीच में सामजस्य कायम करके बहुसंख्यक वर्ग का हित करना चाहिए।
10. राज्य को युद्ध का विरोध करके, व्यक्ति के जीवन के अधिकार को स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त कार्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 20वीं शताब्दी में लोककल्याणकारी राज्य की नींव डालने का श्रेय टी.एच.ग्रीन को ही जाता है, जिन्होंने अपने विचारों के माध्यम से सरकारों को अपने राज्य का स्वरूप परिवर्तित करने के लिए विवश किया। इस तरह ग्रीन का राज्य मानव के सर्वांगिण विकास हेतु तत्पर है।

23.7.4 राज्य की सम्प्रभुता

ग्रीन से पूर्व सम्प्रभुता के संबंध में दो विचार प्रचलित थे- प्रथम, रूसो सामान्य इच्छा में सर्वोच्च शक्ति का अधिवास बताते हैं, द्वितीय ऑस्टिन जो किसी भी श्रेष्ठ व्यक्ति में सम्प्रभुता के निवास को बात करते हुए कहते हैं कि संप्रभु का आदेश ही कानून होता है। ये दोनों परस्पर विरोधी विचारधारा है। ग्रीन ने इसमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार प्रत्येक कानून का स्रोत निश्चित होता है। कानून परम्पराओं से भिन्न होते हैं, क्योंकि कानून संसद तथा निश्चित मानव समूह आदि द्वारा बनाया जाता है जबकि परम्पराओं का स्रोत निश्चित नहीं होता है। इसलिए आस्टिन का यह कहना कि कानून का स्रोत सम्प्रभु है, निश्चित मानव है जो ठीक प्रतीत होता है। लेकिन जनता कानूनों का पालन दण्ड के भय के कारण नहीं करती बल्कि उनका पालन इसलिए करती है कि कानून उसके सामान्य हित में होते हैं। इस तरह आंशिक रूप से अस्टिन से सहमत होते हुए भी अन्त में शास्त्रों के नियम को स्वीकार करता है। इस तरह ग्रीन के अनुसार कानून का मुख्य स्रोत सम्प्रभु होता है।

23.7.5 राज्य, सर्वोच्च समुदाय

ग्रीन का मत है कि मानव अपने जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विभिन्न प्रकार के समुदायों के साथ जुड़ा रहता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानव के विकास को प्रभावित करते है। इसके लिए ये समुदाय मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जैसे सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करने हेतु- समाज, आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यापारिक गतिविधियां, धार्मिक आवश्यकता के लिए धर्म, राजनीतिक आवश्यकता हेतु राज्य होता है। इन समुदायों को ग्रीन राज्य की भांति प्राकृतिक और स्वाभाविक मानता है। इस तरह इनका महत्त्व राज्य के समान ही है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि ग्रीन बहुलवाद का समर्थन करता है। बहुलवादियों की मान्यताओं के विरूद्ध वह यह मानता है कि राज्य अन्य सभी समुदायों में सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह उनमें समन्वय और सामजस्य स्थापित करता है तथा उनकी रक्षा भी करता है।

23.7.6 राज्य का विरोध करने का अधिकार

ग्रीन के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निवारण करना है। यदि राज्य इस उद्देश्य में सफल नहीं होता है तो नागरिक उसकी आज्ञा पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। तत्कालीन इंग्लैण्ड में अशिक्षा, मदिरापान, गरीबी, दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था तथा अव्यवस्था आदि अनेक ऐसी समस्या थी, जो व्यक्ति की नैतिकता के विरूद्ध थी। इन बातों से अवगत होने के कारण ही ग्रीन ने जहां राज्य को मुख्य कायं व्यक्ति के लिए आवश्यक वातावरण बनाने को माना है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को अधिकार दिया है कि यदि राज्य जन इच्छा और आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता है तो उसका विरोध करने का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अधिकार है लेकिन विरोध सामान्य परिस्थितियों में नहीं होगा। विरोध का मूल आधार अन्यायपूर्ण कानून, राज्य द्वारा समाज के हित के विरूद्ध कदम उठाना और संवैधानिक साधनों द्वारा ही होगा।

23.8 सारांश

सारांश में टी.एच. ग्रीन आदर्शवाद के महान् प्रणेता हैं, और उन्होंने अपने विचारों से पूर्ववर्ती विचारधाराओं की अप्रसांगिक तथा अमान्य करार दे दिया। उनके विचारों का राजनीतिक चिन्तन में अपूर्व महत्त्व है।

23.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ग्रीन के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों को स्पष्ट कीजिए।
2. ग्रीन के अधिकार संबंधी विचारों पर लेख लिखिए।
3. ''राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।'' इस कथन को स्पष्ट करते हुए ग्रीन के राज्य संबंधी विचार बताओ।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ग्रीन स्वतन्त्रता को आवश्यक क्यों मानते है ?
2. ग्रीन द्वारा प्रस्तुत स्वतन्त्रता के प्रकार बताओ ?
3. ग्रीन अधिकारों के कौन-कौन से तत्त्वों की बात करता है ?
4. ''ग्रीन लोककल्याणकारी राज्य का प्रतिपादन करता है।'' सिद्ध कीजिए।
5. ग्रीन के राज्य की उत्पत्ति विषयक विचारों का उल्लेख कीजिए।
6. ''ग्रीन ने राज्य की सम्प्रभुता के संबंध में बीच का रास्ता अपनाया है।'' स्पष्ट कीजिए।
7. ग्रीन राज्य के विरोध करने का अधिकार किन आधारों पर देता है ?

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ''मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकारों का विचार निहित है और अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।'' यह विचार किसके है ?
2. ग्रीन कौन-सी विचारधारा का प्रणेता है ?
3. ग्रीन का जन्म कब और कहाँ हुआ ?
4. ग्रीन की प्रमुख रचनाओं का नाम बताओ ?
5. ग्रीन अधिकारों के लिए कौन-सी दो बातों को आवश्यक मानता है ?
6. ग्रीन ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में किस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ?
7. 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है। ये विचार किसने दिये।

23.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. के. एन. वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचारक'' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
2. बी. आर. पुरोहित, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
3. ओ. पी. गॉबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'' पेपर बेक्स, नौएडा
4. बी. एल. फड़िया, ''पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-24
कार्ल मार्क्स

संरचना

24.1 उद्देश्य

24.2 प्रस्तावना

24.3 जीवन परिचय

24.4 मार्क्स का प्रमुख रचनाएँ

24.5 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

24.5.1 द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया

24.5.2 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर मार्क्स के विचारों की व्याख्या

24.5.3 आलोचनाएँ

निष्कर्ष

24.6 कार्लमार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की व्याख्या

24.6.1 पूंजीवादी व्यवस्था की विशेषताएँ

24.6.1.1 व्यक्तिगत लाभ

24.6.1.2 पूंजी का केन्द्रीकरण

24.6.1.3 कृत्रिम आर्थिक संकर पैदा करना

24.6.2 वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना

24.6.2.1 मध्यम वर्ग की उपेक्षा

24.6.2.2 सभी पूंजीपतियों को एक समान मानना गलत

24.6.2.3 श्रमिकों में एकता का अभाव

24.6.2.4 श्रमिक वर्ग के विजय की कल्पना गलत

24.6.2.5 पारस्परिक असहयोग पर बल

24.6.2.6 मार्क्स की भविष्यवाणी गलत

निष्कर्ष

24.7 इतिहास की आर्थिक व्याख्या

24.7.1 आदिम साम्यवादी अवस्था

24.7.2 दास अवस्था

24.7.3 सामन्ती अवस्था

24.7.4 पूंजीवादी अवस्था

24.7.5 श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व की अवस्था

24.7.6 साम्यवाद की अवस्था

24.7.7 इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना

24.8 साम्यवाद (मार्क्सवाद)

प्रस्तावना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.8.1 साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त
24.8.1.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
24.8.1.2 इतिहास की आर्थिक व्याख्या
24.8.1.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
24.8.1.4 वर्ग संघर्ष में विश्वास
24.8.1.5 पूंजीवाद का विरोध और उसके अन्त की सम्भावना
24.8.1.6 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास
24.8.1.7 हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास
24.8.1.8 प्रजातंत्र का विरोध
24.8.1.9 धर्म का विरोध
24.8.1.10 राष्ट्रवाद का विरोध
24.8.1.11 राज्य का विरोध
24.8.1.12 शोषण विहिन, वर्ग विहिन एवं राज्य विहिन समाज की स्थापना
24.8.1.13 वितरण व्यवस्था में विश्वास
24.8.1.14 मध्यम वर्ग का विरोध
24.8.2 आलोचनाएँ
24.8.2.1 परिवर्तन का एकमात्र आधार आर्थिक नहीं
24.8.2.2 केवल श्रमिक ही उत्पादन का एक मात्र साधन नहीं
24.8.2.3 धर्म की निन्दा सही नहीं
24.8.2.4 हिंसा का समर्थन उचित नहीं
24.8.2.5 लोकतंत्र की आलोचना सही नहीं
24.8.2.6 वर्ग संघर्ष की धारणा गलत
24.8.2.7 मध्यम वर्ग का विरोध सही नहीं
24.8.2.8 राज्य का विरोध गलत
24.8.2.9 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोध सही नहीं
24.8.2.10 सर्वहारा वर्ग के नाम पर तानाशाही
24.8.2.11 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अनैतिहासिक
24.8.2.12 यह विचारधारा आर्थिक विचारों के चारों और घूमती है
24.8.2.13 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त असत्य
24.8.2.14 पूंजीवादी के विकास के साथ-साथ तथा अधिपति वर्ग के मध्य अधिक अन्तर नहीं होता।
24.8.2.15 वितरणस व्यवस्था
24.8.2.16 राष्ट्रवाद का विरोध गलत
24.8.2.17 एक दलीय शासन की निरंकुशता
24.8.2.18 साम्यवाद में युद्ध पर बल
24.8.2.19 साम्यवाद की भविष्यवाणी सही नहीं
24.9 सारांश
24.10 अभ्यास प्रश्नावली
24.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य कार्ल मार्क्स के विचारों को जानना एवं समझना है। इसके अध्ययन से आप जान सकेंगे—

- मार्क्स के विचार, जिनकी बदौलत उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति मिली,
- मार्क्स ने समाज की बदहाल स्थिति के लिए पूंजीपतियों को जिम्मेदार माना और उनके शोषण तथा अत्याचार से मुक्ति के लिए हर सम्भव प्रयास किये,
- वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त से वह यह सिद्ध करना चाहता है कि समाज में सदैव शोषक एवं शोषित दो वर्ग रह रहे हैं, जिनके विपरीत हित होते हैं,
- इतिहास की आर्थिक व्याख्या के आधार पर मार्क्स का यह दावा भी जान सकेंगे जिसमें वह यह कहता है कि इतिहास का निर्माण आर्थिक तत्त्वों से ही होता है,
- राष्ट्रवाद का विरोध कर अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विचार का प्रतिपादन किया है, जो मानवीय सोच को व्यापकता प्रदान करेगा,
- क्रान्ति के सिद्धान्त के माध्यम से पूंजीवाद को उखाड़ फैंकने की बात कही गई है,
- मार्क्स श्रमिकों के हितपोषक के रूप में जो विचार रखे, उन्हें भी जान सकेंगे,
- जिस प्रकार से समाज में विद्यमान अन्याय, अत्याचार, शोषण को स्पष्ट किया है, उसको भी जान सकेंगे,
- मार्क्स ने धर्म को अफीम के रूप में माना है। उसे जानकर हम अपनी मानसिकता को मानवता के साथ जोड़ सकते हैं,
- आदर्श अवस्था में जिस वर्गविहीन, राज्यविहीन तथा शोषणविहीन समाज की कल्पना की गई है, उसे भी जान सकेंगे।

24.2 प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कार्ल मार्क्स का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने अपने समाजवादी विचारों के माध्यम से समाज के सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में व्यापक परिवर्तनों पर बल दिया। यद्यपि कार्ल मार्क्स से पूर्व अनेक विचारकों ने समाजवादी विचार व्यक्त किये थे जिनमें मुख्य थे- फ्रांस में नॉयल बाबेफ, सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा इंग्लैण्ड में जॉन दि डिसमेण्डी, हॉल इत्यादि थे। यूनानी राजनीतिक विचारक प्लेटो ने अपनी कृति 'रिपब्लिक' में जिस साम्यवादी सिद्धान्त का उल्लेख किया है वह मार्क्स के विचारों से भिन्न होने के बाद भी कतिपय क्षेत्रों में समानता देखने को मिलती है। इस तरह मार्क्स से पूर्व अनेक विचारकों ने समाज में विद्यमान आर्थिक असमानता एवं अन्याय का विरोध किया और समाज में विद्यमान संशोधनों का न्यायोचित वितरण का समर्थन किया लेकिन किसी ने भी उन कारणों को खोजने का प्रयास नहीं किया जिनके कारण समाज में ये विषम स्थिति उत्पन्न हुई। वेपर के शब्दो में ''उन्होंने सुन्दर गुलाब के फूलों की कल्पना तो की, परन्तु गुलाब के पौधों के लिए धरती तैयार नहीं की।'' इस तरह मार्क्स से पूर्व का समाजवाद स्वप्नलोकीय समाजवाद था।

कार्ल मार्क्स के समय समाज की स्थिति बहुत नाजुक थी। पूंजीवाद का सर्वत्र वर्चस्व था। इसके चलते समाज में आर्थिक विषमता की खाई बढ़ती जा रही थी। समाज में विद्यमान संशोधनों पर पूंजीपतियों का एकाधिकार स्थापित हो चुका था। समाज का बहुसंख्यक वर्ग श्रमिक अभाव का जीवन जी रहा था। ऐसी परिस्थितियों में कार्ल मार्क्स ने इस व्यवस्था को उखाड़ फैकने का आह्वान किया। मार्क्स का मत है कि इतिहास महापुरुषों की देन नहीं है बल्कि इतिहास आर्थिक विकास का परिणाम है। उसका तर्क है कि समाज में हमेशा से ही दो वर्गों शोषक एवं शोषित रहे है। मार्क्स के समय में भी समाज में दो वर्ग थे अर्थात् पूंजीपति व श्रमिक वर्ग ये दोनों वर्ग आपस में एक दूसरे के विरूद्ध होते हैं। मार्क्स अपने विचारों के माध्यम से श्रमिकों के उत्थान पर बल देता है। इसके लिए मार्क्स श्रमिकों को आहवान करता है कि ''दुनिया के मजूदरों एक हो जाओ तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है सिवाय बेड़ियों के।'' इस तरह मार्क्स ने राष्ट्रवाद की भावना का विरोध करते हुए, अन्तरराष्ट्रीयवाद का समर्थन किया। उसका कहना था कि राष्ट्र (राज्य) पूंजीपतियों का हित साधने वाली एवं श्रमिको का शोषण करने वाली संस्था है। इसीलिए मार्क्स का मत है कि समाजवाद की आदर्श अवस्था में राज्य विहिन वर्ग विहिन और शोषण विहिन समाज होगा।

Uttarakhand Open University, Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

24.3 जीवन परिचय

कार्ल मार्क्स के जीवन परिचय को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है —

- कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी के ट्रीब्स नामक स्थान पर 5 मई, 1818 को हुआ।
- 17 वर्ष की आयु में बॉन विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त की।
- 1848 में मार्क्स ने जेना विश्वविद्यालय से The Dihherences between the Natural Philosophy oh Democritus and Epicurus पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की।
- अक्टूबर 1842 को प्रजातांत्रिक विचारधारा वाले समाचार पत्र (रीनचे जीतुंग) का सम्पादन किया।
- 1843 में 25 वर्ष की आयु में जैनी के साथ विवाह किया।
- शादी के बाद मार्क्स पेरिस चला गया।
- 1845 में इंग्लैण्ड पहुंचा और यहां उसकी मुलाकात ऐंजिल्स के साथ हुई।
- 1848 में मार्क्स और ऐंजिल्स ने मिलकर साम्यवादी घोषणा पत्र की रचना की।
- 1847 में इंग्लैण्ड में कम्यूनिस्ट लीग Communist League की स्थापना की।
- 1864 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समुदाय का गठन।
- 1883 को मार्क्स का देहावसान हो गया।

24.4 मार्क्स की प्रमुख रचनाएँ

1. The Holy Hamily - 1844
2. Poverty oh Philosophy - 1847
3. The Communist Manihesto - 1848
4. Critique oh Political Economy - 1859
5. Value, Price and Prohit - 1865
6. Class Stuggle in Hrance 1870
7. Das Capital (1867)

24.5 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कार्ल मार्क्स के विचारों का मूल आधार है। इसके माध्यम से मार्क्स समाज के विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है।

24.5.1 द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल से ग्रहण किया है। हीगल यह मानकर चलता है कि समाज की प्रगति प्रत्यक्ष रूप से न होकर एक टेढ़े-मेढ़े तरीके से हुई है। जिसके तीन अंग है- वाद, प्रतिवाद और संवाद। मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति का आधार हीगल का यही द्वन्द्ववादी दर्शन है।

मार्क्स के अनुसार वाद समाज की एक साधारण स्थिति हैं, जिसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं पाया जाता है। थोड़े समय बाद, वाद से असन्तुष्ट होकर प्रतिक्रिया के स्वरूप में प्रतिवाद उत्पन्न हो जाता है। यह निषेधात्मक स्थिति, वाद की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील मानी जाती है। प्रतिवाद में अन्तर्विरोध चलता है अर्थात् प्रतिवाद का भी प्रतिवाद उत्पन्न होता है और दो प्रतिवादों के संयोग से संवाद की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद की स्थिति निरन्तर रूप से चलती रहती है।

मार्क्स और उसके अनुनायियों ने द्वन्द्वावाद को गेंहूं के दृष्टान्त से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका मत है, गेहूं वाद की स्थिति है- जब उसे बोया जाता है और जमीन में प्रतिक्रिया होती है उससे वह गल कर अंकुरित हो जाता है तब वह प्रतिवाद कहलाता है और तीसरी कड़ी जब पौधे के रूप में बाली निकली है। इसके पकने से गेहूं का दाना तैयार होता है तथा पौधा सुखकर नष्ट हो जाता है। ये स्थिति संवाद की होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आर्थिक जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं को भी इसी द्वन्द्ववाद के माध्यम से समझा जा सकता है। जिसमें पूंजीवाद एवं व्यक्तिवाद सम्पत्ति की व्यवस्थावाद की स्थिति है। जिसमें यह असंगति रहती है कि समाज शक्तिशाली व सर्वहारा लोगों के दो वर्गों में बंट जाता है। इस दोष के कारण समाज में संघर्ष होता है तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सामाजिक व्यवस्था के प्रतिवाद स्वरूप समाज के विकास की वह व्यवस्था आती है जिसे सर्वहारा वर्ग की अधिनायक तंत्र की व्यवस्था कहा जाता है। इन दोनों अवस्था में संवाद की अवस्था आती है जिससे साम्यवाद की स्थापना होती है। जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान पर सार्वजनिक सम्पत्ति की स्थापना होती है।

आज विश्व के अनेक देशों में पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के मध्य सामन्जस्य तथा सद्भावना के अनेक प्रयोग हो रहे है। उद्योगों में श्रमिकों की भागीदारी वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की मूल भावना को विफल करती है।

24.5.2 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर मार्क्स के विचारों की व्याख्या

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हीगल के द्वन्द्ववाद पर आधारित है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के दर्शन का मूल आधार है। मार्क्स ने हीगल को कल्पनावादी बताया है। उसका कथन है कि हीगल ने द्वन्द्व के भावपक्ष के स्थान पर भौतिक पक्ष को महत्त्व दिया है। मार्क्स का विश्वास था कि आत्मा पर आधारित दर्शन अस्पष्ट एवं असत्य होगा तथा भौतिक वस्तुओं पर आधारित दर्शन सत्य तथा स्पष्ट होगा। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के विषय में कहा है कि मैंने हीगल के द्वन्द्ववाद को सिर के बल पर खड़ा पाया अत: मैंने उसे उठाकर पैरों के बल खड़ा कर दिया। मार्क्स के अनुसार मानव समाज में सदैव कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते है, लेकिन ये परिवर्तन मानव जीवन की भौतिक परिस्थितियों के कारण होते है न कि दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर। हीगल के अनुसार भाव वास्तविक संसार का निर्माता है, लेकिन मार्क्स के अनुसार भाव तो भौतिक संसार का वह प्रतिबिम्ब है, जो मस्तिष्क द्वारा ग्रहण किया जाकर विचारों में परिवर्तित हो जाता है। मार्क्स के अनुसार विकास क्रम में निर्जीव सजीव से पूर्व है। हीगल के अनुसार विकासशील तत्व आत्मा है, जबकि मार्क्स पदार्थ को विकासशील तत्व मानता है। मार्क्स कहता है कि इतिहास के विकास में मानवता जिन इकाइयों में संगठित हो जाती है वे आर्थिक वर्ग होते हैं, राष्ट्र नहीं। अत: मानव समाज की उन्नति का कारण आन्तरिक विरोध तथा संघर्ष है मार्क्स के अनुसार ''प्रत्येक वस्तु या सत्ता में कतिपय अन्तर्हित विरोधी तत्व विद्यमान रहते हैं। इन तत्त्वों में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। परिस्थितियां ही यह निर्धारित करती है कि कौन-सा तत्व सफल होगा।'' वास्तव में विकास विरोधी वस्तुओं के संघर्ष का ही नाम है। मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के वाद, प्रतिवाद तथा संवाद आर्थिक वर्ग है, विचार नहीं। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का लक्ष्य वर्ग विहीन तथा शोषण रहित समाज की स्थापना करना है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक वस्तु गतिशील है लेकिन परिवर्तन मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों रुपों में होता है। पदार्थ में विपरीत तत्व पाये जाते हैं तथा ये तत्व परस्पर संघर्षरत रहकर उसका विकास करते हैं। यह विकास आन्तरिक गुणों के परस्पर द्वन्द्व के कारण होता है।

अत: मार्क्स का भौतिकवाद यान्त्रिक न होकर द्वन्द्ववादी हो जाता है। एन्जिल्स ने गेंहू के दाने का उदाहरण देते हुए कहा, ''नमी तथा गर्मी के प्रभाव से दाना नष्ट हो जाता है और एक पौधे का रूप धारण कर लेता है और फिर इस पर अनेक दाने लग जाते हैं, जो मात्रा तथा गुण में पहले से अच्छे होती है। परन्तु यह सब कुछ इस बात निर्भर करता है कि उसे विकास की कैसी परिस्थितियां प्राप्त होती है। अत: भौतिक परिस्थितियां ही यह निश्चित करती है कि नये दाने पहले की तुलना में उत्कृष्ट होगें या हीन।'' अत: समाज की भौतिक परिस्थितियां ही यह निर्धारित करती है कि कौन सा तत्व सफल होगा। मार्क्स के अनुसार विकास सरल रेखा में नहीं होता है वरन् वक्र रेखा में ऊर्ध्व दिशा में होता है।

विकास की प्रारम्भिक गति धीमी होती है तथा धीरे-धीरे परिवर्तन की एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि उस पदार्थ के रूप में परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए यदि पानी को गर्म किया जाये तो वह पहले धीरे-धीरे गर्म होता है किन्तु एक अवस्था ऐसी आ जाती है कि पानी भाप में बदल जाता है।

मार्क्स के द्वन्द्ववाद की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जा सकती है -

24.5.3 आलोचना

1. मार्क्स का कथन कि पदार्थ चेतना - युक्त होता है, गलत है। वास्तव में मानव ही पदार्थों का संचालक तथा नियन्त्रक है, न कि वह पदार्थ से नियन्त्रित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त अत्यन्त अस्पष्ट तथा गुढ़ है।
3. विकास की प्रक्रिया का संचालन केवल संघर्ष द्वारा ही नहीं होता है वरन् अन्य कारण भी विकास के लिये उत्तरदायी होते हैं।
4. मार्क्स का द्वन्द्ववाद हिंसक क्रांति को साधन के रूप में स्वीकार करके हिंसा का समर्थन बन जाता है।
5. इस बात का इतिहास साक्षी है कि मानव सभ्यता का विकास आपसी संघर्ष की बजाए सहयोग की भावना से अधिक हुआ है जो मार्क्स के दावे के प्रतिकूल है।

➢ सारांश

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार धारा का उद्देश्य अधिक स्पष्ट नहीं है। साधारणतया संघर्ष मानवीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह है, किन्तु उसे एक विश्वव्यापी कानून मानना या ऐतिहासिक विकास में इसे उत्प्रेरक शक्ति मानना आवश्यक नहीं है। केरयुहण्ट के अनुसार, ''यद्यपि द्वन्द्ववाद हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, किन्तु मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा कि सत्य का अनुसन्धान करने के लिये यही एक मात्र वैज्ञानिक पद्धति है।''

24.6 कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की व्याख्या

मार्क्स के सिद्धान्तों में उसकी वर्ग–संघर्ष की अवधारणा का बहुत महत्त्व है।

उसके मतानुसार ''**मनुष्य जाति का आज तक का इतिहास वास्तव में वर्ग संघर्ष का इतिहास है।**'' इन कथन स्पष्ट होता है कि इतिहास के प्रत्येक युग में आर्थिक वर्ग की प्रधानता रहती है। प्रत्येक काल तथा प्रत्येक देश में समाज दो प्रमुख विरोधी वर्गों में विभक्त रहा है, जिसका विवरण आगे किया जा रहा है –

प्रथम वर्ग – धनिक वर्ग, जिन्हें विशेषाधिकार प्राप्त होते है तथा जो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखते हैं। यह वर्ग आकार में छोटा तथा प्रभावशाली होता हैं। दूसरा वर्ग– श्रमिकों का वर्ग होता है। यह वर्ग आकार में बड़ा तथा साधन विहीन होता है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक तथा राजनीति शक्ति प्राप्त करने के लिए यह दोनों वर्ग, आपस में सदैव संघर्षरत रहते हैं। श्रमिक या शोषित वर्ग संगठित होकर शोषक वर्ग के विरूद्ध क्रान्ति करके प्राचीन व्यवस्था को नष्ट कर देता है। शोषक तथा शोषित वर्गों में अपने–अपने हित के लिए होने वाले संघर्ष को मार्क्स वर्ग संघर्ष की संज्ञा देता है।

मार्क्स के अनुसार आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष अत्यधिक तीव्र हो गया है। द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था के साथ–साथ श्रमिक वर्ग का भी जन्म हुआ। दोनों वर्ग एक दूसरे के पूरक होते हुए भी सदैव संघर्षशील रहते हैं। मार्क्स के अनुसार कुछ अन्य कारक भी पूंजीपति वर्ग तथा श्रमिक वर्ग में संघर्ष उत्पन्न करते हैं। पूंजीपति वर्ग न केवल उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखता है, वरन् वह सामाजिक, वैधानिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का उपयोग भी अपनी स्वार्थ की पूर्ति हेतु करता है। वे समस्त व्यवस्था अपने पक्ष में कर लेते हैं। लास्की के अनुसार, ''वे सामाजिक हित और अपनी सुरक्षा को एक रूप समझते है। अपने ऊपर आक्रमण करने वालों को वे राजद्रोह के अपराध का दण्ड देगें।''

शिक्षा, न्याय, धार्मिक शिक्षा सबको उनके हितों की पूर्ति के लिए उपयोग में लाया जाता है। हमें इस बात को भली–भांति समझ लेना चाहिए कि सामाजिक लाभ में सम्पत्तिहीन वर्ग को वंचित रहने का वे जानबूझकर प्रयत्न नहीं करते। यह भौतिक पर्यावरण के प्रति स्वभाविक प्रक्रिया है। परन्तु सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित वर्ग भी स्वभाविक रूप से उसमें भाग लेना चाहता है। अत: प्रत्येक समाज में उसके नियन्त्रण के लिए वर्गों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीपति तथा श्रमिक वर्ग के हित अत्यधिक विपरीत होने के कारण उनमें एकता स्थापित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता उसका विश्वास है, कि पूंजीवादी अपने अन्दर ही अपने विनाश के बीज रखता है। भूमिपति सामन्त वर्ग और पूंजीपति वर्ग में जिसे सामन्तवादी समाज ने पुष्ट किया था। संघर्ष इसी प्रकार का था, जिसने सामान्तवादी व्यवस्था की जड़ें हिला दी और अन्त में उसे नष्ट कर दिया। मार्क्स के अनुसार इस संघर्ष का निश्चित परिणाम पूंजीवाद का विनाश और श्रमिक वर्ग ही विजय होगा। एंजिल्स ने 1847 में सर्वहारा वर्ग की व्याख्या करते हुए कहा था कि ''यह समाज का वह वर्ग है जो अपनी आजीविका पूर्ण रूप से अपने श्रम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को बेचकर कमाता है और पूंजी से प्राप्त होने वाले लाभ पर निर्भर नहीं करता।'' लेनिन ने पूंजीपति का अर्थ बताते हुए कथा कि कि, ''पूंजीपति ऐसी सम्पति के स्वामी को कहते है जो सम्पत्ति के माध्यम से श्रमिकों का शोषण करता हो।''

24.6.1 पूंजीवादी व्यवस्था की विशेषताएँ

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ है :-

24.6.1.1 व्यक्तिगत लाभ : पूंजीवादी व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ होता है। जिसके परिणाम स्वरूप मांग तथा उत्पादित माल में सामंजस्य नहीं हो पाता है।

24.6.1.2 पूंजी का केन्द्रीकरण : पूंजीवादी व्यवस्था में थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में पूंजी का केन्द्रीकरण हो जाता है। श्रमिक वर्ग अपने लाभ के लिए वरन् पूंजीपति वर्ग के लाभ हेतु अपने श्रम को बेचने लगता है।

24.6.1.3 कृत्रिम आर्थिक संकट उत्पन्न करना : पूंजीपति व्यवस्था आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न कर देती है। बाजार में माल बहुत अधिक होता है लेकिन श्रमिक वर्ग की क्रय शक्ति नगण्य होने से उनका विक्रय नहीं हो पाता। पूंजीपति इस संकट से निपटने के लिए कृत्रिम कमी पैदा करते है, जिसके कारण श्रमिक वर्ग में असन्तोष की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जाता है और पूंजीवादी का विनाश निश्चित हो जाता है। श्रमिकों के मध्य असन्तोष उनमें व्यक्तिगत चेतना के स्थान पर वर्ग चेतना जागृत कर देती है। वे परस्पर मिलते हैं तथा एक दूसरे की कठिनाईयों से अवगत होते हैं। इस अवस्था में श्रमिकों के आन्दोलन का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। मार्क्स ''दुनिया के मजूदरों एक हो जाओ'' का आह्वान करता है।

मार्क्स के अनुसार ''पूंजीवादी व्यवस्था जो सबसे बड़ी चीज का उत्पादन करती है, वह है उन लोगों का वर्ग जो स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था की कब्र खोद डालेंगे।''

मार्क्स के अनुसार पूंजीपति वर्ग के विनाश के पश्चात् श्रमजीवी वर्ग का अधिनायक तंत्र स्थापित हो जायेगा तथा एक वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी।

24.6.2 वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना

वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है जिनमें से कतिपय तर्क निम्नलिखित रुप से प्रमुख हैं -

24.6.2.1 मध्यम वर्ग की उपेक्षा- मार्क्स द्वारा सम्पूर्ण समाज को केवल दो वर्गों - पूंजीपति तथा श्रमिक वर्ग में बांट देना भ्रमपूर्ण है। आधुनिक समाज में महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले मध्यम वर्ग का विकास हुआ है। इस वर्ग के अन्तर्गत डॉक्टर, इंजीनियर, वकील तथा शिक्षक आदि आते हैं। मार्क्स मध्यम वर्ग के महत्त्व को समझने में असफल रहा।

24.6.2.2 सभी पूंजीवादियों को एक मानना गलत- एक ही देश के समस्त भू-स्वामियों, उद्योगपतियों को एक हीम मानसिकता वाले पूंजीवादी वर्ग के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता जो सामान्य वर्ग चेतना रखते हों। समस्त विश्व के पूंजीपतियों को एक मान लेना नितान्त भ्रमपूर्ण धारणा है। पूंजीपतियों के हितों में भी परस्पर संघर्ष पाया जाता है।

24.6.2.3 श्रमिकों में एकता का अभाव - विश्व के समस्त श्रमिकों के मध्य भी सामान्य वर्ग चेतना का अभाव पाया जाता है। मार्क्स तथा एंजिल्स द्वारा श्रमिकों को एक हो जाने का आह्वान करना यह सिद्ध करता है कि उनमें कोई स्वभाविक एकता नहीं है। सभी जगह श्रमिकों की मानसिकता का एक होना संभव नहीं है।

24.6.2.4 श्रमिक वर्ग के विजय की कल्पना गलत- मार्क्स की यह धारणा कि वर्ग संघर्ष का अन्त निश्चित रूप से श्रमिक वर्ग की विजय और समाजवाद की स्थापना में होगा, निर्मूल सिद्ध हो रही है। केरयूहण्ट के अनुसार, ''अन्त में मार्क्स की यह धारणा की मनुष्यों में समस्त संघर्षों का स्त्रोत वर्ग संघर्ष है, यद्यपि एक युद्ध कला के रूप में इसका मूल्य असंदिग्ध है क्योंकि इसका ध्येय सर्वसाधारण को यह विश्वास दिलाना है कि उनके संकटों का कारण पूंजीवादी प्रणाली है और श्रमजीवी वर्ग की विजय के साथ वे दूर हो जायेगें। असत्य है, क्योंकि जीवन में संघर्ष का सबसे बड़ा कारण निश्चित रूप से व्यक्ति तथा समाज के बातों में विरोध है। यह एक ऐसा संघर्ष है जिसे केवल वर्ग संघर्ष नहीं कहा जा सकता और जिसका कोई द्वन्द्वात्मक निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि यह अपरिवर्तनशील मानव स्थिति का एक अंग है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

24.6.2.5 पारस्परिक असहयोग पर बल – प्लेटो की यह धारणा कि समाज सामान्य आवश्कताओं की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग की आवश्यकता पर आधारित है, मार्क्स की धारणा से कहीं अधिक सत्य है।

24.6.2.6 मार्क्स की भविष्यवाणी गलत – पूंजीवादी व्यवस्था ने परिवर्तित परिस्थितियों से अत्यधिक सामन्जस्य किया है जिसके परिणाम स्वरूप यह व्यवस्था वर्तमान में भी मौजूद है। यही कारण है श्रमिक क्रान्ति उन देशों में, जहां कि अत्यधिक उद्योग धन्धे है सफल नहीं हो सकी। अत: मार्क्स तथा एंजिल्स की यह भविष्यवाणी की पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश सन्निकट है निर्मूल सिद्ध हुई।

➢ सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक धारणायें गलत सिद्ध हुई है। मार्क्स तथा एंजिल्स का यह विचार की श्रमिक वर्ग का बढ़ता हुए असंतोष, पूंजीवादी व्यवस्था को समूल नष्ट कर देगा तथा साम्यवादी समाज (वर्ग विहिन तथा राज्य विहीन) की स्थापना निश्चित रूप से हो जायेगी गलत सिद्ध हुआ। पूंजीवादी व्यवस्था अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के साथ बदल लेगी, शायद मार्क्स यह अनुमान लगाने में असफल रहे। अत: मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त पूर्णत: स्वीकार करने योग्य नहीं है।

24.7 इतिहास की आर्थिक व्याख्या

कार्ल मार्क्स के विचारों में इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। मार्क्स उन इतिहासकारों से सहमत नहीं है जिन्होंने इतिहास को कुछ विशेष और महान् व्यक्तियों के कार्यों का परिणाम मात्र समझा है। उसका विचार है कि इतिहास की सभी घटनाएं आर्थिक अवस्था में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम मात्र है और किसी भी राजनीतिक संगठन अथवा न्याय व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके आर्थिक ढांचे का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है– मानवीय क्रियाएं नैतिकता, धर्म या राष्ट्रीयता से नहीं वरन् केवल आर्थिक तत्त्वों से प्रभावित होती है। अपने विचार क्रम को स्पष्ट करते हुए मार्क्स कहता है कि उत्पत्ति के सिद्धान्त का निरन्तर विकास होता रहता है। वे गतिमान और परिवर्तनशीलता का ही परिणाम होती है। हमारे जीवनयापन के ढंग में परिवर्तन होता रहता है। मार्क्स ने अपने इस आर्थिक व्याख्याके आधार पर अब तक ही मानवीय इतिहास की 6 अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है।

24.7.1 आदिम साम्यवादी अवस्था

सामाजिक विकास की इस पहली अवस्था में उत्पादन के तरीके बहुत सरल थे। पत्थर के औजार और धनुष–बाण, उत्पादन के प्रमुख साधन थे। मानव शिकार, कन्द मूल एवं कच्चा मांस खाकर अपना पेट भरता था। भोजन प्राप्ति एवं जंगली जानवरों की सुरक्षा के लिए वह समूह में रहने लगा। इस समय सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व होता था। निजी सम्पत्ति का नितान्त अभाव था न विवाह संस्था थी और न ही परिवार थे। कोई किसी का शोषण करने की स्थिति में नहीं था। मार्क्स इसे साम्यवादी अवस्था कहता है।

24.7.2 दास अवस्था

धीरे–धीरे मानव के भौतिक जीवन में परिवर्तन आने लगा। अब व्यक्ति खेती और पशुपालन करने लगा। इससे मनुष्य एक स्थान पर स्थाई रूप से रहने लगा। जिससे निजी संपत्ति का उदय और श्रम विभाजन का विषय उपस्थित हुआ। जिन व्यक्तियों ने उत्पादन के साधन या कृषि भूमि पर अधिकार कर लिया गया, वे दूसरे व्यक्तियों को अपना दास बनाकर उनसे बल पूर्वक काम करवाने लगे। इस प्रकार आदिम समाज की स्वतन्त्रता व समानता समाप्त हो गयी और समाज स्वामी और दास दो वर्गों के बीच विभाजित हो गया।

24.7.3 सामन्ती अवस्था

जब उत्पादन के साधनों में वृद्धि हुई। लोहे के हल और हथ करघे आदि का प्रचलन हुआ और कृषि, बागवानी और कपड़ों के उद्योग का विकास हुआ। उत्पादन के इन साधनों के सफल प्रयोग के लिए यह आवश्यक था कि श्रमिक अपना कार्य रूचि से करे। अत: दास प्रथा के स्थान पर एक नवीन व्यवस्था का सुत्रपात हुआ जो सामन्त व्यवस्था कहलायी। समाज के कुछ लोगों ने भूमि एवं

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladakh

अन्य उत्पादन के साधनों पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया लेकिन कृषि कार्य और दास्तकारी का कार्य किसान व श्रमिक लोग करते थे। इस तरह इस काल में सामन्त व किसान दो वर्ग बन गये। सामन्तों के द्वारा किसानों का व्यापक शोषण किया जाता था। इस अवस्था में भी शोषित व शोषक के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहा।

24.7.4 पूंजीवादी अवस्था

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रांति हुई जिसने उत्पादन के साधनों में अमूल -चूल परिवर्तन कर दिया। इसके चलते बड़े-बड़े कल कारखानों एवं मशीनों का दौर प्रारम्भ हुआ। उत्पादन के इन साधनों पर चन्द पूंजीपतियों का स्वामित्व हो गया। वे इनका संचालन अपने लाभों एवं हितों के आधार पर करते थे। इन कारखानों में कार्य श्रमिकों के द्वारा किया जाता था जिनकी स्थिति बहुत कमजोर थी। पूंजीपतियों द्वारा उनका शोषण, अत्याचार एवं दमन करना आम बात थी। उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं दिया जाता था। इन परिस्थितियों में समाज की स्थिति बहुत ही विकट हो गयी थी। आर्थिक असमानता अपने चरम सीमा तक पहुंच गयी थी। समाज का स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजन हो गया था (बुर्जुआ शोषक वर्गऔर सर्वहारा वर्ग) इनके बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, जो अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचकर वर्ग संघर्ष को जन्म देती है। इस वर्ग-संघर्ष में पूँजीवाद का विनाश होता है तथा श्रमिक वर्ग की विजय होती है।

24.7.5 श्रमिक वर्ग के अधिनायकत्व की अवस्था

कार्ल मार्क्स का मत है कि जब पूंजीपतियों के अन्याय व अत्याचार अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाएंगे तब श्रमिकों में उनके विरूद्ध असन्तोष फैलेगा और वे इस पूंजीवादी शोषण से मुक्ति पाने का प्रयास करेंगे। पूजीपतियों के शोषण का मुकाबला करने के लिए मार्क्स श्रमिकों को एकता पर बल देता है और कहा है कि दुनिया के मजदूरों तुम एक हो जाओ तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है सिवाय बेड़ियों के।

इस तरह विश्व के सभी मजदूर मिलकर पूंजीवाद को उखाड़ फैकने के लिए क्रांति करते हैं। जिसमें पूजीवाद को समाप्त तो कर दिया जाता है लेकिन फिर भी उनके कुछ अवशेष बचे रहते हैं। अत: पूंजीवाद का पूर्ण उन्मूलन करने के लिए क्रांति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होती है।

24.7.6 साम्यवाद की अवस्था

मार्क्स का मत है कि क्रांति के पश्चात् पूंजीवाद को समाप्त कर दिया जाता है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही द्वारा पूंजीवाद का पूर्ण उन्मूलन कर दिया जाता है, तब साम्यवाद की अवस्था आती है। यह एक आदर्श अवस्था होती है। जो वर्ग विहीन, राज्यविहीन और शोषण विहीन होती है। जिसमें न तो समाज में कोई वर्ग होता है बल्कि सभी मनुष्यों की समान स्थिति होती है। इसमें राज्य का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। मार्क्स का मत है कि राज्य पूंजीपतियों का हित साधने वाली संस्था है। जो अनुचित कानून बनाकर श्रमिकों को शोषण सहन करने के लिए विवश करती है और जब वर्ग एवं राज्य दोनों ही नहीं होंगे तब शोषण स्वत: ही समाप्त हो जाएगा।

24.7.7 इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं -

1. आर्थिक तत्त्व पर अत्यधिक और अनावश्यक बल दिया गया।
2. आर्थिक आधार पर सभी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या संभव नहीं है।
3. इतिहास के निर्धारण में संयोग के तत्त्व की उपेक्षा की गई है।
4. मानवीय इतिहास के कालक्रम का निर्धारण सम्भव नहीं है।
5. राजनीतिक सत्ता का एक मात्र आधार आर्थिक सत्ता नहीं हो सकती है।
6. आर्थिक संबंधों तथा परिवर्तनों को राजनीति सत्ता या शक्ति द्वारा बदला जा सकता है।
7. राज्य विहीन अवस्था अराजकता को प्रोत्साहन देती है।

24.8 साम्यवाद

जब समाज में पूंजीवाद का वर्चस्व सर्वत्र था, उसके परिणामस्वरूप आर्थिक विषमताओं को प्रोत्साहन मिला, समाज पूंजीपति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व श्रमिक वर्ग के रूप में विभाजित हुआ, तमाम् आर्थिक संसाधन पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हो गये, समाज का बहुसंख्यक वर्ग (श्रमिक) शोषण, अन्याय व अत्याचार का शिकार हो रहा था। अत: पूंजीवाद के एकाधिकार को ध्वस्त करने एवं समता पर आधारित समाज की स्थापना करने केलिए साम्यवादी (मार्क्सवाद) विचारधारा का उदय होता है।

आधुनिक साम्यवाद का प्रतिपादक कार्लमार्क्स को ही माना जाता है। यद्यपि राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सर्वप्रथम प्लेटो साम्यवाद के विचार प्रस्तुत करते हैं और परिवार या पत्नियों का साम्यवाद तथा सम्पत्ति का साम्यवाद की व्याख्या करते हैं लेकिन उनके ये विचार आधुनिक मार्क्सवाद (साम्यवाद) से काफी भिन्न हैं। जहां प्लेटो का उद्देश्य दार्शनिक शासक का निर्माण करना और उसे कंचन व कामिनी के प्रभाव से बचाना था, वहीं कार्ल मार्क्स समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों को आधार मानकर श्रमिकों को पूंजीपतियों के शोषण से मुक्ति दिलाना चाहता था। इसके लिए मार्क्स ने राज्य का विरोध किया और कहा कि राज्य श्रमिकों के शोषण बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है। राज्य समय-समय पर कानूनों का निर्माण कर पूंजीपतियों का हित साधना है और राष्ट्रवाद की भावना की आड़ में श्रमिकों को शोषण सहन करने के लिए विवश करती है। इसलिए राज्य एक शोषणकारी संस्था है। अत: आदर्श अवस्था में राज्य का अभाव होगा। मार्क्स राज्य एवं पूंजीपतियों से मुक्ति पाने के लिए मजदूरों को आह्वान करता है कि ''दुनियां के मजदूरों तुम एक हो जाओ, तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है सिवाए बेड़ियों के।'' इस आधार पर विश्व के तमाम श्रमिकों को एक मंच पर लाने का प्रयास कर राष्ट्रवाद का विरोध व अन्तर्राष्ट्रीयवाद का समर्थन करता है।

कार्लमार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हुए कहता है कि समाज में हमेशा से दो वर्ग रहे हैं और इनके बीच पारस्परिक संघर्ष रहता है और यही स्थिति कार्लमार्क्स के अनुसार उसके समय भी अर्थात् समाज पूंजीपति व श्रमिक के रूप में बंटा हुआ था। श्रमिक अभाव की जिन्दगी व्यतीत कर रहे थे, जिसकी परिणिति वर्ग संघर्ष के रूप में होती है। जिसमें पूंजीपतियों की पराजय होती है। लेकिन इसके बावजूद पूंजीवाद के अवशेष रहते हैं अत: इसको समूल नष्ट करने केलिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी। इसकेपश्चात् साम्यवाद की आदर्श अवस्था, वर्ग विहिन, राज्य विहिन और शोषण विहिन समाज की होगी।

राज्य की स्थिति, शक्तियों, समाज की आर्थिक व्यवस्था इत्यादि के बारे में अनेक प्रकार की विचारधाराएं प्रचलित हैं ?जिनमें से साम्यवाद भी एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है। साम्यवाद को आधुनिक मार्क्सवाद के रूप में भी जाना जाता हैं क्योंकि साम्यवाद का पिता या संस्थापक काल मार्क्स को ही माना जाता है। जहां राज्य के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी व पूंजीवादी ऐसी ही विचारधाराएँ हैं, जो राज्य को सीमित कर, व्यक्ति के हित पर अधिक बल देती है। उनके अनुसार व्यक्ति अपने हित के बारे में सर्वोच्च होता है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी एक ऐसा दृष्टिकोण है जो समाज के आर्थिक ढ़ांचे को निजी क्षेत्रों को देने के पक्ष में है। इस प्रकार जब पूंजीवादी का प्रभाव विश्व की अर्थव्यवस्था पर व्यापक रूप से पड़ रहा था और आर्थिक विषमता बढ़ती ही जा रही थी। तब इस पूंजीवादी के विरोध के कारण ही साम्यवादी विचारधारा का उद्भव हुआ।

साम्यवाद एक इसी प्रकार की व्यवस्था है जो उत्पादन व वितरण के साधनों पर व्यक्ति के नियन्त्रण का विरोध करती है तथा इन पर समाज के नियन्त्रण की पक्षधर है।

यद्यपि सोवियत संघ में 1917 में साम्यवादी क्रांति के बाद मार्क्स के सिद्धान्त को वैसा का वैसा लागू नहीं किया। लेनिन द्वारा इसमें कुछ परिवर्तन करके लागू किया गया। लेकिन साम्यवाद का मूल आधार तो मार्क्स के सिद्धान्त ही हैं। प्रत्येक देश जहां-जहां साम्यवाद है वहां पर पर्याप्त अन्तर रहा जैसे भारतीय साम्यवाद या अरबी साम्यवाद, चीनी साम्यवाद आदि। यहां पर क्षेत्र तथा प्रकृति के कारण यह अन्तर आ सकता हैं।

साम्यवाद राज्य एवं वर्गों की अनुपस्थिति तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में समता की पक्षधर विचारधारा है। साम्यवाद मुख्यता आर्थिक विचारधारा है। जिसके मुताबिक प्रत्येक व्यक्ति की जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करेगा तथा काम के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त करेगा। साम्यवाद समाजवाद का वह विकसित स्वरूप है, जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति आर्थिक शोषण का नहीं बल्कि जनकल्याण का साधन है।

साम्यवाद को परिभाषित करते हुए गैटिल लिखता है कि ''साम्यवाद मानव विकास के लिए भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित एक दर्शन है। जिसका प्रारम्भ कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐन्जिल्स से हुआ। इनको लेनिन तथा स्टालिन सहित एक नयी विचारधारा के पैगम्बरों के रूप में सम्मानित किया जाता है, जिनका मातृत्व प्रेम नहीं वरन् संघर्ष और विद्रोह का सिद्धान्त हैं।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सी.एम. जोड ने साम्यवाद को एक पद्धति का सिद्धान्त कहा है। उन्हीं के शब्दों में, ''साम्यवाद उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिनके आधार पर समाज की पूंजीवादी व्यवस्था परिवर्तन साम्यवादी व्यवस्था के रूप में होता है। इसके दो आधारभूत सिद्धान्त हैं, वर्ग संघर्ष साम्यवादी विचारधारा के निम्नलिखित सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जा सकता है तथा क्रांति अर्थात् श्रमिक वर्ग द्वारा बलपूर्वक सत्ता प्राप्त करना।''

24.8.1 साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त

24.8.1.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :- साम्यवादी मार्क्स के द्वारा बतलाये गये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास करते हैं और इसके आधार पर बतलाते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था वाद की स्थिति हैं। जिसमें यह बुराई है कि समाज गरीब व अमीर दो वर्गों में बंट जाता है। परिणामस्वरूप समाज में संघर्ष होता है और प्रतिवाद के रूप में पूंजीवाद की समाप्ति होती है। सम्पत्ति का सामाजीकरण कर दिया जाता है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाती है। कुछ समय के पश्चात् इन दोनों स्थितियों के मिलने के बाद प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप संवाद के रूप में साम्यवाद का अविर्भाव है, जिसमें न राज्य होगा न कोई वर्ग और न ही शोषण होगा। साम्यवादी इस सिद्धान्त के द्वारा पूंजीवाद के अन्त की सम्भावना अभिव्यक्त करते हैं।

24.8.1.2 इतिहास की आर्थिक व्याख्या :- साम्यवादियों के द्वारा इस बात का खण्डन किया जाता है कि इतिहास कुछ महान् व्यक्तियों के क्रियाकलापों का परिणाम मात्र हैं। बल्कि वे इस बात को मानते हैं कि इतिहास की सभी घटनायें आर्थिक अवस्था में होने वाले परिवर्तनों अर्थात् उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन का परिणाम है। साम्यवादियों के अनुसार सामाजिक जीवन में परिवर्तन ईश्वर की इच्छा या कुछ महापुरुषों के कार्य-कलापों का परिणाम मात्र नहीं, बल्कि कुछ निश्चित नियम हैं अर्थात् सामाजिक व्यवस्था उत्पादन की स्थिति और उत्पादन के साधनों पर निर्भर करती है। सामाजिक व्यवस्था पर उस वर्ग का अधिकार रहता है, जिसका उत्पादन के साधनों पर प्रभुत्व है। वे इतिहास की आर्थिक व्याख्या के द्वारा पूंजीवादी के अंत तथा साम्यवाद के आगमन की बात कहते हैं। मार्क्स के अनुसार मनुष्य जीवन के समस्त पहलू आर्थिक स्थिति से निर्धारित होते हैं।

24.8.1.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त :- साम्यवादी मार्क्स का इस बात को मानते हैं कि किसी भी वस्तु का मूल्य इस बात पर निर्भर होना चाहिए कि उसमें कितना श्रम लगा है, क्योंकि श्रम ही धन के उत्पादन का साधन है। लेकिन वह वस्तु बाजार में काफी ऊंची कीमत पर बेची जाती है और जो मुनाफा होता है जो कि वास्तव में अतिरिक्त मूल्य है उसे पूंजीपति स्वयं हड़प लेते हैं मजदूरों को नहीं देते हैं। माल तैयार करने में जो लागत आती है और जिस मूल्य में माल बिकता है। इसमें जो अन्तर होता है जिसे मुनाफा या लाभ कहा जाता है। साम्यवादी उसे अतिरिक्त मूल्य कहते हैं और यह अतिरिक्त मूल्ययानि की मुनाफा मजदूरों के श्रम का परिणाम है। इसलिये यह मजदूरी को मिलना चाहिए। इसके अलावा साम्यवादी यह मानते हैं कि जब अतरिक्त मूल्य श्रमिकों को दिया जायेगा तो समाज में श्रमिक वर्ग की आर्थिक स्थिति अच्छी हो जायेगी और गरीब व अमीरों के बीच जो खायी है, वह समाप्त हो जायेगी। मार्क्स के अनुसार ''अतिरिक्त मूल्य उन दोनों मूल्यों में अन्तर करता है जिन्हें एक मजदूर पैदा करना हैं, तथा प्राप्त करता है।''

24.8.**1.4 वर्ग संघर्ष में विश्वास :**-साम्यवादी काल मार्क्स के इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि मानव जाति में शुरू से ही दो वर्ग चले आ रहे हैं। एक शोषित और दूसरा शोषित अर्थात् एक मजदूर तथा दूसरा पूंजीपति। इनके हित आपस में टकराते हैं, क्योंकि पूंजीवादी कम से कम मजदूरी देकर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा या लाभ कमाना चाहता है जबकि मजदूर अपने श्रम का मूल्य अधिक चाहते हैं। पूंजीपति बिना मेहनत किये विलासीपूर्ण तथा आराम की जिन्दगी जीते हैं जबकि मजदूर दिन-रात कठिन मेहनत के बावजूद भी उन्हें दो वक्त की रोटी नहीं मिलती है। इस प्रकार मार्क्स का यह कहना है कि मजदूर वर्ग अपने शोषण से मुक्ति के लिए संगठित होकर क्रान्ति करेंगे और जिसके कारण पूंजीवाद लगभग नष्ट हो जायेगा।

24.8.1.5 पूंजीवाद का विरोध और उसके अन्त की सम्भावना- साम्यवादी, पूंजीवाद का घोर विरोध करते हैं। साम्यवादी इसको शोषणकारी व्यवस्था मानते हैं। वे मार्क्स की इस बात में विश्वास करते हैं कि पूंजीवाद में विनाश के बीच मौजूद हैं। अतिरिक्त मूल्य से प्राप्त मुनाफे के कारण धन का कुछ थोड़े से हाथों में केन्द्रीयकरण होना, मजदूरों की हालात का दिन-प्रतिदिन बिगड़ना, अधिक उत्पादन से बाजार से मंदी आने के परिणामस्वरूप मजदूरों की छंटनी और मजदूरों में बेरोजगारी, कारखानों व मिलों का एक ही नगर में केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप मजदूरों में पास्परिक संगठन व मजदूरों के द्वारा हिंसात्मक क्रान्ति की जायेगी और यह क्रान्ति तब तक चलती रहेगी, जब तक पूंजीवाद समाप्त नहीं होता और जब पूंजीवाद समाप्त हो जायेगा, उसके पश्चात् सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी, जो समाज में समानता स्थापित करेगा।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Library

24.8.1.6 सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास– साम्यवादी, मार्क्स की इस विचारधारा के समर्थक हैं कि जब पूंजीवाद के खिलाफ मजदूरों द्वारा हिंसात्मक क्रान्ति की जायेगी और उसके परिणाम स्वरूप पूंजीवाद लगभग समाप्त–सा हो जायेगा। उसके बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कुछ समय के लिए कायम होगी जो कुछ बचे हुए पूंजीवाद के तत्वों को समाप्त करेगी और उत्पादन के साधनों का समाजीकरण किया जायेगा ताकि एक वर्ग विहीन, राज्यविहीन तथा शोषण विहीनसमाज की स्थापना की जा सके।

24.8.1.7 हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास– साम्यवादी इस बात में विश्वास करते हैं कि पूंजीवाद का अन्त और साम्यवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण तरीके से नहीं हो सकती क्योंकि पूंजीपति अपनी इच्छा से शोषण करना बंद नहीं करेंगे और न ही उत्पादन के साधन पर अपना स्वामित्व छोड़ेगे, बल्कि वे तो अधिक मजदूरों का शोषण करने में लगे रहेंगे। इसलिए श्रमिक संगठित होकर पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति करेंगे, जिसके दौरान ही पूंजीवाद का अन्त होगा और साम्यवादी सत्ता कायम होगी। इस व्यवस्था में किसी के द्वारा किसी का शोषण नहीं किया जाता हैं।

24.8.1.8 प्रजातन्त्र का विरोध– साम्यवादी प्रजातन्त्र का भी घोर विरोध करते हैं। लोकतन्त्र के सन्दर्भ में उनका यह मानना है कि लोकतन्त्र जनता का शासन नहीं हैं, अपितु पूंजीवादियों का ही शासन है। मार्क्स के मतानुसार पूंजीपतियों द्वारा अपने विभिन्न स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए लोकतन्त्र की स्थापना की गयी है। साम्यवादी, प्रजातन्त्र की आलोचना करते हुए यह कहते हैं कि इस व्यवस्था में जो राजनीतिक स्वतन्त्रता व समानता होती है, वह आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना मात्र दिखावा है, क्योंकि पूंजीपति चुनावों के समय मजदूरों तथा गरीबों को कुछ धन देकर उनका वोट खरीद लेते हैं और अपने लोगों को तथा स्वयं आगे चल कर अपने हितों के लिए शोषणकारी कानूनों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार साम्यवादियों का मानना है कि आर्थिक समानता लोकतन्त्र से नहीं, अपितु साम्यवाद से ही आ सकती हैं।

24.8.1.9 धर्म का विरोध– साम्यवाद का यह भी एक प्रमुख सिद्धान्त है कि वे धर्म का घोर विरोध करते हैं और वे मार्क्स के इस दृष्टिकोण में विश्वास करते हैं कि ''धर्म एक अफीम के समान है वे साम्यवाद के दर्शन को अस्वीकार करते हुए इसको विकास में बाधक तथा शोषण कारी मानते है।'' धर्म लोगों को सामाजिक, आर्थिक, अन्याय को सहन करने की शिक्षा देकर शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने से रोकता है। साम्यवादी कहते हैं, धर्म हमेशा से ही पूंजीवादियों, तानाशाही शासकों तथा अत्याचारियों के शोषण का साधन रहा है, जिन्होंने सदैव ही धर्म के नाम पर गरीबों तथा मजदूरों का शोषण किया। यही कारण है कि जब राजशाही व्यवस्था कायम थी, तब राजाओं एवं शासकों के द्वारा धर्म के नाम पर लोगों पर घोर अत्याचार किये और कहा गया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधित्व होता है उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना, ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना है। इस प्रकार साम्यवादी धर्म का विरोध करते हुए ईश्वर में अविश्वास व्यक्त करते हैं।

24.8.1.10 राष्ट्रवाद का विरोध– साम्यवाद का मूलभूत आधार है ''राष्ट्रवाद का विरोध करना।'' साम्यवादियों के मुताबिक राष्ट्र क्या होता है ?इसके अतिरिक्त वे यह कहते हैं कि श्रमिकों के लिए कोई भी राष्ट्र भी सीमायें नहीं होती हैं। राष्ट्रवाद के नाम पर मजदूरों का शोषण किया जाता हैं तथा उन्हें अत्याचार सहन करने के लिए विवश किया जाता है। साम्यवादी मार्क्स की इस बात में विश्वास करते हैं कि मजदूरों का कोई देश नहीं होता। विश्व के समस्त मजदूरों की एक जैसी समस्यायें होती हैं। इसीलिए उन्होंने यह नारा दिया, ''दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ।''

24.8.1.11 राज्य का विरोध– साम्यवादी केवल धर्म या राष्ट्रवाद का ही विरोध नहीं करते, अपितु वे राज्य का भी विरोध करते हैं। मार्क्स ने जैसा यह कहा है कि जब क्रान्ति होगी और उसके बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होती है और इस युग के बाद राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी। उस समय राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य, वर्ग व्यवस्था तथा शोषण का ही पर्यायवाची है। अत: राज्य के होते प्रत्येक वर्ग स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर पायेगा। राज्य ने सदैव ही शोषक वर्ग का साथ दिया है। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार कुछ समय बाद राज्य स्वत: ही समाप्त हो जायेगी और वास्तविक साम्यवादी समाज का उदय होगा।

24.8.1.12 शोषण रहित, वर्ग विहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना– साम्यवादियों का अन्तिम उद्देश्य शोषण रहित, वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना है। जब पूंजीवाद हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा पूंजीपतियों को समाप्त कर दिया जायेगा तो तो सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी। उसके द्वारा निजी सम्पत्ति का अन्त, उत्पादन के साधनों का सामाजीकरण और श्रम की अनिवार्यता को लागू किया जायेगा। परिणामस्वरूप समाज में न तो कोई वर्ग होगा और न ही किसी का शोषण होगा। अत:

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राज्य की आवश्यकता नहीं होगी और राज्य को समाप्त कर दिया जायेगा तथा समानता पर आधारित वर्ग विहीन, राज्य विहीन और तकनीकी दृष्टि से उन्नत समाज की स्थापना की जायेगी। यह साम्यवाद की अन्तिम अवस्था होगी।

24.8.1.13 वितरण व्यवस्था में विश्वास– साम्यवाद, समानता पर आधारित विचारधारा है, जिसके तहत् यह माना जाता है कि सभी लोगों को समान रूप से परिश्रम करना होगा और सभी लोगों को समान रूप से आवश्यकता पूर्ति हेतु वस्तुएं दी जायेंगी। इसमें व्यक्ति तथा वर्ग के साथ भेदभाव नहीं किया जायेगा।

24.8.1.14 मध्यम वर्ग का विरोध– साम्यवादी मध्यम वर्ग का भी विरोध करते हैं। इसके सन्दर्भ में उनका कहना है कि मध्यम वर्ग पूंजीवाद के प्रति समर्पित वर्ग हैं जो कुछ लोग मजदूर आन्दोलनों में भाग लेते है वे अपने नेतागिरी के लिए ऐसा करते हैं और जब उन्हें मौका मिलता हैं तब वे पूंजीवादियों के साथ हो जाते हैं। इस प्रकार मध्यम वर्ग के लोगों से बचना चाहिए। सारांश में, साम्यवादियों की मध्यम वर्ग के प्रति अच्छी धारणा नहीं है।

24.8.2 आलोचनाएँ

साम्यवादी विचारधारा को अन्य विचारधाराओं की तुलना में महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि यह शोषण के विरूद्ध तथा समानता पर आधारित विचारधारा हैं, जिसमें दमन तथा असमानता का कोई स्थान नहीं हैं। यह श्रमिकों को संगठित करने तथा पूंजीवाद के शोषण से बचाने की विचारधारा है, इसके परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग जागृति का संचार हुआ हैं। इसमें धर्म, जाति, अंधविश्वास आदि का कोई स्थान नहीं है। यह श्रम समाज पर आधारित विचारधारा हैं। साम्यवाद ने यह स्पष्टतया स्वीकार किया है कि आर्थिक समानता एवं स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं है फिर भी इस विचारधारा की कटु आलोचना की जाती है। इसकी निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से आलोचनाओं को कर सकते हैं।

24.8.2.1 परिवर्तन का एक मात्र आधार आर्थिक ही नहीं– साम्यवादियों का यह मानना है कि इतिहास में परिवर्तन या इतिहास की प्रत्येक घटना के पीछे मुख्य कारण केवल आर्थिक होते हैं, जो सही नहीं कहे जा सकते। सामाजिक जीवन को निर्धारित करने वाली या इतिहास की घटनाएँ अनेक तत्वों जैसे धर्म, राष्ट्रीयता, भौगोलिक तत्व, सामाजिक वातावरण इत्यादि से प्रभावित होती हैं। इसलिए केवल आर्थिक आधार पर सभी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती और न ही इस बात को माना है कि राजनैतिक सत्ता का एक मात्र आधार केवल आर्थिक की है। यह इतिहास की एकपक्षीय व्याख्या है।

24.8.2.2 केवल श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन नहीं– साम्यवादी मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में विश्वास करते हुए यह कहते हैं कि श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन हैं अर्थात उनका मानना है जिस वस्तु को बेचने से अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होता है उस पर वास्तविक रूप से पूंजीवादियों का हक न होकर, बल्कि श्रमिकों का हक है। इस तर्क को सच्चाई की कसौटी पर खरा नहीं उतारा जा सकता है। क्योंकि उत्पादन के साधन तत्व केवल श्रमिक या मजदूर ही नहीं होते, अपितु अन्य कई महत्त्वपूर्ण तत्व इसमें सम्मिलित होते हैं, जिनके ऊपर उत्पादन रूपी समस्त तन्त्र टिका रहता है। जैसे पूंजी, मशीन, संगठन, प्रबन्ध इत्यादि। जिनकी साम्यवादियों द्वारा पूर्णतया उपेक्षा की गयी है।

24.8.2.3 धर्म की निंदा सही नहीं– साम्यवादी धर्म का विरोध करते हुई इसको शोषण का एक स्त्रोत मानते हैं। उनका यह मानना है कि धर्म व्यक्ति को अन्याय व अत्याचार सहन करने के लिए विवश करता है तथा धर्म को एक 'अफीम' के समान मानते हैं। साम्यवादी यह भी कहते हैं कि धनवान तथा शासक वर्ग, धर्म की ओट में गरीबों के साथ अत्याचार व शोषण करते हैं। लेकिन इसको सही नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि धर्म शोषण, अत्याचार या अन्याय करने का नहीं कहता, बल्कि धर्म तो व्यक्ति में दया, परोपकार सहनशीलता तथा सहानुभूति करने को प्रेरित करता है। इसके अतिरिक्त धर्म नैतिक जीवन पर विशेष बल देता है।

24.8.2.4 हिंसा का समर्थन उचित नहीं– साम्यवादी मार्क्स के इस विचारधारा का समर्थन करते है पूंजीवादी तत्वों को समाप्त करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति करनी होगी और इस क्रान्ति के पश्चात् ही साम्यवादी समाज की स्थापना की जायेगी। साम्यवादियों की यह बात विवेकहीन है, क्योंकि दोष का नाश कभी भी दोष द्वारा नहीं किया जा सकता। एक अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति हिंसात्मक तरीके से नहीं की जानी चाहिए। हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या अशान्ति की जननी होती हैं। पूंजीवादी व्यवस्था को एक दम समाप्त करने देना कोई लाभप्रद स्थिति नहीं होती है। मजदूरों की स्थिति में सुधार तो अहिंसात्मक तरीके से भी किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.8.2.5 लोकतन्त्र की आलोचना सही नहीं- साम्यवादी लोकतन्त्र का व्यापक विरोध करते हुए यह कहते हैं कि इसकी स्थापना तो पूंजीवादियों के द्वारा अपने निहित विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिए की जाती है। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं, पूंजीपति ही शासन सत्ता पर प्रभुत्व रखते हैं, क्योंकि इनके पास बहुत अधिक धन होता है, जो मतदाताओं को खरीद कर विजय प्राप्त कर लेते है गरीब व्यक्ति लोकतंत्र के बारे में सोच ही नहीं सकता हैं, क्योंकि उसके पास खाने के लिए दो वक्त की रोटी नहीं हैं, वह चुनाव कहां से लड़ेगा। लेकिन साम्यवादियों का कहना सही नहीं है, क्योंकि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोकतन्त्र ही शासन की उपयुक्त प्रणाली हैं। यह एक ऐसी पद्धति है, जो समानता व स्वतन्त्रता पर आधारित है। इसमें गरीबों, मजदूरों तथा किसानों को अपनी उन्नति का पर्याप्त अवसर मिलता है। यह वर्ग बहुसंख्या में होता है। अत: वह शासन पर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है।

24.8.2.6 वर्ग संघर्ष की धारणा गलत- साम्यवादी मार्क्स के उस सिद्धान्त में आस्था रखते हैं कि समाज में हमेशा से ही दो वर्ग रहे हैं, जिनमें से एक शोषित अर्थात् श्रमिक वर्ग तथा दूसरा शोषक वर्ग अर्थात् पूंजीपति, जिनमें हमेशा से ही परस्पर संघर्ष चलता रहा है। दोनों ही वर्गों के पारस्परिक हित टकराते हैं। इस तरह वे वर्ग संघर्ष में आस्था रखते हैं, जो पूर्णतया गलत है। सामाजिक जीवन का आधार संघर्ष नहीं बल्कि एकता है। इससे समाज में पारस्परिक एकता की भावना को तिलाञ्जली दे दी जाती है। समाज की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि पारस्परिक भाई चारा बना रहे और समाज अपनी प्रगति तीव्र गति से करता रहे। वर्ग-संघर्ष, वर्तमान समय में अप्रासंगिक हो गया है।

24.8.2.7 मध्यम वर्ग का विरोध सही नहीं- साम्यवादी, मध्यम वर्ग का यह कहकर, विरोध करते हैं कि वह पूंजीपतियों का पक्षधर हैं तथा वे मजदूरी के साथ मात्र नेतागिरी करने के लिए रहते हैं, जो पूर्णतया सही नहीं हैं। क्योंकि समाज एक बहुत बड़ा भाग मध्यम वर्ग का होता हैं, जिनका सम्बन्ध भी श्रम से होता हैं। अत: मध्यम वर्ग का विरोध करना ही श्रम का विरोध करना हैं।

24.8.2.8 राज्य का विरोध गलत- साम्यवादियों का प्रमुख उद्देश्य राज्यविहीन समाज की स्थापना करना हैं। उनका इस सन्दर्भ में यह मानना है कि राज्य शोषण का एक साधन है। राज्य की आड़ में शासक व पूंजीपति दोनों ही श्रमिकों के साथ अन्याय तथा अत्याचार करते हैं, जो सही नहीं जा सकता है, क्योंकि इस बात का इतिहास गवाह है कि राज्य व्यक्ति के विकास में सहायक सिद्ध हुआ हैं। राज्य का निर्माण प्राचीन काल में मानव ने अपनी सुविधा के लिए किया था और वर्तमान् में राज्य का लोक कल्याणकारी स्वरूप हैं। राज्य ने मानव के विकास के लिए बहुत कुछ कार्य किये है। राज्य विहीन अवस्था अराजकता व अव्यवस्था की है। ऐसी स्थिति में, मानव का विकास भी संभव नहीं है।

24.8.2.9 व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोध सही नहीं- साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि वह राज्य को सर्वशक्तिमान बना देता हैं, जिसमें व्यक्ति को किसी भी प्रकार को कोई भी स्वतन्त्रता नहीं होती हैं। सरकार के द्वारा व्यक्ति के जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती हैं। इसमें जीवन, कला, विज्ञान, साहित्य इत्यादि को साम्यवादी ढाँचे में ढ़ालने का प्रयास किया जाता हैं। इस तरह साम्यवाद में उत्पादन, वितरण तथा वितरण के सारगत साधनों पर समाज का नियन्त्रण होता है तथा इसमें व्यक्ति की भागीदारी तो नाम मात्र की होती हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि साम्यवाद में व्यक्ति के हितों का पूर्णतया दमन किया जाता है जो अन्याय व अत्याचार से कम नहीं हैं और यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मार्ग में बाधक हैं।

24.8.1.10 सर्वहारा वर्ग के नाम पर तानाशाही- जैसा कि मार्क्स ने कहा कि जब साम्यवादी क्रान्ति होगी, तब उसके बाद समाज में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होगी, जिसके द्वारा पूंजीवादी तत्वों की समाप्ति की जायेगी। इसी दृष्टिकोण में साम्यवादी विश्वास रखते है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर एक साम्यवादी सरकार का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है जो राष्ट्र तथा समाज के विकास के लिए कभी भी सही सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के नाम पर तानाशाही की स्थापना की जाती है।

24.8.2.11 वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त अनैतिहासिक- साम्यवाद द्वारा मुख्य रूप से मान्य वर्ग संघर्ष की विचारधारा ऐतिहासिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती है। वे इसका ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यह सिद्धान्त यर्थाथ की अपेक्षा काल्पनिक अधिक हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्स ने जो अन्य घोषणा की है, वे भी सत्य सिद्ध नहीं हुई हैं। अत: इतिहास के प्रमाण साम्यवाद को झुठलाने हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

24.8.2.12 यह विचारधारा आर्थिक विचारधारा के चारों ओर घूमती हैं– मानव जीवन के अनेक पहलू होते हैं, उनमें से आर्थिक पहलू भी एक हैं। परन्तु साम्यवाद मात्र आर्थिक पहलू पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रहता है। अत: यह एक पक्षीय तथा अवैज्ञानिक हैं। यह मानव के सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों को भी आर्थिक परिप्रेक्ष्य से देखता है जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

24.8.2.13 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त असत्य हैं– साम्यवाद की गहन आलोचना इस आधार पर की जाती हैं कि प्रत्येक समाज का विकास केवल द्वन्द्वात्मक आधार पर ही हुआ हैं। यह कहना असत्य है। इतिहास को मात्र दो भागों में विभक्त करना अनुचित हैं। इसके कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होते है। यह निर्धारित करना भी असम्भव हैं कि किस समाज का वाद-प्रतिवाद, संवाद कहाँ प्रारम्भ हुआ व कहाँ समाप्त हुआ।

24.8.2.14 पूंजीवादी के विकास के साथ-साथ तथा अधिपति वर्ग के मध्य अन्तर अधिक नहीं होता– साम्यवादियों का कहना गलत है कि ज्यों-ज्यों पूंजीवाद का विकास होता है त्यों-त्यों समाज में गरीबों व अमीरों के बीच खाई अधिक गहरी होती जाती हैं। प्रत्येक पूंजीवादी समाज में श्रमिकों का दशा सुधारने का प्रयास किया जाता है। पूंजीवादी देशों में श्रमिकों का जीवन निरन्तर विकसित हुआ है। आज श्रमिकों को पूँजीवादी देशों में सभी सुविधाएं विद्यमान है।

24.8.2.15 वितरण व्यवस्था अव्यावहारिक हैं– साम्यवाद 'क्षमता' के अनुरूप कार्य तथा आवश्यकता के अनुसार 'ग्रहण' करने की प्रणाली को साम्यवादी समाज की समानता का आधार मानता है। इस सिद्धान्त को व्यवहार में तथा आलसी लागू करना बेहद कठिन है, क्योंकि इसमें व्यक्ति अपने आवश्यकता की पूर्ति की चिन्ता नहीं करता है और वह कामचोर हो जाता है।

24.8.2.16 राष्ट्रवाद का विरोध गलत– साम्यवाद, राष्ट्रवाद का विरोध करता है और उसका मानना है कि मजदूरी का कोई देश या राष्ट्र नहीं होता तथा उनके लिए किसी भी प्रकार की सीमा नहीं होती। उनका यह भी मानना हैं कि राज्य को समाप्त करके ही सम्पूर्ण विश्व में साम्यवाद की स्थापना की जा सकती हैं। इस आधार पर वे यह घोषित करते हैं कि ''सर्वहारा की कोई भूमि नहीं होती''। इसीलिए काल मार्क्स का कहना है कि ''दुनिया के मजदूरों एक हो जाओं'' लेकिन साम्यवाद की यह सब बातें गलत हैं। देश प्रेम तथा राष्ट्रवाद का भावना प्रगति और समृद्धि में सहायक होती हैं। 'स्टालिन' द्वारा एक देश में साम्यवाद की धारणा भी राष्ट्रवाद की सूचक थी। इसी आधार पर रूस व चीन शक्तिशाली देश के रूप में उभरे। अत: साम्यवाद का राष्ट्रवाद के विरूद्ध होना न तो व्यावहारिक है और न ही उपयुक्त है। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रवाद की भावना से अनुप्रेरित होकर ही कार्य करता है।

24.8.2.17 एक दलीय शासन– साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती हैं कि इसमें सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर साम्यवादी दल की प्रभुसत्ता स्थापित हो जाती हैं और अन्य किसी अन्य दल या संगठन का कोई स्थान नहीं होता। अत: जनता के पास साम्यवादी दल के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं होता, जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं। इस प्रकार हम साम्यवाद को लोकतन्त्र के विरोध के साथ-साथ अधिनायकवादी प्रवृत्ति का प्रतीक मान सकते हैं। एक दलीय व्यवस्था के कारण नेतृत्व के हाथों में समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं और वह तानाशाही से कम नहीं होता। जैसे कि सोवियत संघ के राष्ट्रपति मार्गल स्टालिन एक तानाशाह शासक थे।

24.8.2.18 साम्यवाद में युद्ध पर बल– साम्यवाद एक युद्धप्रिय विचारधारा हैं, क्योंकि साम्यवादियों द्वारा अपनी विचारधारा को विश्वव्यापी बनाने के लिए ही अनेक युद्ध किये गये हैं। साम्यवाद में अधिनायकवाद के कारण युद्ध की सम्भावनायें अधिक ही रहती हैं। चीनी साम्यवाद में तो यह बात विशेष तौर से देखी गयी हैं। साम्यवाद की यह युद्धप्रिय नीति मानव जाति के लिए भयावही सिद्ध हुई है। प्रो. केरयू हण्ट तो साम्यवाद को विश्व की सबसे बड़ी विध्वंसक-शक्ति कहते हैं।

24.8.2.19 साम्यवाद की भविष्यवाणी सही नहीं हुई– साम्यवाद की भविष्यवाणी के अनुरूप न तो पूंजीवादी देशों में साम्यवादी क्रान्ति हुई और न ही सर्वहारावर्ग की तानाशाही के बाद राज्य का स्वत: लोप हुआ। अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि आज भी पूंजीवादी हैं। जहाँ पर साम्यवाद की स्थापना हुई तो वहाँ पर भी एक दल की तानाशाही ही स्थापित हुई। वर्तमान में तो विश्व के प्राय: देशों में साम्यवाद का अन्त हो गया है। अब केवल साम्यवादी चीन, क्यूबा, उत्तरी कोरिया तथा वियतनाम में ही साम्यवाद का अस्तित्व रह गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

24.9 सारांश

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि कार्ल मार्क्स वैज्ञानिक साम्यवाद का प्रवर्तक है। उसने अपने विचारों के माध्यम से समाज के उस वर्ग के पक्ष में आवाज बुलन्द की, जो लम्बे अरसे से शोषण एवं अन्याय का शिकार हो रहा था। समाज में पूंजीपतियों के अत्याचार का बोलबाला था। ऐसी परिसिथतियों को दृष्टिगत रखते हुए मार्क्स ने अपने विचार प्रस्तुत किये। यद्यपि मार्क्स को अपने जीवन काल में अपनी विचारधारा को लागू करने का अवसर नहीं मिला लेकिन 20वीं सदी में उसके विचारों को प्रोत्साहन मिला और विश्व के राष्ट्रों ने साम्यवादी विचारधारा को स्वीकार किया।

24.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष की सिद्धान्त का मूल्यांकन कीजिए।
3. मार्क्स ने इहिास की आर्थिक व्याख्या किस प्रकार की है ?
4. साम्यवाद पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है ?
2. ''मनुष्य जाति का आज तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रा है।'' सिद्ध कीजिए।
3. पूंजीवाद का मुख्य विशेषताएँ बताओ।
4. अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
5. धर्म के संबंध में मार्क्स की क्या राय है ?
6. ''मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद का पोषक है।'' सिद्ध कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए– 1. आदिम साम्यवादी अवस्था 2. श्रमिक वर्ग की तानाशाही 3. साम्यवाद की आदर्श अवस्था 4. क्रान्ति

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मार्क्स से पहले साम्यवाद के विचार रखने वाले विचारक कौन हैं ?
2. मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवाद को स्वप्नलोकीय क्यों कहा जाता है ?
3. साम्यवाद की आदर्श-अवस्था क्या है ?
4. मार्क्स का जन्म कब, और कहाँ हुआ ?
5. मार्क्स की कोई तीन रचनाओं के नाम बताओ ?
6. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विचार मार्क्स ने किससे लिए है ?
7. वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के माध्यम से मार्क्स क्या सिद्ध करना चाहता है ?
8. आदिम साम्यताप की अवस्था क्या है ?
9. दास केपिटल का प्रकाशन कब हुआ ?

24.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. के. एन. वर्मा, ''पाश्चात्य राजनीतिक विचार धाराएं'', रस्तौगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
2. के. एन. वर्मा, ''राजदर्शन भाग 4 त्माक्स से वर्तमाता'', रस्तौगी, पब्लिकेशन्स, मेरठ
3. ओ.पी. गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा'', मयूर पेपर बेक्स, नौएडा
4. अनूप कपूर, ''राजनीतिक शास्त्र के मूल सिद्धान्त'', एस-चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई - 25
हैरल्ड जे. लास्की

संरचना

25.1 उद्देश्य

25.2 प्रस्तावना

25.3 लास्की के राज्य संबंधी विचार

25.3.1 राज्य संबंधी विचारों की विशेषताएँ

25.3.1.1 समाज की व्यवस्था बनाए रखना

25.3.1.2 राज्य का अन्य संस्थाओं की तुलना में उच्च स्तर

25.3.1.3 राज्य व समाज में बुनियादी अन्तर

25.3.1.4 राज्य साध्य नहीं, साधन,

25.3.1.5 राज्य, केवल समुदाय के रूप में

25.3.1.6 सम्प्रभुता के विकेन्द्रीकरण के पक्षधर

25.3.2 राज्य के कार्य

25.3.3 लास्की के अनुसार राज्य की आज्ञा के पालन की समस्या

25.4 सम्प्रभुता संबंधी विचार (बहुलवादी अवधारणा)

➢ पृष्ठभूमि

25.4.1 समाज का संघात्मक स्वरूप

25.4.1.1 व्यक्ति का महत्त्व

25.4.1.2 समुदायों का उद्देश्य मानव कल्याण

25.4.1.3 समाज का निर्माण विभिन्न समुदायों के मेल से

25.4.1.4 सभी समुदाय स्वतन्त्र

25.4.1.5 समाज के प्रत्येक समुदाय का महत्त्व

25.4.1.6 पृथक कार्यप्रणाली

25.4.1.7 व्यक्ति, अन्य समुदायों पर पहले निर्भर

25.4.1.8 राज्य, अन्य समुदायों के समान

25.5 अधिकार संबंधी विचार

➢ पृष्ठभूमि

25.5.1 अधिकारों का अर्थ

25.5.2 अधिकारों की विशेषताएँ

25.5.2.1 मनुष्य की न्यायोचित मांगें, अधिकार होती है

25.5.2.2 अधिकारों का सभी के लिए समान महत्त्व

25.5.2.3 अधिकारों की प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य आवश्यक

25.5.2.4 अधिकार कार्यों के साथ जुड़े हुए हैं

25.5.2.5 व्यक्ति, राज्य का विरोध कर सकता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

25.5.3 अधिकार और राज्य
25.5.4 अधिकारों के प्रकार
25.5.4.1 काम करने का अधिकार
25.5.4.2 परिश्रम का समुचित वेतन पाने का अधिकार
25.5.4.3 काम के उचित घण्टे निश्चित् करने का अधिकार
25.5.4.4 शिक्षा का अधिकार
25.5.4.5 राजनीतिक शक्ति प्रदान करने का अधिकार
25.5.4.6 सम्पत्ति का अधिकार
25.5.4.7 भाषण, सभा-सम्मेलन एवं समुदाय निर्माण का अधिकार
25.5.4.8 न्यायिक सुरक्षा का अधिकार
25.6 सारांश
25.7 अभ्यास प्रश्नावली
25.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

25.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य 20वीं शताब्दी के महान् राजनीतिक चिन्तक हैरल्ड जे. लास्की के विचारों को जानना है —

- लास्की के विचारों में उदारवाद तथा मार्क्सवाद का मिश्रण देखने को मिलेगा,
- राज्य की अपेक्षा समाज व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण होता है,
- मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न समुदायों के साथ जुड़ा होता है, उनमें से राज्य भी एक समुदाय है,
- लास्की के इस विचार से भी परिचित होंगे, जिसमें वह सम्प्रभुता का विरोध कर बहुलवाद का समर्थन करता है,
- व्यक्ति के अधिकार तथा स्वतन्त्रताओं पर विशेष बल दिया गया है,
- अधिकारों को लास्की मानव के सर्वांगीण विकास के साथ जोड़ता है,
- अधिकारों के विचारों के माध्यम से लास्की ने लोकतांत्रिक विचारधारा को प्रभावी बनाने का प्रयास किया है, उसको भी जान सकेंगे।

25.2 प्रस्तावना

हेरल्ड जे. लास्की को 20वीं शताब्दी का एक महान् राजनीतिक चिन्तक माना जाता है। उन्होंने वैद्यानिक प्रभुत्ता के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए बहुलवादी विचारों का प्रतिपादन कर राज्य की निरंकुशता पर अंकुश लगाने का कार्य किया । वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के महानतम प्रणेता के रूप में जाने गये। उनके विचारों में उदारवाद एवं मार्क्सवाद का अनुठा मिश्रण पाया जाता है। उनकी पुस्तक 'ग्रामर ऑफ पालिटिक्स' को राजनीति शास्त्र की अनुपम कृति के रूप में स्वीकार किया जाता है।

25.3 लास्की के राज्य संबंधी विचार

लास्की के मतानुसार किसी भी समाज व्यवस्था में राज्य सर्वोच्च बल प्रयोग करने वाली शक्ति है। आधुनिक काल में राज्य अपनी इस शक्ति का प्रयोग उन लोगों के हितों की पूर्ति के लिए करता है जिनके हाथों में उत्पादन के साधन है। इस तरह राज्य एक वर्गीय संस्था है जो पूंजीपतियों का हित साधने का प्रयास करती है तथा श्रमिकों को शोषण सहन करने के लिए विवश करती रहती है। राज्य, समय-समय पर ऐसे कानून बनाकर श्रमिकों को कुचलने का प्रयास करता है।

इसी प्रकार लास्की राज्य को सर्वोच्च शक्ति का ये कहकर विरोध करते हैं कि इसका उचित विभाजन किया जाना चाहिए। उनका तर्क है कि मानव जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक समुदाय पाये जाते हैं। इन सभी समुदायों का अपना एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेष महत्त्व है। इनमें से कोई भी कम नहीं है। अत: समुदाय अर्थात् राज्य को इतना विशेष स्थान क्यों दिया जा रहा है ?इस तरह राज्य की सर्वोच्च शक्ति सम्प्रभुता के स्थान लास्की बहुलवाद का समर्थन करता है।

25.3.1 राज्य संबंधी विचारों की प्रमुख विशेषताएँ

लॉस्की के राज्य सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने पर इनकी निम्नलिखित विशेषताऐं सामने आती हैं –

25.3.1.1 समाज की व्यवस्था बनाएं रखना :- लास्की का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और उसके व्यक्तित्व के विकास की भौतिक एवं नैतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। राज्य के हाथों में सम्प्रभुता की शक्ति होती है, जिसके माध्यम से वह समाज में व्यक्तियों एवं अन्य समुदायों पर नियन्त्रण स्थापित करती है। राज्य को परिभाषित करते हुए लास्की ने लिखा है कि ''निश्चित भू-प्रदेश में सीमित शासक और शासितों के बीच बंटा हुआ समाज ही राज्य है जो अपनी सीमा के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं का संचालन सम्प्रभुता की शक्ति आधार पर करता है।''

25.3.1.2 राज्य का अन्य संस्थाओं की तुलना में उच्च स्तर :- लास्की के अनुसार मानव की अनेक आवश्यकताएँ जैसे- भूख, प्यास, काम, आवास और वस्तुओं की आवश्यकता होती हैं और इनकी पूर्ति के लिए अनेक संस्थाएं है। राज्य इन्हीं संस्थाओं में से एक है। हो सकता है राज्य अन्य संस्थाओं से थोड़ा भिन्न हो, क्योंकि राज्य व्यापक स्तर पर सामाजिक हितों की पूर्ति करता है। लास्की का यह भी तर्क है कि राज्य के व्यापक उद्देश्य होने के बावजूद जीवन के कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं, जिनमें राज्य का प्रवेश वर्जित है।

25.3.1.3 राज्य व समाज में बुनियादी अन्तर :- लास्की का मानना है कि राज्य के कार्यों का सच्चा अर्थ है, सरकार के कार्य और सरकार का वास्तविक अर्थ है- वे थोड़े से विधायक जिनके हाथों में कानून निर्माण की अन्तिम शक्ति होती है। इस तरह राज्य के शासक समाज के ट्रस्टी है जिनका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं का चयन करके उन्हें साकार रूप प्रदान करना होता है।

25.3.1.4 राज्य साध्य नहीं, साधन :- लास्की के शब्दों में ''राज्य स्वयं में साध्य नहीं है अपितु किसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है और वह उद्देश्य है मानव जीवन की समृद्धि। इस तरह व्यक्ति राज्य के लिए नहीं बना अपितु राज्य व्यक्ति के लिए बना है।''

25.3.1.5 राज्य केवल समुदाय के रूप में :- लास्की का मत है कि मानव जीवन के विभिन्न पहलू एवं आयाम होते हैं जिनकी पूर्ति हेतु वह अनेक समुदायों का निर्माण करता है जैसे-

आर्थिक आयाम = व्यापार एवं मजदूर संघ
राजनीतिक आयाम = राज्य
धार्मिक आयाम = चर्च
सांस्कृतिक आयाम = सांस्कृतिक समुदाय

इन सभी समुदायों की भांति भी राज्य भी एक समुदाय है। राज्य तथा इन समुदायों के बीच मुख्य अन्तर केवल यही है कि राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है जबकि अन्य की ऐच्छिक होती है। अपने क्षेत्र में अन्य समुदाय राज्य की तुलना में किसी भी स्तर पर कम नहीं होते है।

25.3.1.6 सम्प्रभुता के विकेन्द्रीकरण के पक्षधर :- लास्की यह भी कहते है कि राज्य की सम्प्रभुता का एक ही स्थान केन्द्रीकरण न होकर सब क्षेत्रीय एवं प्रशासनिक स्तरों पर विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। अन्य समुदाय से राज्य के दायित्व का क्षेत्राधिकार इसलिए व्यापक है कि वह अन्य समुदायों के बीच तालमेल एवं समन्वय बनाये रखने का कार्य करता है।

25.3.2 राज्य के कार्य

राज्य के कार्यों के संबंध में लास्की के विचार उदारवाद एवं प्रजातांत्रिक विचारधारा पर आधारित है। वह सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थक है। वह भाषण और विचारों की स्वतन्त्रता पर बल देताहै, वह राज्य को अच्छा या बुरा उसके कार्य के अनुसार मानता है। उसके अनुसार राज्य मानव के हितों का पोषण करने वाली संस्था है। वह राज्य को सामान्य कार्य सौपने के पक्ष में है। उसके अनुसार राज्य का कार्य व्यक्तिगत हितों से नहीं है बल्कि सामाजिक हितों से हैं। सामाजिक हित के लिए औद्योगिक शक्ति पर नियन्त्रण आवश्यक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लास्की के अनुसार राज्य विभिन्न वर्गों के हितों की रक्षा करने वाली संस्था है जो सार्वजनिक कल्याण के काम करती है। वह यह भी मानता है कि राज्य के स्वरूप एवं कार्यों में बहुत परिवर्तन आ गया है। आज राज्य एक लोककल्याणकारी राज्य के रूप में उभरकर हमारे सामने आया जिसमें राज्य तत्परता के साथ जनता के कष्टों का निवारण करता है। ये परिवर्तन व्यस्क मताधिकार, ज्ञान की प्रगति, उत्पादन में वृद्धि और सामाजिक अन्तरात्मा के विकास से हुए है। राज्य अमीरों पर कर लगाता है और गरीबों की भलाई के काम करता है। राज्य ने सामाजिक हितों की पूर्ति के लिए रेल, बैंक, रेडियो जैसी व्यापारिक संस्थाएं अपने हाथें में ले ली है। यह कल कारखानों में शोषण को रोक रहा है और मुनाफाखोरी पर अंकुश लगा रहा है। इस प्रकार राज्य की सीमा से परे कोई भी कार्य नहीं है। इस तरह से लास्की ने राज्य के बहुमुखी कार्यों का प्रतिपादन किया है।

25.3.3 लास्की के अनुसार राज्य की आज्ञा के पालन की समस्या

राजनीतिक चिन्तन की यह एक बुनियादी समस्या है कि नागरिकों को राज्य के आदशों का पालन क्यों और किस सीमा तक करना चाहिए। लास्की ने इस समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया है। वह व्यक्तियों पर राज्य की सर्वोच्च प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में आस्था नहीं रखता है। अत: उसके मतानुसार राज्य को अपने नागरिकों से पूर्ण राजभक्ति और निष्ठा प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।

लास्की के अनुसार राज्य की आज्ञाओं का पालन करने का दायित्व इस शर्त पर निर्भर करता है कि राज्य अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में कितना समर्थ होता है। हर नागरिक राज्य की उपलब्धियों का आंकलन कर सकता है। लास्की न्यूमैन के इस सूत्र से प्रभावित था कि, ''मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे वह नैतिकता की दृष्टि से ठीक समाझता है।'' इस तरह व्यक्ति राज्य के आदेश का पालन इस आधार पर करता है वह उसके लिए हितकर है। व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का पालन तभी ही करना चाहिए, जब वह नैतिक दृष्टि से समझता हो।

लास्की ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि क्या अपने लक्ष्यों से भटकने वाले राज्य के विरूद्ध विद्रोह किया जा सकता है ?इस बारे में उनका कहना है कि ''यदि मुझे यह विश्वास हो जाता है कि राज्य की शक्ति का प्रयोग उसकी प्रकृति अनुकूल उद्देश्यों के लिए न की जाकर उससे प्रतिकूल उद्देश्यों के लिए की जा रही है। इस धारणा का परिणाम प्रतिरोध का कर्त्तव्य है।'' लेकिन साथ में लास्की प्रतिरोध के संबंध में कुछ सावधानियां भी बताते हैं।

25.4 सम्प्रभुता संबंधी विचार (बहुलवादी अवधारणा)

लास्की की गणना उन राजनीतिक चिन्तकों में की जाती है जिन्होंने सम्प्रभुता के एकलवादी सिद्धान्त का खण्डन किया। उन्होंने अपने ये विचार 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' 'दी फाउण्डेशंस ऑफ सॉवरेन्टी' 'दी स्टेट इन थ्योरी एण्ड प्रेटिक्स' में किया है।

लास्की ने आस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता सिद्धान्त को हर दृष्टि से अमान्य सिद्ध किया है। उसका तर्क है कि सम्प्रभुता अर्थात् सर्वोच्च शक्ति के नाम पर राज्य निरंकुश एवं अनुत्तरदायी बन जाता है, जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। लास्की का मत है कि मनुष्य जीवन के विभिन्न आयाम एवं पहलू होते है उनकी सिद्धि या पूर्ति के लिए वह विभिन्न समूहों एवं संघों का निर्माण करता है और प्रत्येक संघ या समुदाय का अपना एक विशेष महत्त्व है जिसे किसी भी प्रकार से कम या महत्त्वहीन नहीं माना जा सकता। प्रत्येक समुदाय का संबंध मानव के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। अन्य समुदायों की भांति राज्य ही एक समुदाय है जो किसी भी रूप में अन्य समुदायों की तुलना में उच्च या सर्वोच्च नहीं है। इस तरह से लास्की को बहुलवाद के प्रणेता के रुप में स्वीकार किया जाता है।

25.4.1 समाज का संघात्मक स्वरूप

लास्की अपने प्रारम्भिक ग्रन्थ 'स्टेडीज इन दी प्राबल्मस ऑफ सॉवरेन्टी' 'Studies in the Problems oh Sovereignty' में समाज और राज्य की रचना का अध्ययन करते हुए पूछते है कहां तक और किस प्रकार हमारा समाज अद्वेत है ?कहां तक हमारे सम्पूर्ण हित निहित है, उसका हित कहां तक अद्वैतवादी है जो अपने निर्माणकारी अंगों के हितों से परे जाता है। यह एक मूल प्रश्न है। राज्य को अद्वैतवादी सिद्ध करने के लिए वृत्तों का वृत कहा जाता है और जैसे-

व्यक्ति-परिवार-गांव-नगर-देश=राज्य

इस प्रकार जब समाहित हो जाते हैं तब राज्य उभरकर हमारे सामने आता है। इस प्रकार राज्य को केन्द्रीकृत व्यक्ति का रूप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दिया जाता है। यदि हम राज्य के अन्य समुदायों की रचना का विश्लेषण करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि सामुदायिक जीवन व्यतीत करने वाला प्रत्येक समूह इसी प्रकार से अपने अलग व्यक्तित्व का निर्माण कर लेता है जो अन्य निर्माणकारी तत्त्वों से भिन्न होता है। यह सही है कि मनुष्य विभिन्न समुदायों का निर्माण अपने हितों के अनुसार ही करता है। जैसे–

हित	समूह या संघ
राजनीतिक	राज्य
सामाजिक	समाज
आर्थिक	व्यापारिक संघ, मजदूर यूनियन
धार्मिक	चर्च एवं अन्य धार्मिक स्थान
सांस्कृतिक	सांस्कृतिक संघ

इन सभी समुदायों की अपनी अलग कार्यप्रणाली होती है। सभी एक दूसरे से पृथक एवं स्वतन्त्र होते हैं। कोई भी न तो एक–दूसरे के आधिपत्य को स्वीकार करता है और वही एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करता है। वे राज्य के साथ संबोधित हो सकते हैं, लेकिन राज्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। राज्य इस प्रकार एक विकेन्द्रीकृत सत्ता है न कि एक केन्द्रीकृत सत्ता। प्रत्येक समुदाय की अपनी एक प्रकृति होती है। और उसका मूल्याकन एक पृथक समुदाय के रूप में किया जाता है। राज्य के मूल्यांकन से न तो उनका मूल्याकन होता है और न ही उनके मूल्यांकन से राज्य का मूल्यांकन होता है। राज्य भी अन्य समुदायों की भांति एक समुदाय है। अत: उसके प्रति सभी की अधीनता का प्रश्न ही नहीं उठता है। समाजों का इतिहास इस बात को सबसे अधिक अमान्य करता है कि आपात स्थितियों में केवल राज्य के पास ही बाध्यता की शक्ति रही है।

25.4.1.1 व्यक्ति का महत्त्व :– राज्य विभिन्न समुदायों में किसी का भी काम बिना व्यक्तियों के नहीं कर सकता। अत: जब तक व्यक्तियों का सहयोग प्रत्येक स्तर पर नहीं मिलेगा तब तक कोई भी राज्य या समुदाय अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता है।

25.4.1.2 समुदायों का उद्देश्य मानव कल्याण :– अगर राज्य किसी विशिष्ट उद्देश्य के कारण अस्तित्व में होता है तो समुदायों का भी अपना–अपना उद्देश्य होता है और वे उनको पूरा करने के लिए ही अस्तित्व पूर्ण है। इन सभी समुदायों और राज्य का उद्देश्य है मानव सुख की वृद्धि और जीवन की समृद्धि। व्यक्ति या समुदाय की अधीनता स्वीकार करता है तो उतने ही अनुपात में जितने अनुपात में वे उसके ही अनुपात में जितने अनुपात में वे उसके जीवन की समुन्नत करते हैं।

25.4.1.3 समाज का निर्माण विभिन्न समुदायों के मेल से :– समाज का निर्माण विभिन्न समुदायों के मेल से होता है। विभिन्न समुदायों का निर्माण व्यक्ति की तीन प्रवृत्तियों के कारण होता है– साथ में रहने की प्रवृत्ति, संगठित होने की प्रवृत्ति, प्रेम व सहानुभूति की प्रवृत्ति। इन विभिन्न प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के समुदायों का निर्माण होता है और वे एक दूसरे के विरोधी भी होते हैं क्योंकि सभी मनुष्यों की प्रवृत्तियां एक समान नहीं होती है।

25.4.1.4 सभी समुदाय स्वतन्त्र :– लास्की का मत है कि सभी समुदाय अपने–अपने कार्य सम्पादित करते है। समाज में एकता स्थापित करने के लिए विभिन्न प्रकार के हितों को कायम रखना आवश्यक है और यह विभिन्न प्रकार के समुदायों के सहयोग से भी सम्भव है। विश्व एक साम्राज्य या राज्य की अपेक्षा एक संघात्मक गणतंत्र की तरह है। विभिन्न हित, समाज में तभी कायम रखे जा सकते हैं जबकि सत्ता विभिन्न समूहों में विकेन्द्रित रहे क्योंकि समाज की प्रवृत्ति संघात्मक है।

25.4.1.5 समाज के प्रत्येक समुदाय का महत्त्व :– विभिन्न प्रकार के समुदाय समाज को उसके उद्देश्य को पूरा करने में सहयोग देते हैं और अपने सहयोग के अनुपात में स्वायत्तता का दावा करते हैं। शक्ति के द्वारा उनके बीच एकत्व पैदा नहीं किया जा सकता हैं। अगर ऐसा किया भी जाये तो वह स्थायी नहीं होता है।

25.4.1.6 पृथक कार्य–प्रणाली :– समाज में पाये जाने वाले प्रत्येक समुदाय की कार्य–प्रणाली पृथक होती है। इस आधार पर कोई भी एक–दूसरे से सर्वोच्च होने का दावा नहीं कर सकता। अत: इस कारण राज्य भी अन्य समुदायों की तुलना में न तो सर्वोच्च है और न ही प्रतिनिधित्व करने वाला है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

25.4.1.7 व्यक्ति अन्य समुदायों पर पहले निर्भर :- लास्की अपने बहुलवादी संबंधी विचारों में इस बात का भी खण्डन करता है कि व्यक्ति को केवल राज्य के प्रति निर्भर रहना चाहिए और उसी के प्रति समर्पण, भक्ति एवं त्याग के भाव रखे जाए। उसका तर्क है कि व्यक्ति के लिए अन्य समुदाय किसी भी रूप में कम नहीं है। इस कारण व्यक्ति पहले अन्य समुदायों पर निर्भर है और उसके पश्चात् राज्य पर निर्भर है।

25.4.1.8 राज्य अन्य समुदायों के समान :- लास्की अपनी कृति 'ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में लिखता है कि ''राज्य व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य मानव जीवन की समृद्धि है। यह अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है जेसे चर्च, ट्रेड यूनियन और अन्य।''

25.5 अधिकार संबंधी विचार

लास्की ने अपनी अधिकारों सम्बन्धी अवधारणा में उदारवाद तथा व्यक्तिवादी सिद्धान्त को एक नवीन मोड़ देने का प्रयत्न किया है। अधिकारों की अपनी व्याख्या में लास्की ने मुख्य रूप से उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, किन्तु उसके विचार समाजवादी विचारधारा से भी बहुत हद तक प्रभावित है। लास्की एक उदारवादी विचारक था। मगर उसकी रचनाओं में मार्क्सवाद का भी प्रभाव देख सकते हैं। उसकी कृति 'ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में अधिकारों के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की है। लास्की ने नकारात्मक अधिकारों के साथ-साथ सकारात्मक अधिकारों पर भी बल दिया है।

25.5.1 अधिकारों का अर्थ

लास्की अधिकारों के बारे में उदारवादियों द्वारा प्रतिपादित अधिकारों के प्राकृतिक व ऐतिहासिक सिद्धान्तों केा अस्वीकृत कर देते हैं। वे लिखते है ''अधिकार, सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां है जिनके अभाव में सामान्य को भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता।'' दूसरे शब्दों में, अधिकार मानव के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता दशाऐं है।

25.5.2 अधिकारों की विशेषताएँ

लास्की के अनुसार अधिकारों की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

25.5.2.1 मनुष्य की न्यायोचित मांगें अधिकार होती है :- स्वीकार लास्की के अनुसार अधिकार व्यक्ति की मांगें हैं जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता दी जानी चाहिए। सामान्यत: जो सभी मांगें राज्य द्वारा स्वीकार कर ली जाती है, अधिकार बन जाती है, किन्तु समाज की उचित मांगें को ही राज्य की स्वीकृति प्राप्त होती है, अत: मनुष्य की न्यायोचित मांगें ही अधिकार मानी जाती है।

25.5.2.2 अधिकारों का सभी के लिए समान महत्त्व :- लास्की के अनुसार अधिकार सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। मत देने, चुनाव में खड़े होने व सार्वजनिक पद प्राप्त करने का महत्त्व अमीर व गरीब दोनों के लिए समान है। भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल अमीर वर्ग को देना अनुचित है क्योंकि व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सामान्य व्यक्ति के लिए भी उतना ही आवश्यक है।

25.5.2.3 अधिकारों की प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य का महत्त्व :- लास्की केवल अधिकारों पर ही बल नहीं देते हैं। वे अधिकारो को कर्त्तव्य के साथ जोड़ कर देखते हैं। वे व्यक्ति को तभी अधिकार देते है जब व्यक्ति सामाजिक हित के कार्य करते हैं। अत: जो व्यक्ति कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता, उसे अधिकार नहीं मिलने चाहिए।

25.5.2.4 अधिकार, कार्यों के साथ जुड़े हुए हैं :- लास्की समाजवादी विचारधारा का समर्थक है इसलिए अधिकारों को कार्यों के साथ जोड़ता जै। यदि कोई व्यक्ति कार्य नहीं करता है तो उसके अधिकार भी नहीं हो सकते अर्थात् जो काम नहीं करेगा उसे रोटी का अधिकार नहीं होगा। अधिकार हवा में नहीं मिलते, उनकी कीमत है और वह है व्यक्ति का अपने समाज में योगदान। व्यक्ति के सार्थक योगदान पर ही अधिकार निर्भर करते हैं।

25.5.2.5 व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है :- लास्की के अनुसार यदि राज्य जन-इच्छाओं और आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता है तो व्यक्ति को यह अधिकारहै कि वे ऐसे राज्य का विरोध करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

25.5.3 अधिकार और राज्य

लास्की के अनुसार ''राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता बल्कि मान्यता प्रदान करता है।'' वे अधिकारों को राज्य से भी सर्वोच्च मानता है। राज्य को वे सारे अधिकार प्रदान करने चाहिए जो व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होते है तथा उन स्थितियों को समाप्त किया जाना चाहिए। जो उसके विकास में बाधक है। इस प्रकार अधिकारों का संबंध व्यक्ति के चहुंमुखी विकास के साथ जुड़ा हुआ है। लास्की का मत है कि राज्य सामाजिक हितों का संरक्षक होता है इसलिए अधिकारों पर प्रतिबंध लगाने का सीमित अधिकार अधिकार होता है। इस तरह लास्की ने व्यक्ति के अधिकार और राज्य की सत्ता के बीच तालमेल स्थापित करने का प्रयास किया है। इस तरह राज्य ही अधिकारों की मांग को स्वीकार करता है और राज्य ही व्यक्ति के अनुचित कार्यों पर अंकुश लगाकर उसे अराजकता से मुक्ति दिलाता है और ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिसमें सभी व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के अपने अधिकारों का उपयोग कर सके। इस तरह लास्की राज्य को दोहरी भूमिका का प्रतिपादन करता है।

25.5.4 अधिकारों के प्रकार

लास्की ने व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास हेतु निम्नलिखित अधिकारों को आवश्यक माना है–

25.5.4.1 काम करने का अधिकार :– व्यक्ति को अपनी जीविकार्पाजन के लिए काम का अधिकार मिलना चाहिए। एक बेकार आदमी के लिए जिन्दगी का कोई अर्थ नहीं है।

25.5.4.2 परिश्रम का, समुचित वेतन पाने का अधिकार :– लास्की का तर्क हैं कि व्यक्ति को काम के साथ–साथ उसके परिश्रम का समुचित वेतन पाने का अधिकार है। एक व्यक्ति को इतना वेतन मिले की उसकी आवश्यकता पूरी हो जाए। लास्की के अनुसार समुचित वेतन का अर्थ आय की समानता से नहीं है। इसका अर्थ है कि लोगों की आवश्यकता पूरी करने के बाद ही किसी को अधिक दिया जा सकता है।

25.5.4.3 काम के उचित घण्टे निश्चित करने का अधिकार :– लोगों को केवल काम पाने का ही अधिकार नहीं है बल्कि विश्राम का भी अधिकार है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कार्य करने के घण्टे निश्चित हो। ये अधिकार नागरिकों के बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक है।

25.5.4.4 शिक्षा का अधिकार :– लास्की के अनुसार प्रत्येक नागरिक के लिए ऐसी शिक्षा होनी चाहिए जिसमें वह अपने अधिकारों एवं दायित्वों के बारे में जान सके। शिक्षा के बिना व्यक्ति दास के समान है। शिक्षा का अधिकार बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक है।

25.5.4.5 राजनीतिक शक्ति प्रदान करने का अधिकार :– प्रजातंत्र प्रजा का शासन होता है। जिसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में ही निहित होती है। अत: जनता को शासन तक पहुंचने के लिए राजनीतिक शक्ति प्रदान की जानी चाहिए। इसमें वोट देने, चुनाव प्रक्रिया में भाग लेने, चुनाव लड़ने, राजनीतिक दल बनाने, शासन की आलोचना करने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने इत्यादि शामिल है। ये अधिकार लोकतंत्र के लिए बहुत आवश्यक है। इसके बिना लोकतंत्र की व्यवहारिक रूप नहीं दिया जा सकता।

25.5.4.6 सम्पत्ति का अधिकार :– लास्की ने सम्पत्ति के सीमित अधिकार का समर्थन किया है। उसका मत है कि यह अधिकार तब तक उचित है जब तक व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक दायित्वों को पूरा करने में सहायक है। ये अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाए जो सामाजिक दायित्व निभाते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार सामान्य कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है।

25.5.4.7 भाषण, सभा–सम्मेलन तथा समुदाय निर्माण का अधिकार :– भाषण की स्वतन्त्रता इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जब तक एक व्यक्ति को अपने विचारों को अभिव्यक्ति करने का अधिकार नहीं मिलेगा तब तक वह न तो अपनी आन्तरिक शक्ति का विकास कर सकता है और न ही नागरिक दायित्वों को पूरा कर सकता है। लोकतंत्र में इन स्वतन्त्रताओं का बहुत मूल्य है क्योंकि लोकतन्त्रीय शासन इसके बिना नहीं चल सकता है।

लास्की के शब्दों में, ''सरकार अपने समर्थकों की प्रशंसा को अपेक्षा अपने विरोधियों की आलोचना से ज्यादा सीख सकती है।''

25.5.4.8 न्यायिक सुरक्षाओं का अधिकार :– न्यायिक सुरक्षाओं से लास्की का यह तात्पर्य है कि देश में कानून का शासन विद्यमान है। राज्य बिना किसी भेदभाव के समान रूप से न्याय, उपलब्ध करवाये यदि किसी नागरिक के अधिकारों का हनन होता है तो वह न्यायालय की शरण ले सकता है और न्यायालय का यह दायित्व बनता है कि उसे समुचित सुरक्षा उपलब्ध करवाये। सारांश में,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लास्की ने निरंकुश राज्य की अवधारणा का खण्डन करके तथा अधिकारों की व्यापक अवधारणा प्रस्तुत करके अपने को लोकतन्त्र के महान् प्रतिपादक के रुप में प्रतिष्ठित किया है।

25.6 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लास्की ने राज्य की सर्वोच्चता काखण्डन कर उसको अन्य समुदाय के समान माना है। परन्तु वह यह भी कहता है कि राज्य की कुछ विशेष भूमिका अवश्य होती है। लास्की के विचारों में उदारवाद तथा मार्क्सवाद का मिश्रण देखने को मिलता है, जो आधुनिक राजनीतिक विचारधारा को नवीन आयाम प्रदान करने वाला है।

25.7 अभ्यास अभ्यास अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लास्की के राज्य संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. ''लास्की बहुलवाद के प्रवर्तक थे'' सिद्ध कीजिए।
3. ''अधिकारों की प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य आवश्यक है।'' इस कथन के आधार पर लास्की के अधिकार संबंधी विचारों का उल्लेख कीजिए।
4. लास्की द्वारा प्रस्तुत अधिकारों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ''राज्य केवल समुदायों के रूप में है।'' स्पष्ट कीजिए।
2. लास्की के अनुसार राज्य के कार्य बताओ।
3. राज्य की आज्ञापालन में किस प्रकार की समस्याएँ आती है ?
4. लास्की द्वारा प्रस्तुत अधिकारों की विशेषताएं बताओ। (कोई तीन)
5. अधिकार और राज्य में किस प्रकार का संबंध है ?
6. लास्की लोकतंत्र के अनुरूप कौन से अधिकारों का उल्लेख करता है ?
7. ''अधिकारों का संबंध व्यक्ति के चहुमुखी विकास से है'' सिद्ध कीजिए।

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. लास्की की प्रमुख रचना का नाम बताओ।
2. बहुलवाद क्या है ?
3. लास्की ने राज्य को किसी रूप में माना है ?
4. लास्की की विचारों में कौनसी विचारधारा का मिश्रण है ?
5. लास्की किस आधार पर राज्य विरोध का अधिकार देता है ?
6. लास्की ने समाज के किस स्वरूप को स्वीकारा है ?

25.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओ.पी. गाबा, ''राजनीतिक चिन्तन की रूप रेखा।'' मयूर पेपर बेक्स, नौएडा
2. लास्की, ''ग्रामर ऑफ पालिटिक्स''
3. के.एन.वर्मा, ''पाश्चात्या राजनीतिक विचावरक'', रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ
4. बी.एल. फाड़िया, ''पाश्चात्या राजनीतिक चिन्तन का इतिहास'', साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (तृतीय वर्ष)

विषय : राजनीति शास्त्र

प्रथम पत्र : पाश्चात्य प्रतिनिधि विचारक

संवर्ग

संवर्ग-1 प्लेटो एवं अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन

संवर्ग-2 रोमन राजनीतिक चिन्तन, सिसरो, सन्त ऑगस्टीन, सन्त टॉमस एक्वीनास, मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन की विसेषताएँ।

संवर्ग-3 मैकियावेली, प्रथम आधुनिक विचारक।
हॉब्स, लॉक तथा रूसो के राजनीतिक विचार।

संवर्ग-4 उपयोगितावाद
जर्मी बैंथम – उपयोगितावाद, राजनीतिक विचार
जान स्टुअर्ठ मिल – उपयोगितावाद स्वतन्त्रता का सिद्धान्त प्रतिनिधि शासन

संवर्ग-5 हीगल – द्वन्द्ववाद, राज्य सिद्धान्त
टी.एच. ग्रीन – स्वतन्त्रता, अधिकार एवं राज्य सम्बन्धी विचार
कार्ल मार्क्स – द्वन्द्ववाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, वर्ग संघर्ष, क्रान्ति, साम्यवाद
हैरल्ड जे. लास्की – राज्य, सम्प्रभुता, अधिकार सम्बन्धी विचार।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. पी.सी. भाटी**
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
2. **प्रो. रमेश दाधीच**
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
3. **प्रो. बेला भणोत**
   बीकानेर
4. **डॉ. धर्मचंद जैन**
   भीलवाड़ा
5. **डॉ. जुगल दाधीच**
   लाडनूँ

लेखक

डॉ. मुख्त्यार अली

संपादक

प्रो. धर्मचन्द जैन

कापीराइट

जैन विश्वभारती सस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 800

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विषय - सूची

क्र. सं.	इकाई	पृष्ठ-संख्या
1.	प्लेटो का न्याय सिद्धान्त	01—13
2.	प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त	14—22
3.	सम्पत्ति तथा पत्नियों का साम्यवाद	23—30
4.	दार्शनिक राजा का सिद्धान्त	31—37
5.	प्लेटो के आदर्श राज्य की रूपरेखा	38—41
6.	अरस्तू की अध्ययन पद्धति	42—46
7.	अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक	47—51
8.	अरस्तू का राज्य सिद्धान्त	52—55
9.	अरस्तू का दासता सिद्धान्त	56—59
10.	संविधानों का वर्गीकरण एवं श्रेष्ठ संविधान	60—62
11.	अरस्तू द्वारा प्रस्तुत क्रान्तियाँ कारण एवं उन्हें रोकने के उपाय	63—72
12.	अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना	73—76
13.	सिसरो (106 ई. पू. से 43 ई. पू.)	77—83
14.	सन्त आगस्टाइन	84—89
15.	सन्त टॉमस एक्वीनास	90—94
16.	मैकियावेली प्रथम आधुनिक विचारक	95—101
17.	थॉमस हॉब्स	102—113
18.	जॉन लॉक	114—125
19.	जीन जैक्स रूसो	126—135
20.	जर्मी बैंथम (1748 - 1832)	136—144
21.	जॉन स्टु अर्ट मिल	145—159
22.	जॉर्ज विल्हैल्म फ्रेडिक हीगल	160—166
23.	टी. एच. ग्रीन (1836-82)	167—175
24.	कार्ल मार्क्स	176—191
25.	हेरल्ड जे. लास्की	192—199

::::::::::

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun